

अशुद्धिशोधनपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	११	चित्रा	चित्रा
"	१३	नीराक्ष	नीराक्ष
२	५	मुक्त	मुक्त
३	५	मुन्ही	मुन्ही
"	१४	दृष्ट	दृष्ट
४	११	भय	भय
५	३	कविता कामिनी	कविताकामिनी
"	"	विद	विदः
८	१०	नया	नया
११	६	नाथ	नाथ
१८	३	मुधुन	मुधुन
"	१०	गहद मे	गहद मे
२१	३	सुष्टा	सुष्टा
२२	७	विषय	विषय
"	७	नय	नय
२३	७	नयचित्	नयचित्
२६	३	हेवा की	हेवाकी
"	७	भय	भय
२८	१३	दृष्ट	दृष्ट
३०	८	सुष्ट	सुष्ट
३१	५	नय	नय
"	७	नय	नय
"	८	विषय	विषय
"	१२	नय	नय
"	२१	नय	नय
३२	७	नय	नय
३५	१	नय	नय

पुठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६	११	चिरया प	चिरयाप
३८	२	साधनं	साधनाय
"	१५	कर्मो	कर्मो मे
४०	२	सूयं	सूरि
४३	६	ब्रह्म	ब्रह्म
"	२१	ब्रह्मत्व	ब्रह्मता
"	२२	वेदा	तदा
४४	४	प्रतीपो	प्रतीपो
"	१०	तद्विहितं	तदीहितं
४५	६	शैशेषु	शैशेषु
४६	१६	शब्दो कि	शब्दो की
"	२३	के	के,
"	२३	से	से,
४८	५	श्रू	श्रु
४९	२८	शकाशात्	सकाशात्
५५	११	ननु	ननु
५७	११	तद्वि	तद्वि
५८	२	दयाहा	दयाहा
५९	६	महर्षिषे	महर्षिषे
"	९	सथककं	सथककं
६०	९	पव	पूर्व
६३	१४	भाप्तो	आप्तो
६४	६	यिषुसु	यिषुक
"	"	पुच्छते	पुच्छयते
"	२८	मेस्वायं अर्थे	स्वायं मे अथवा
६६	६	विषिषा	विषुषा
६७	३	गिराकृत	निराकृत
६८	६	नू	नून

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
"	"	कीर्णया	कीर्णयो
"	२६	आसूय	सूय
७०	६	उदस	सदंसद्
"	१६	वाध्यायाणी	वाध्यायिणी
७६	२७	एकशी	एकदेशी
७७	४	मोन्धयः	मन्धयः
"	२२	श्रीवशी	श्रीवशा
७८	२०	नकिया हुए	न करता हुआ
"	"	असिद्ध	प्रसिद्धि
८०	१७	हेतु	०
"	७	सिद्धि	स्वरूपासिद्धि
८२	४	एव	एव,
८५	१५	प्रमाण	जैसे प्रमाण
"	१६	जैसे	०
८३	१	सिद्धयम्	सिद्धार्थम्
"	१३	"	"
८५	१०	तदन्धयत्वात्	तदन्धयत्बम्
"	"	संअन्धित्वाद्वा	संअन्धित्वाद्वासंअन्धिता
८५	११	नहि तदेवविज्ञानं	नहितदेव विज्ञानं स्वरूपं ह
		संअन्धिता विषयतैव	हेतुर्भवितुं शक्यः
		स्यात्स्वरूपैव हेतुर्भवितुं	
		शक्यः	
८७	८	इति ॥	इति
१००	८	स्वरूपा	स्वरूप
१०१	१२	फल्वा	फलत्वा
"	"	सहानमधद्	सहानमस्य
१०३	१	यत्पद्	यत्पद्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
"	४	घन्हिका	घन्हधिपपकां
१०४	१४	कुररी पत्नी	कुररी (सुगी)
१०५	१३	अर्थात्ग्रहकी प्राप्ति है यह इसमें अर्थभेद नहीं- है। इस में यह आशंका	औरतपशु द्विद्वारा ग्रहप्राप्ति के साधन हैं, यह
"	२७	परप्राप्ति	परप्राप्ति और अवगम का
१०७	१	सम्पत्तिवत	सम्पत्तिमत
१०८	६	करडे	कायडे
"	१४	अकर्म के	अकर्म
१०९	१	कारटक	काटक
"	१२	सादृशं	सादृशः
१११	७	उपलठघ	उपलठधे
"	११	पच्छिन्न	परिच्छिन्न
११४	५	याव	यावद्
११५	१०	मति	मपि
११६	१०	चित्र	चित्त
११८	२	स्वामिभिः	स्वामिभिः
१२१	१६	में मतही काय	में कार्य मत ही
"	१५	सिकरने	सिद्धकरने
"	२८	संघित	संबन्धित
१२२	८	याह	याह
"	९	पूर्णा	पूर्णे
"	१०	न्याय	न्यायः
"	११	वाच	वाचं
१२८	१	द्रव्य	द्रव्यं
१३०	९	उक्तार्थोऽपी	उक्तार्थोपी
१३२	१०	देवागतां	देवसागतां
"	२२	ज्ञान	ज्ञान

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६४	११	द्विधियते । तथाहिः	द्विधियते । तथाहि
"	१२	स्तुषी	स्तुषी
१३५	१३	धम	धम
"	२८	यद्	यद्
१३७	६	निष्का	निष्काम
"	११	क्षानेध	अग्नेर्वै
"	१२	" धर्मो " के आगे बीच में रेखा नहीं चाहिये किन्तु	
१३८	१३	इस संस्कृत पंक्ति के बाद देखा चाहिये	
१३९	५	गोपरा	गोचरा
१४४	२९	आपकी	आपका
"	"	विभ्रम	विभ्रम
१४६	१	प्रयुत	प्रयुत
"	७	रपवते	मेवते
"	११	दूर	दूर
१४८	१७	वसफि	वसफिर
१५१	७	सोऽप्यथो	सोऽप्यथो
१५२	५	देवतात्व	देवतात्वं
१५५	१५	सङ्घे	सङ्घे
१५६	२८	मल	मूल
१५७	३	स्वामिभि	स्वामिभिः
"	८	लभमाने	लभमानो
१५८	१७	चरते	चारते
१६०	२	देवाना	देवानां
"	८	वासा	वासा
"	२२	नौ	नौ
१६२	१०	मतेन	मतेन
१६५	९	धिके	धिकी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
"	१४	निरुक्त	निरुक्त
१६६	३	वद	वद
१६८	२३	वदै	वदै
१६९	१६	वदुकर वि	वदुकर
"	१९	उपयुक्त	उपयुक्त
१७०	४	द्यप	द्युप
१७२	१३	प्रतिकानि	प्रतीकानि
"	१८	अन्यपदम	अन्यपद
"	२०	स्थल	स्थूल
"	२१	सूत्र	सूक्त
"	२२	भाष्ये	भाष्य
१७३	३	भावते	भावने
१७५	५	समानार्थे	समानार्थ
"	१३	ब्राह्मणा	ब्राह्मणानां
१७६	४	ज्ञानां	ज्ञानां
"	१७	विचारः ॥	विचारः ॥ (इस प्रकारका बहुवचन भाग "द्वयानोद् विद्वांसः" सोमक ग्रन्थ से उद्धृत किया है) ।
१८२	१४	रति	रपि
१८३	५	स्वयं	स्वयं
१८३	१३	त्यन्त	त्यन्ता
१९०	१४	भूमिका	भूमिका
१९१	७	प्रति	प्रतिहत
१९२	१	त्यन्तसुखभावाः	त्यन्तसुखभावाः
२०३	८	प्रस्तुतसि	प्रस्तुतसिः
२०८	४	पुरुष	पुरुषे
२१६	७	मुधा	मुधा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
"	१५	मानस्य	यमानस्य
२१७	४	बुद्धि	बुद्धी
"	११	यक्	यक्
२२५	४	मन	मनः
"	८	युञ्जति	युञ्जीत
"	२२	उपसना	उपासना
२२८	२	मन्तं	यन्तं
"	२४	जनकतास्वरूप योग्यता	जनकता स्वरूपयोग्यता
२२९	१४	प्रदि	प्रति
२३०	५	सर्वम	सर्वमे
"	८	रात्माः	रात्मा
२३१	७	शरीर	शरीरं
२३३	३	देशन्तु	देशनन्तु
"	१८	जीव	जीव की
"	२२	है क्योंकि	क्योंकि
२३३	८	विपरीत	विपरीत
"	११	संसार	संसारी
"	१२	नुसरि	नुसारी
"	१४	मक्ति	मुक्ति
२३५	१०	बाच्छे	बाँधें
२३९	८	तृ	तृ
२४२	१०	समीप	समीपे
२४३	१८	कैसे	कैसे
२४५	७	धर्माः	धर्मः
२४६	६	मका	मेका
२४८	८	पद्	यद्
"	१४	१५वीं पंक्ति के अनन्तर	रेखा चाहिये
"	२२	संभावना	की संभावना

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
"	९	तद्वय	तद्वय
२५२	२१	वहिल	दुहितृ
"	२८	अलङ्कार	अलङ्कार
२५३	१८	राशम	रशिम
२५४	५	मना	रमना
"	२३	जर-पिता	जरयिता
२६२	८	मेष	मेष
"	९	पक्षे	पक्षे
"	१०	इदेनबधः	इदेनबाधः
२६३	३	स्य व	स्य
"	८	वर्णा	वर्णा
२६४	९	सूचयति	सूचयतीति
"	१३	कथं	वपथं
"	२०	वद्	वेद्
"	२१	व्यपाक	व्यपाक
"	२४	कतक	कतृक
२६४	१	अरसाय	अरसाय
"	१४	पाठ्यते आध्वर्यवे	पाठ्यते आध्वर्यवे
"	"	शुध्याय	शाध्यायं
२६५	१८	पुन्ना	पुन्ना
"	२४	शुद्धता अशुद्धता	शुद्ध अशुद्धता
२६६	७	सुपक्ष	सुपक्ष
२६७	३	यद्येन	यद्येन
"	७	मेती	मेति
"	८	साय	सायम
"	१८	अथ	अर्थ
२७०	१२	सुह	सुहर
२७२	४	सुदि	सुदि

भूमिकादिस्थ अशुद्धियों का परिभाषन स्वयं कृपया कर लीजिये ।

निवेदनम् ।

“धर्मोणलभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्, (वाल्मीकिः)”

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की अपार कृपा से जिस पुस्तक के प्रकाश करने की मेरी बहुत दिनों से इत्कथठा थी-वह पूरी होगई, अब लिये मुझे इस समय बड़ा सन्तोष है ।

ग्रन्थ का बनाना बहुत कठिन कार्य है-लिखने के समय बहुत सावधानता से काम लेना चाहिये । निश्चय कर आज कलके समय में जबकि वैदिक साहित्य लुप्तप्राय होगया है वैदिक ग्रन्थों का सर्व जानकारी वेद विषय में किसी पुस्तक का लिखना नितान्त ही कठिन है ।

वेद परम प्राचीन पुस्तकें हैं जिन में पुराने आर्थों का कर्तव्य और विज्ञान अपने अनूठे ढंग में वर्णित है । आहा ! ऋग्वेद को पढ़ने से हमारे पूर्वजों की दिशा लक्ष्मिनायाका पता लगता है । आर्यजातिकी उन्नतिकरने के लिये वेदों का पठन पाठन परमावश्यक प्रतीत होता है ।

यद्यपि धार्मिकादि बहुत से ऐसे मत हैं जो वेदों को नहीं मानते, परन्तु मनुष्य जीवन का उरकर्म, वेदानुसृत आचरण बनाने से ही हो सकता है यह हमारा हृदय प्रियवास है ।

वेदों के पूर्वं काल में सायणाचार्य, मंहीधर, लब्धट आदि अनेक भाष्यकार हुए हैं और उनमें से सायणादि के अनुसार अपने-द भाष्यों की रचना को है, हमारे देखने में जितने भाष्य आए हैं उन सब में श्री सायणाचार्य का भाष्य विश्व महान्द युक्त और परमादरणीय है । यह कहना विशेष कुक्षिमता का काम है कि सायणीय भाष्य अर्था निर्दोष है, मनुष्य की कृति । किसी आश में दोष का हो जाना आश्चर्यजनक नहीं, पर भाष्यान्तरों की अपेक्षासायक का पाण्डित्य सर्वो-कृष्ट है ऐसा मानने में किसी भी वेदज्ञने लंघन नहीं होगा ।

हिन्दुजाति का वेदों के ऊपर बड़ा विश्वास है और वेद ही वस्तुतः हिन्दुत्व का रक्षा है । वेदों से पराङ्मुख होने के कारण ही हिन्दुजाति का ह्रास हुआ है-और वेदाभिरुद होने से ही इस की उन्नति निश्चित है ।

वेदों के नाम पर यदि हिन्दुजाति का कोई ललटा रास्ता भी दिखावे तो भी यह उसे सीधासबक कर चलने लगजाती है। इस का उदाहरण सुप्रसिद्ध की स्वामी दयानन्द सरस्वती और उन से प्रतिष्ठापित आर्य समाज हैं।

सम्रभग ३६ छत्तीस वर्ष पूर्व इस देश में स्वामी दयानन्द जी विद्यमान थे वे शरीर से हृष्टपुष्ट और ब्रह्मचारी थे उन में यथासंभवतः पशुचर्या का बलथा उन में देशीदारवासना भी थी, वे निःसन्देह नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे, वाचस्पति और प्रतिभास प्रकथने विस्वासितोमिष न थे वे ईश्वरभक्त थे वे बहुत आशो में सन्यसधर्मों से युक्त थे यह सब कुछ था परन्तु दुःख है कि वे वेदों के पूरे परिष्ठत नहीं थे—उन्हे जये जयी बनने की खाहिश क्षुरी तरह सता रही थी—इसी कारण से वे वेदों के नाम लेकर स्वच्छाचारिता से लिख मारते थे। उन्हे लिखने में कुछ पूर्वापर का ध्यान नहीं रहता था कि बहुतना वे ध्यान देकर लिखतेहीन थे। सत्य बात लिखने के लिये आर्य समाजिक सज्जन हमें सना करे वे वेद शास्त्र के तत्व को समझते भी न थे।

हमारी इस बात की सद्यता के लिये स्थाने उन के किये न्याय स- प्राये ही पर्याप्त हैं।

वेदों के निरवत्व विषय प्रकरण में ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में वा- तस्यायन भाष्य—“नन्नायुर्वेदो” । २। १। ६७ इस गौतम सूत्र को, उद्घृष्टकिया है— उसका पाठ भी अशुद्ध और अर्थ भी गड़बड़ इत्यादि भूमिकाभास में देखिये।

“वेदविषयविचारः” प्रकरण में स्वामी जी ने “द्रव्य सङ्कारकमसु परार्थत्वात्फलश्रुतिर्येवाद् स्यात्” पूर्व नीमांसा अ० ४ पा० ३. सू० १ इत्यादि लिखकर जो कुछ बाल क्रीडन किया है— उसे देखने के लिये श्रीपंजर समापति द्विवेदी जी (प्रसिद्ध नाम नकलदेरास दुवे) के सनातन- चर्मादार का यह जिम्न लिखित भाग द्रष्टव्य है:—

यद्यपि भूमिकायाम्—वेदविषयविचारविषय इत्युपक्रमे—

सन्नद्धितोयोविषयः कर्मकाश्टाख्यः स सर्वश्रुतियाभयोऽस्ति नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने अपि पूर्ण भवतः। कुतः। बाह्यमानसव्यवहारयोर्वाभ्यास्यन्तरे धुक्तव्यात्। सन्नानेकपिधोऽस्ति। परन्तुतस्यापि खलुहो भवेदीधुख्योऽस्ति। एक परसपुत्रवाथैरिदं ध्ययोर्थाद्यैश्वरस्तुतिप्राथनोपासनाऽऽज्ञापालनधर्मानुष्ठान- ज्ञानेन सोऽमेव साध्यमित् प्रवर्तते अथरो लोकव्यवहारसिद्धये योषनेषाथैकानौ

दिश्य क्रियते तदनुपह्वानपरीपकारमात्रेण पराणमुच्यते न हि सुहृद्वास्त्योत-
रथापितो दीपो रथ्याद्योतनमात्रात्परार्थं उच्यते । नर्द्धं वाच्यं नाप्रथाः शान्ति
न्यायात् हीनाऽपि चात्मार्यं क्षिणते । हीनां उच्यते कृत्या, अघानां च स्व-
र्गकोपादिश्रुतिभिर्यजमानार्थस्यैव विधानात् ऐतरेयधर्मः त्वानुगच्छिच्छान-
पलानुवाद्मात्रम् ।

(३) अपि च । एवं विदित्युत्त्वा होतृसम्भवेतस्य घानस्य जनतीपदारः
कलमिति लभ्यते तच्च होत्रा यज्ञानुष्ठानानुक्तिद्वारेण सर्वेषामेव यजमानानाहुप-
कार इत्यभिप्रायेणोपपद्यत एतेनि नेदं वाच्यं भूमिकोत्पत्त्यामे मानम् ।

(४) किञ्च । भोजनादावपि कथञ्चिद्वरपरार्थत्वेऽपि सर्वदेवार्थोपरी प-
रार्थपदोपादानस्यैव व्यवच्छेदविरहेण निरर्थक्यं स्यात् ।

(५) अन्यच्च । उक्तसूत्रस्यै तदर्थाङ्गीकारे 'उत्पत्तिश्चात्तरप्रधानत्वा'दिति
तदुत्तरसूत्रानुत्थानप्रसङ्गी दुर्वा एव, संकृतिविरटात् ।

(६) किञ्च । चतुर्थे सूत्रेण हि प्रयोगस्यैव तदाप्ययं कलपित्वाचरयो
यत्नेदमादिनं सूत्रम् । अत्र घराणे चोक्तत्वात्किञ्चिदुत्पत्ति, अदानप्रथाधिकार्या-
नि । तत्र चैकस्यास्य सूत्रस्यैव स्वेच्छमोच्छङ्खलायंररुणं स्पृष्टमैत्र प्रमज्जन्त्या
अपरेषां सूत्राणामुच्छेतेरपाकारणाय तेषां सूत्राणानर्थाः तदुत्पत्तयः प्रयोजनानि
चान्यानि भूमिकाविधायिनोऽवश्यमाच्यन्त्यापद्यन्ते ; अन्यथा तेषामे तर्षव्य-
मङ्गलत्वैरुत्पत्तयोजनकृत्वं च स्यात् । तानि च भूमिभाभूता नीकतानीति प्रति-
तत्तसूत्रद्वयतदोषत्रयावृत्तिः । तथाच यदा परेषां सूत्राणां श्रुतासुक्ता एवा-
र्थास्तथैकस्यास्य सूत्रस्यापीति भूमिकोपलौक्य-रथा गनन्कुमुनापते ।

(७) अपि च । एवमथ परेण सर्वेषामेव वैदिकार्थत्वां गुणकर्तृताऽऽपत्तौ
गुणप्रधानकर्मविभागानुपपत्त्या तद्विभागव्येककर्मैः तत्र तिथौ दूतपदोपपत्त-
स्यात् । भूमिकोत्पत्तीत्या यज्ञमात्रस्य गुणकर्तृतया प्रधानकर्मस्वमवस्थैवानायात्
तथाच-

नीनांसादर्शने य० २ पा० १ ॥ सूत्राणि-

तानि द्वेषं गुणप्रधानभूतानि ॥ ६ ॥

सू० श्रीहीनवद्वतीत्यादी संकेत आख्यातान्तादेशापूर्वभावावृत्ताधिकार-
शल्यादिति बहिः पूर्वपक्ष सिद्धान्तमाह । तानीति । तानि आख्यातानि द्वेषं
द्विप्रकाराणि क्वचिद्द्रव्यं प्रति गुणभूतानि क्वचिद्द्रव्यं प्रति प्रधानानि च । ६

यैर्द्रव्यं न चिकीर्षते तापि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणानुत्पत्त्यात् ॥
 सू० द्वैविध्यं कृत्वा द्यति । यै रिति । यैः आख्यमानैः द्रव्यं संस्कारा-
 पत्त्वेन न चिकीर्षते तानि आख्यः तान्तवाच्यानि कर्माणि यावदानादीनि
 द्रव्यं प्रति प्रधानानि । यथा स्वभंगानी यजेत, द्विरस्यं ददातीति । तत्र द्रव्य-
 स्य गुणभूतत्वास्तीकतः गुणत्वेन क्लृप्तं वात् ॥७॥

यैस्तु द्रव्यं चिकीर्षते गुणः तत्र प्रतीयते तस्य द्रव्यं प्रधानं वात् ॥८॥
 सू० यैः कर्मभिः द्रव्यं संस्कारत्वेन चिकीर्षते तत्र भावार्थः शुभाः
 प्रतीयते तस्य धात्वर्थस्य द्रव्यप्रधानत्वात् द्रव्यं यथाचनं यथा तत्र वात् । यथा
 प्रीतिनयप्रकृति तद्यदुलान्पिनपटीत्यादी वितुपीभावात्पट्टदृष्टफलचम्बवान्ना-
 दृष्टफलपनेति भावः ॥८॥ ।

वृ० (८) एवं प्रत्यक्षचिह्नानां कलिलद्रव्यादीनामेव यत्कफत्वं नतु स्वः ईदी-
 नावित्यभ्युपगच्छन् भू निष्काप री प्रपच्छन्नचावर्क एव । कायं कायभावाद्दी
 कस्मिंश्चिदर्थे शब्दतदुपजीविप्रमाणात्तिरिक्तप्रमाणाश्रये एव प्राधान्येन प्र-
 विषादयिषिते वेदप्रामाण्यस्य वैदिकदशनाचार्यैर्वादावत्तु भूतिपिहृदिभि
 निर्णीतत्वात् । तथा च नीभासादर्शनस्य-

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानसुपदेशोऽ-
 व्यतिरेकश्चार्थानुपलब्धे तत्प्रमाणं चादरायणस्थानेक्षतत् ॥
 अ० १ । पा० १ । सू० ५ ।

इति सूत्रे 'अर्थानुपलब्धे तत्प्रमाणं आदरायणस्य' इत्युक्तम् । अस्य
 सूत्रस्यार्थस्तु पूर्वमेव वेददुर्गसंज्ञने विद्वत्स्तत्रैवाद्यलोदभिरः ।
 अतएव ॥ नी० ६० अ० १ पा० ३ ॥

विरोधेत्वनपेक्षं स्यादमतिह्यनुमानम् ॥ ३ ॥

इति सूत्रे वातिके-
 महवादाः-

लौकायतिकसूत्राणां नैवान्तर्यं निश्चने ।
 यावत्किञ्चिददृष्टार्थं तददृष्टार्थं हि सुर्वत्र ॥ १ ॥
 वैदिकान्यपि कर्माणि दृष्टार्थान्येव तं विदुः ।

अल्पेनापि नियन्त्रेण विरोधं योजयन्ति च ॥२॥
 तेष्वश्चेत्प्रसरो नाम दत्तो मीमांसकैः कश्चित् ।
 न च वञ्चनं मुञ्चेद्युर्धर्ममार्गं हि ते तदा ॥ ३ ॥
 प्रसरं न लभन्ते हि यावत्कवनं पर्यटाः ।
 नाभिद्रवन्ति ते तावत्पिशाचा वा स्वर्गोचरे ॥ ४ ॥
 क्वचिद्दत्तेऽवकाशे हि स्वात्प्रेक्षा लब्धधामभिः ।
 जीवितुं लभते कस्मै स्तन्मार्गपतितः स्वयम् ॥ ५ ॥
 तस्माल्लोकायतस्थानां धर्मनाशतशालिनाम् ।
 एवं मीमांसकैः कार्यं न मनोरथपूणरम् ॥ ६ ॥ इति ।

(९) किञ्च । क्रतुधर्मो बोध्य इत्यर्थो पि हेय एव, क्रतुधर्मत्वादित्यनुधा-
 दकहेतुपञ्चमीविरोधात् ।

(१०) अपि च । क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते इति विवरणमपि निर्मूल-
 सारमवयवस्तं च, जायते इत्यस्य बोध्य इत्यनेन निरुद्धत्वात् । धर्मत्वादि-
 तिवञ्चनीविरोधाच्च ।

(११) एवम् । पुरुषाणां चेत्यर्थेऽपि निर्मूल एव, 'तु' शब्दविरुद्धेऽप्येव ।

(१२) किञ्च । एषमर्थकरणे "पृथक्त्वाद् व्यवनिष्ठते" इत्युक्तसूत्रानु-
 स्थानापत्तिद्वारैव ।

(१३) अपिच भूमिकोक्तयोः सूत्रार्थबोद्धमर्थेरेतदप्यायविरोधव्याधिर-
 चिकित्स्य एव । क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वयोरेव प्रयोगवत्तयोः सत्र प्रकृतत्वात् तयोश्च
 क्रमेणाधिकरणत्वम् यत्र भूमिकोपन्यस्तं मुञ्चेद्द्वयम् ।

द्रव्यसंस्कारकर्मणा क्रत्वर्थत्वम् अधि० १ ॥

द्रव्यसंस्कारकर्मणु परार्थत्वात्फलश्रुतिरप्यवदः स्यात् ॥ १ ॥

व० इत्यस्य परार्थमयी बुद्धमवति न स पापं श्लोकं शृणोतीति, यदङ्क-
 चक्षुरेव आतृण्यस्य बृहत्क इति, यत्पर्याजानुयाजा इत्यस्मिन्, वसंवा एतद्यज्ञस्य
 क्रियतइति । किमेते फलमुद्दिश्य विधीयन्ते सत्यार्थवादा इति संशये सिद्धान्त-
 साह । इत्येति । द्रव्यसंस्कारप्रधानकर्मविधिषु क्रमेण उदाहृतवाक्येषु श्रुतिः

फलश्रुतिः अर्थवादः परार्थत्वात् परममयीत्वादीनां मन्त्राणां न क्तवर्थ-
त्वात् ॥ १ ॥ ८० ॥

उत्पत्तिश्चात्प्रधानत्वात् ॥ २ ॥

वृ० ननु पुरुषमुद्दिश्य क्तं न स पापं श्लोकं शृणोतीति, त्रिधीयेत
कथनर्थवाद इत्यत आह । उत्पत्तिरिति । उत्पत्तेः उत्पत्तिवाक्यस्य अतत्प्रधा-
नत्वात् पुरुषप्रधानत्वाभावात् । अयं भावः । यस्य पशं नयी जुहूः तस्यपाप-
श्लोकश्रवणमिति । अत्र जुहा अपि पुरुषमुद्दिश्य अत्रणं तुस्य यस्येति पुरुष-
ग्रहणादिति, जुहा एव फलत्वं किं नस्यादिति । अनुमाणादिना तत्फलत्वंस्य
निरासो भाष्यादितो ज्ञेयः विस्तरभयान्नीपस्यस्यते ॥ २ ॥

पयोव्रतादीनां क्रतुधर्मत्वम् । अधि० ॥ ४ ॥

द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मत्वात् ॥ ८ ॥

वृ० उद्योतिष्ठोमे श्रूयते, पयोव्रतं ब्राह्मणस्येति । इदं व्रतं, पुरुषार्थं क्तवर्थं
वेति संशये वक्ष्याः पुरुषस्य प्रधानत्वात् पुरुषार्थमिति पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह
द्रव्याणामिति । क्रियार्थानां उद्योतिष्ठो जादिदिवधिकृतानां द्रव्याणां संस्कारः
क्रतुधर्मत्वात् । ऋतुसंनिधौ पाठ न मयोगविधिपरिग्रहीतत्वात् ॥१॥

पृथक्त्वाद् व्यतिष्ठेत् ॥१॥

वृ० ननु ब्राह्मणस्येति किमर्थमत आह । पृथक्त्वादिति । ब्राह्मणस्यत्रि-
यादिप्रयोगाणां पृथक्त्वाद् व्यतिष्ठते ब्राह्मणकर्तृ क्रे पयएवेति ॥१॥

(१४) किञ्च । वायुशुद्ध्यादेरेव यज्ञरयोजनत्वे "स्वर्गकामो यजेते"
स्यादिविधिवाक्यसहस्रपीडनप्रसङ्गस्योद्भूतत्वात् तदभिधायिनि भू निकाविधा-
यिनि सुलभैव नानास्तिकनामधारणा ।

एतेन भू निकायाम् ४८ । ४९ पृष्ठयोः "अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादम्भ-
सम्भ्राद्वृष्टिरग्नेर्वै एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति (श० का० ५ अ०-
३] । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः ससंभूता, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः
अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिम्योऽन्नम्, अन्नाद्देतः
रेतसः पुरुषः, सवा एष पुरुषोऽजरसनयः ॥ तै० उ० अन्नन्दकल्ली १ अनु०
इति वाक्ययोरुक्तार्थं प्रसागतयोऽप्यसौमिपि निररतः । उक्तवाक्ययोरनुवाद-
कतया यज्ञानां तन्मन्त्रार्थं कलाया विधिवाक्यविधौ नैव ताभ्यां दुर्लभत्वात् ।

यदंतु तत्रैशोपक्रमे—

“यथेश्वरशास्त्राद्वा दत्ता इत्यभाषणमेव कर्तव्यं तानुत्तमिति यस्तापुस्तदुच्यते
अथनेन पापीयान् भूत्वाकलेशं विप्रवरव्यवस्थया प्राप्नोति । तथा यज्ञाकर्तव्य
वृत्तियगधया ज्ञातेनैधः दत्ताऽस्ति तानपि य उरुस्तदुच्यति, सोऽपि पापीयान्
सन् कलेशं वा इव भवति इति” ।

तत्तु प्रास्यादपदेव ।

तन्मते मन्त्रसागक्षेव वेदतया तत्र य तादृशाज्ञानोपकपदाभावात् ।
ब्रह्मसागक्षे वेदतय सिद्धान्तपक्षेऽपि तत्प्रकरणे पूर्वोद्भूतेऽप्येव मन्त्राणां
संभवापेक्षया तया निर्णीतत्वात् ।

यदपि तत्र—

यदि होमनक्षत्रस्यैतत्फलमस्ति तद्दोषकरणाग्नौ च सिद्ध्यति पुनस्तत्र
वेदमन्त्राणां पाठः क्रियते । अत्र ब्रह्म । एतन्मन्त्रयदेव कलमस्ति ।
नियु । यथा हस्तेन होमो नेत्रेण दर्शनं त्वचा स्पर्शनं च क्रियते तथा वाचा
वेदमन्त्रा अपि चक्ष्यन्ते । तत्पाठेनेश्वरस्तुतिप्रार्थनापासनाः क्रियन्ते । हो-
मेन हि फलं भवतीत्यस्य ज्ञानं तत्पाठानुभूत्या वेदमन्त्राणां रक्षणमीश्वर-
स्यास्तित्वमिद्विद्विषय । अन्यच्च सर्वकर्मादावीश्वरस्य प्रार्थना कार्येत्युपदेशः ।
एतत्तु वेदमन्त्रोक्तचारणात्सर्वत्रैव तत्प्रार्थना भवतीति वदितव्यम् । इति-
दन्नाह । वेदमन्त्रोक्तचारणां विहायान्यस्य कस्यचित्पाठे तत्र क्रियते तदा कि-
दुपक्षमभतीति । अत्रोच्यते । नान्यस्य पाठे कृते सत्येत्तत्प्रयोजनं सिध्यति
कृतः । ईश्वरा कृत्वाभावात्, निरतिशयसत्यविरहाच्च । यद्यद्दि यत्र ह्यचित्तस्य
प्रनिष्ठमस्ति-तत्तन्मन्त्रं वेदादेव प्रसूतमिति विज्ञेयम् । यद्यत्कलमन्त्रं तत्तद-
नाश्वरौक्तं वेदाद्वाहरिति च । अत्रार्थं मनुराह-“त्वमेकी ह्यस्य सर्वस्य विधा-
रस्य स्वयम्भवः । अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्प्राथम्यवित्प्रभो ॥१॥ अ० १ इति०
३ ॥ चातुर्वर्ष्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्ववाश्रजाः पृथक् । भूलं भूतयं भवितव्यं च
सयं वेदात्प्रसिद्धमिति ॥२॥ विभक्तिं नर्षभूतामि वेदशास्त्रं सनातनम् । तस्मा-
द्वेदतया मन्त्रं यजन्तोरस्य साधनम् ॥३॥ अ० १२ इति० ९७, ९८ ॥ इति ।

तदपि हेयमेव ।

(१) मन्त्राणामविधायकतायाः पूर्वमुक्ततया तेषां होमफलत्रोपकृतायोगात्

(२) क्लिष्ट-अप्रियद्वाराहेत्यादिनाऽऽपादितो दोषोऽपि ह्रस्वद्वय एव । त-
 थादि । मन्त्रश्लोकाश्लोकनन्दप्रयुक्तो लौकिकवाक्यव्यावृत्तः यो नाम विशेषः ।
 ह्रस्वोऽह्रस्वो वा । ह्रस्वश्चेत् । सोऽपि स्वयार्थप्रतिपादकत्वरूपो, माधु र्योदियुष्वा-
 रूपो वा । यद्याद्यरतिर्हि तत्समानार्थरुक्लौकिकवाक्यादंक्षया तत्र न सोऽपि
 विशेष इति स दोषस्तदर्थस्य एव । यदि द्वितीयस्तदा तु न द्वैतार्थानां कर्मसु
 मन्त्रपाठस्य, अपि स्वकार्यत्वभाष्येत् । मन्त्रवाक्यान्वयेत्यामित्यवरचितेषु
 तत्समानार्थेषु कस्यभूतेषु—

“रत्नाकरोऽस्ति सदनं गृहिणी च पद्मा
 देयं किमस्ति भवते जगदीश्वराय ।
 राधागृहीतमनसो मनसोऽस्ति दैन्यम्
 दत्तं मया निजमनस्तदिदं गृहाण,, ॥ १ ॥

इत्यादिवाक्येषु गुणारामणीयकातिशयस्य । फु टतया तदुपेक्षाया अन्या-
 यत्वात् । अह्रस्वश्चेत्तदा स्वन्ते रचते न्यायेन सर्वास्तिकसम्मतयाह्रस्वा-
 भ्युपगम एव युक्तः । अह्रस्वोकारात्स्वमतविरोधश्च ।

(३) एषय निरतिशयस्यविरहाच्च तिहेतुरप्यसिद्धः अर्थवाचाभावे सत्य-
 त्वानपायात् । निरतिशयत्वस्य च ह्रस्वमुपकारप्रत्ययप्रयोगकत्वात् । अह्रस्वो-
 पकारस्य च स्वयमेवानभ्युपगमात् ।

(४) अपि च “स्वमेका” इत्यादिमानवपद्यत्रयोपन्यसनमपि ‘अ तं’ इति
 पापाकी, तिन्यायेन पारायणानाम्, एतत्पकरासुस्पर्शविरहात् । की हि
 नाभास्तिको वेदा अस्तथा इत्याद्याचष्टे यं प्रत्ययमुपन्यासः किन्तु यदि
 मन्त्रपाठेन न किञ्चिद्दह्रस्वं साध्यते तदा प्रत्ययनिर्मितेन रसरीतिगुणो-
 साङ्काररुपस्य न नित्यमुदुलाक्षरेणान्तर्भावितकन्त्रार्थेन च काव्येनैव मन्त्रप्रयो-
 जनान्यथापिद्वया मन्त्राणां मानार्थक्यापत्तिरित्येवाह्वयति, तत्र चाकिञ्चित्कर
 एवैष श्लोकत्रयोपन्यासः । इत्यलम्—

स किं स्वर्गतः कोपि यस्य पुष्पं निशाकरः
 मातस्ते कीदृशा वृक्षा येषां मुक्ताकलं फलम् ॥१॥

इत्याद्यार्थकोक्तिपत्तिरपि रासु भूतिकाऽऽभासोक्तिषु मानसकर्मेषु चित्त-
 तिकल्पमतीपकटाक्षनिःक्षेपेण ति दिक् ।

अस्तु । हिन्दी और संस्कृत में उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' संस्कार विधि आदि ग्रन्थ और यजुर्वेद भाष्य, ऋग्वेदभाष्य (अपूर्ण) भी लिखा इन भाष्यों से पूर्व 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' नामक एक ग्रन्थ संस्कृत और हिन्दी बनाया । स्वामी दयानन्द जी के वेदभाष्य कैसे हैं ? इसकी जानने के लिए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वे विद्वन्मण्डली में कहीं भी आदर नहीं, सम्मदर आर्य-सामाजिक परिदृश्य भी उनको वस्तुतः नहीं मानते उनके भाष्यों को भाष्य कहना ही असंगत है । लिखने को लिख दिया है कि मैं शतपथादि को मानता हूँ पर वेद भाष्य में और ही लीला है यह बात उन्हें स्पष्ट हो सकती है—जो उनके वेद भाष्य का ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ मिलान करने का यत्न करे । यदि येही वेद भाष्य हैं और येही वेदाथ हैं जिन्हें स्वामी जी पेश करते हैं तब कितना ! आर्य समाज में दो मज्जापार्टी है (१) ब्राह्मणपार्टी जिस में बहुत से पण्डित भी संमिलित हैं—परन्तु वे विचार स्वामी जी के पाण्डित्य पर मन ससोच कर रहजाते हैं—और आर्य समाज में जैसे जैसे निर्वाह कर रहे हैं । (२) दूसरी ब्राह्मणपार्टी, जिस में वैदिक सिद्धान्तों से अनभिज्ञ बहुत से लोग संमिलित हैं । इस द्वितीयपार्टी में स्वामी जीके ग्रन्थों में ये तीन ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि, और भाष्य भूमिका बड़े सामाजिक समझे जाते हैं आर्य समाजियों को इनके ऊपर बड़ा अभिमान है । इन में से सत्यार्थ प्रकाश का रचयन स्वर्गीय पं० ज्ञानानन्द जी. निश्च कर चुके हैं, 'संस्कार विधि' की अशास्त्रीयता का प्रकाशन मैं बहुत शीघ्र कराने वाला हूँ और भूमिकाखण्डन यह आपके संमुख प्रस्तुत है ।

इस 'भूमिकाभास' के प्रकाशन से मेरा तात्पर्य इतना ही है कि श्री स्वामी दयानन्द जी में लोगों को आप्तता का भ्रम न हो, सनातन वैदिक धर्म की उत्कृष्टता प्रकाशित हो । श्री स्वामी दयानन्द जी का सनातन धर्म के साथ (१) मूर्तिपूजा (२) सतक आद (३) अथर्ववेद (४) तीर्थस्नानादि से धर्मोत्पत्ति (५) दर्शयज्ञस्था आदि विषयों में घोरतर विरोध है । इन विषयों में सनातनधर्म के पण्डित प्रकाण्डों की ओर से पूरे उत्तर दिशे जा चुके हैं । स्वर्गीय श्री पं० अम्बिकादास जी व्यासवेदवक्ता स्वर्गवासी श्री पं० भीमसेन जी शर्मा, धर्मप्रकाश संपादक पं० कालूराम शास्त्री आदि

द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ इन विषयों में द्रष्टव्य हैं। हमतो इतना ही संक्षेप से निवेदन करेंगे कि ये सब विषय प्रामाणिक हैं, शास्त्र सिद्ध हैं प्राकृतिक हैं किसी न किसी रूप में ये भू-मण्डल में व्याप्त हैं—इनका खयहन ही ही नहीं सकता मूर्ति पूजा के विषय में इस निरूनलिखित लेख को पढ़िये।

मूर्ति पूजा की कामना

मनुष्यमात्र में स्वाभाविक है

तन्मान् आस्तिक संसार इस बात पर सहमत है कि परब्रह्म परमात्मा सर्व व्यापक है, अणु से अणुतर और महान् से महान् वस्तु में वह मौजूद है मुसलमान भाई उसे हाज़िर नाज़िर बतलाते हैं और ईसाई महानुभाव भी Omnipresent (सर्वव्यापक) जानने में संकोच नहीं करते हमारे भ्राता समाजी महाशय भी डंकों की चोट सर्वव्यापक बतलाते हैं तो अब प्रश्न यह है कि जब छोटे से छोटे परिमाणुमें भी ईश्वर व्यापक है और छोटे पदार्थों में मौजूद होने से वह परिछिन्न एक देशी और बद्ध नहीं होसकता तो यह कैसे सम्भव है कि केवल मूर्ति में ही जानने से ईश्वरके ऐश्वर्य पर वज्राघात होजाए अथवा मूर्तिमान् होने में क्यामत आजाए (महाप्रलय उपस्थित हो) यदि सांसारिक प्रत्येक पदार्थ में व्यष्टि रूप से मौजूद होनेके कारण भगवान् एक देशी नहीं होजाते, अथवा उनकी अनन्त शक्ति क्योंकी त्यों बनी रहती है तो मूर्ति में उनका ध्यान लगाने से कौन सा अनर्थ होगया।

अस्तु। इस प्रकार के तर्कवाद को कुल समय के लिये न खेड़ करके अपने केवल निराकार वादी भाइयों से यह निवेदन अवश्य करना चाहता हूँ कि "साकार" रूप में "निराकार" ही आसकता है आप शायद नहीं समझें कि क्योंकर साकार होगया ? सुनिये। इस कहने का तात्पर्य यही है न ? कि जो पहिले निराकार था अब वह आकार में आगया, और आकार में आना-अथवा साकार होना यह शब्द ही कह रहे हैं जिसके आकार नहीं था अब वह आकारमें दिखाई देता है। नहींतो क्या शरीर साकार (स + आकार) होगा, शरीर तो स्वयं आकार है, फिर "साध आकार के" इसका अभिप्राय क्या हुआ, मूर्तिमान् (नहीं २ स्वयं मूर्तिरूप) शरीरने आकार धारण किया यह तो शब्दों का पिष्ट पेण होगया, अब यही कहना पड़ेगा कि "आकार

में आना " केवल आकार शून्य के लिए ही बन सकता है, अन्य के लिए नहीं ।

आज कल के जनाने में प्रायः युक्ति और प्रत्यक्षादि प्रमाणाँ का ही सार्वभौम राज्य है, वेद शास्त्रादि के प्रमाणाँ में भी युक्तियों को ठूँस कर भरा जाता है, और यदि प्रतिवादीने वैदिक प्रमाणाँ से भगवान् को साकार (अथवा भगवान् की मूर्ति) सिद्ध कर भी दिया तो फिर अर्थ भेद का चक्र पड़ता है और फलतः हठ और पक्षपात के यथोभूत हतारें भूता मूर्तिपूजा के अनिवार्य और स्वाभाविक धर्म को मानने की उद्यत नहीं होती और फिर यदि मान भी लें तो अन्य धर्मों के मानने वाले भूता (जो कि वास्तव में मूर्ति पूजा के धर्म को स्वाभाविक मानते हैं जैसा कि मैं आगे चल कर दिखाऊंगा) मुकलमान ईसाई यहूदी आदि गुँह से इस अकाव्य सिद्धान्त की माननेकी उद्यत न होंगे, अतः सबकी तमएली के लिए मैं अपने अनुभव की कुछ बातें आप से सम्मुख रखता हूँ जिससे आप को स्वयंज्ञात हो जाएगा कि वास्तव में समस्त भूमंडल किसी न किसी रूप में मूर्ति पूजा के अटल सिद्धान्त को मान रहा है या नहीं । मानना न मानना आप के आधीन है, मैं और मेरे मित्र पं० ब्रह्मदत्त शर्मा जब युरुपीय महा-युद्ध में सेवाएं करने के लिये विश्व देश की आरहे थे, तो मेरे अमले (Abn. blishment) में एक बड़े पक्के मौलवी और अपने मुसलमानों धर्मके कहरपी थे और दो एक सिख महानुभाव भी थे । जिस समय हम बम्बई में जहाज की प्रतीक्षा करते हुए ठहरे हुए थे उस समय अचानक हमारे परम मित्र मौलवी साहब ने एक व्यक्ति को बम्बई पुरी में एक बुजुर्ग के मजार (कब्र) पर बैठे और कुछ पाठ करते किन्तु साथ ही फिर को झुकाते देखा, तो मौलवी साहब बहुत ही क्रुद्ध हुए और आप ही आप कहनेलगे "शोन शर्क मेरा बस चले तो तुम्हें दो साल लगाऊँ कब्र परस्ती कर रहा है यह तो मुफ्त है " ।

जैसे उस समय उन्हें उत्तर देना उचित न समझा और कुछ दिन पीछे इस लोग जहाज में सवार हो गए । बम्बई से जिस समय अहाज चला तो हम सब हिन्दू मुसलमान और सिख तथा समाजी समातनी भाइयों ने अपनी जान भूमि और फिर बम्बई नगर को जो सातभूमि की अन्तिम

मूर्ति थी इसे आदर से शिर झुका दिया, परन्तु अब भी मैंने निराकारवादी भाव्यों की कुछ उत्तर न दिया, क्योंकि जन्म भूमि की मूर्ति जब तक सामने थी, सबसे नेत्र हटाने की ली नहीं चाहता था आंखों से ओझल होजाने के बाद भी हृदयोंदपि गरीबसी भारतपुण्यजननी की सफला सजला सर्वपूर्णा मूर्ति हृदय पटल पर अंकित रही और हमे विश्वास होने लगा कि वास्तव में बिना मूर्ति के इष्ट का ध्यान लगाना कठिन है तथा ही शारङ्गधरों ने 'अभिनवध्यानाद्वा' कहकर इस विषय को समाधा है और यह तो मूर्ति पूजा की भूमिका ही थी, अब आगे सुनिये ।

मिश्र देश में पहुँचकर जब हम स्वेज (Suaz) बंदरगाह पर उतरे तो कुछ काल के अनन्तर हमें पलेस्टाइन (-Palestine) के इलाके में लद्दा (Ludd) स्टेशन के समीप एक जगह नियुक्त कर दिया गया, वहाँ पास ही एक छोटा सा गाँव रमले (Ramley) नामक बसता था, वहाँ हम कुछ दिन सकारी काम करते रहे । इस रमले नगर में कबरे बहुत थीं जिन पर बैठकर वहाँ के आदमी (नर नारी) अपने पुरखाओं की यादमें सालभर तक प्रति शुक्रवार को रोया करते थे और फूल हार आदि भी चढ़ाया करते थे (साँची आद्य का ही रूपान्तर था) इसके साथ ही कुरान शरीफ की आयते पढ़ते हुए कथ के सामने शिर झुकाये बैठे रहते थे । अब तो हमारे निराकारवादी मौलवी साहब की दशा में परिवर्तन होवेगा और वहाँ पर जो कई एक प्राचीन समय की मसजिदें थीं वन्ही के साथ में एक जगह मौलवी साहब ने बतलाया कि किसी मुसलमान मुजुग का कफार (कफ़र) है । मौलवी साहब प्रायः वहाँ जाते और वहाँ भक्ति भाव से शिर झुका कर प्रणाम करते तथा कुरान शरीफ का पाठ किया करते थे । (जैसा कि हमें पीछे मालूम हुआ यह वही मौलवी साहब हैं जो मूर्ति पूजा को शिर्ष कफ़र बता कर लाने लगते थे । नर कहने का लक्ष्य अभी आगे आता है । एक दिन हम पैलस्टाइन के प्रसिद्ध ऐतिहासिक शहर जेा मुसलमानों के लिये भी परम पवित्र माना जाता है और यहाँ पर हजरतउमरजी खमाई हुई वहाँ सुन्दर मसजिद है जिसे मुसलमान मसजिद अकसा भी कहते हैं इसीद्वारा के लिए भी यह स्थान इतना पवित्र है कि इसके लिये इतिहास में कई भयंकर युद्ध मुसलमानों और ईसाइयों में हो चुके हैं । इसी स्थान के पास (प्रायः १०-११ मील के फा-

सले पर) बैतुल्लहम (Bethulban) स्थान है जहां ईसाइयों के प्रसिद्ध नबी (Prophet) हजरत ईसानसीह का जन्म हुआ था। और फिर जेरुसलीम में ही वह स्थान भी है जहां हजरत ईसानसीह ने अपने शिष्यों को ईसाई धर्म की शिक्षा दी, और अन्त में उनके विरोधी दुष्ट लोगों ने उनको पकड़ कर अनेक कष्ट दिये और फिर फाँसी पर चढ़ाया इस लिए ईसाइयों के तीनों सम्प्रदाय Roman Catholic, Protestant and Greek Church के गिरजे यहां पर मौजूद हैं और हजरत ईसानसीह की भिन्न २ दशाश्रां की कहीं २ तो कागजी मूर्तियां लगी हुई हैं और कहीं पत्थर की बंसी ही मूर्तियां जैसी भारत में है परन्तु उनसे कहीं ऊँची सुन्दर और जवाहरात से लदी हुई रखी हुई हैं जिस जगह महाराज ईसानसीह को फाँसी हुई वह जगह सीढ़ियां उतर कर जमीन के नीचे है और सब अंग्रेज वहां जाते हैं अपना शिर झुकाते हैं और टोपी सिर से उतार लेते हैं तनिक विचार से कहना यह मूर्ति पूजा है या कुछ और इतना ही नहीं, धूप दीप का भी पूरा २ प्रबन्ध है। और हजरत ईसानसीह की पूजनीय माता श्रीमती मर्यामदेवी की एक मूर्ति हमने देखी जिसके गले में ६० हजार पौंड (९ लाख रुपये) कीमत का एक डार है जो रूस के बादशाह नार ने भेंट किया था। अब आप ही बताइये कि भारत देश क्या कोई भी स्थान ऐसा आपने देखा है जिस की मूर्तियों के पास इतने असूय्य आभूषण हों, फिर भी मूर्ति-पूजा या वृत्तपरमती का दोष केवल हिन्दुओं को ही दिया जाता है और अब यहूदी भाइयों की लीजिये प्राचीन समय में यहाँ यहूदियों का भी एक विशाल मन्दिर था मगर अब केवल उसकी एक दीवार रह गई है जिस के पास प्रति शुक्रवार को दूर २ देशों से यहूदी लोग आते हैं और रोते हुए अपने ग्रन्थों का पाठ करते हैं और बड़ी भक्ति और श्रद्धाके भाव से प्रत्येक आगन्तुक एक लोहे की कील इस दीवार में डोक कर सानो अपने विचार में उसे उहड़ बनाता है इस दीवार का नाम Jewswailing wall है कहिये यह भक्ति मूर्ति की है या किसी और वस्तु की परन्तु मुँह से न सानना यह कलका फैशन (Fashion) साही हींगथा है। पाठक स्वयं समझें।

अब आप तनिक फिर हमारे सौलबी साहब से परिचय करें जो हमारे साथ गए थे (और अभी तक वापस नहीं आए हैं शायद इस वर्ष हज कर

के वापस आएंगे) उन का यहाँ क्या हाल हुआ ? कुछ न पूछिये जहाँ कहीं खुजुर्गी के सजार यादगार नसदि आदि मिलती थीं नहीं मौलवी साहब का सिर झुकजाता था और वह बड़े प्रेम से कुरानशरीफ का पाठकरना आरम्भ कर देते थे यहाँ पर एक मसजिद में एक बहुत बड़ी पत्थर की वह चट्टान है जहाँ पर हजरत इनाहीम ने ईश्वर की आजा से अपने प्रिय पुत्र इस्माईल का बलिदान देना निश्चय किया था और फिर इसी चट्टान पर खड़े होकर पूजनीय हजरत मुहम्मद साहब ने स्वर्गारोहण किया था तो कहते हैं कि यह चट्टान भी आप के चरणों के साथ ही स्वर्ग को जाने लगी थी किन्तु फरिश्तों (देवताओं) ने हाथ से पकड़ कर इसे पृथ्वी पर रख दिया और फरिश्तों के हाथ के निशान (पाँचों उँगलियों के निशान मनुष्य के हाथ से कुछ बड़े) मौजूद हैं । इस जगह को मुसलमान भाई बूमते हैं (क्यों साहब यह क्या हैं मूर्ति पूजा या पत्थर पूजा ?) ।

मसजिद अफ़सा में एक जगह ऐसी है जहाँ कहते हैं कि ऊपर के भाग में (छत में) हजरत मुहम्मद साहब की पगड़ी खूब गई थी जिस से ऊपर पत्थर में निशान हो गया । इस जगह को भी मुसलमान भाई बूमते हैं । (सो क्या ईश्वर पूजा है ?) इस प्रकार मैं ने हजाराँ जगह देखा कि खुल्लम खुल्ला मूर्ति पूजा होती है और मूर्तियाँ भी उन महानुभावों की हैं जिन को स्वयं उनके अनुयायी मनुष्य मानते हैं तो फिर यदि हम भगवान् की मूर्ति पूजा करते हैं तो इस का नाम कुत परस्ती क्यों ? और परिचय की तरफ (सक्के की तरफ) मुँहकरके नमाजपढ़ना यदि दिशा पूजन या मूर्ति पूजा नहीं तो हजारी भगवत् पूजा आक्षेप जनक क्यों ?

आज हमारे आर्य समाजी भाई मूर्ति पूजा के विशेष रूप से विरोधी हैं और वह भगवान् की लीलाओं को भी स्वांग ही बताते हैं परन्तु अपने घर में प्रत्येक व्यक्ति स्वामी दयानन्द की मूर्ति रखता है और उस के दिल में जो भक्तिभाव स्वामी जी के लिये भरा हुआ है वह तो स्पष्ट ही है परन्तु यह हमारे सिहरवान् मुँह से नहीं मानते । करते तो आप भी वही हैं जो स्वाभाविक है परन्तु मुँह से नहीं मानना चाहते । मेरे एक समाजी मित्र ने जन्माष्टमी से कुछ दिन पहिले मुझ से पूछा था कि "कहो पंडित जी सनातन धर्मियों की जन्माष्टमी कब है ? मैंने चकित हो कर पूछा है सनातन

धर्मियों की और तुम्हारी नहीं? इस पर यह बोलें कि पूज्य तो हमारे भी है परन्तु हम तुम्हारी तरह उन के स्वर्ग नहीं निकालते, आप तो प्रति वर्ष कृष्ण भगवान् का जन्म करा देते हैं परन्तु हम नहीं कराते। मैंने उत्तर दिया महाशय आप कृष्ण भगवान् का जन्म तो नहीं कराते परन्तु आये सात कार्तिक यदि अनायास को स्वामी जी की स्तुत्य शुरू कराते हैं, सो मुसलमानों के तांजियों और आप के यहां स्वामी जी की बरसी में क्या भेद है? इस पर महाशय की बात टाल गये।

मूर्ति पूजा पर एक भारी प्रश्न प्रायः समाजी महाशयों की तरफसे यह किया जाता है कि साउवजब "पुरुष एवेदपूर्व" और "सर्वं खलिवदं ब्रह्म" इन वेद वाक्यों से सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है तो फिर एक देशी मूर्ति में प्रधान क्यों लगाया जाय इतना नहीं बरन यह भजन नगर कीर्तन और वाचिभोतसत्र पर ना गा कर सम्भते हैं कि बस अब मूर्तिको बिदा कर देंगे।

(क़वाली)

अजब हैरानहूँ भगवान् तुम्हें क्यों कर रिझाऊँ मैं
 कोई वस्तु नहीं ऐसी जिसे सेवा में लाऊँ मैं
 करूँ किस तरह आवाहन कितुम मौजूद होहरजा
 निरादर है बुलाने को अगर घंटी बजाऊँ मैं
 लगाना भोग कुछ तुमको फ़कत अपमान करना है
 खिलाता है जो सबजग को उसे क्योंकर खिलाऊँ मैं
 मुजापं हैं न सीना हैं न जंघा हैं न पेशानी
 कि है निर्लेप नागायन कहाँ बदन लगाऊँ मैं ?
 तुम्ही हो मूर्ती में भी तुम्ही गणपक हो फुलें मैं
 भला भगवान् को भगवान् का क्योंकर चढाऊँ मैं

इन में स्पष्टतया फूल और मूर्ति दोनों को भगवान् मान लिया है और यही कहलवाना हम भी चाहते थे। इन उपरोक्त सब बातों को अक्षरशः सत्य मानते हैं परन्तु पूछना यह है कि क्या यह कथन सुहरयी का है नहीं? कदापि नहीं यह बात संन्यासी कह सकता है सुहरयी नहीं भला क्यों ?

सुनिचे यदि गृहस्थ ऐसा कहता है कि मूर्ति और फूलों में व्यापक होने से फूल की मूर्ति पर चढ़ाना भगवान् को भगवान् पर चढ़ाना है, इस लिये आप के कथनानुसार फूल और चंदन नहीं चढ़ाना चाहिये तो फिर बाकी में बचने से उस के गुण भी नहीं गाने चाहिए, सब जगह है तो नासिका के अग्र भाग में ही ध्यान क्यों लगाए ? (जैसा कि श्री स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है) और वेद मन्त्र क्यों बोलें सन्ध्या क्यों करें ? अग्निहोत्र कैसे करोगे ? (इधन सान्ध्या और अग्नि दोनों में भगवान् हैं तो क्या इधन कर के भगवान् का जलाओगे) गाना क्यों गाते हो बाजा क्यों बजाते हो ? नगर कीर्तन किसका ? और सब से अधिक यह कि आप एक कन्या को बहिन एक को माता और एक को स्त्री नहीं बना सकते (समानरूपेण व्यापकत्वात्) तो फिर क्या इन सब बातों को छोड़ें ? इतना ही नहीं भाई ! तुम अन्न भी क्यों खाते हो ? भगवान् तो अन्न में व्यापक है वेंग ईश्वर को खाकाओगे (इसी से तो हम सब पदार्थों का भोग ईश्वर को लगा कर दीये हुए हो जाते हैं नगर आप के ऊपर यह दोष बना रहा (देखो ईशावासी-पत्तिपद् का पहला मन्त्र) महाशय जी यह कथन-सन्ध्याची का है गृहस्थ का नहीं क्योंकि उसको न कोई नगर कीर्तन करना है और न विवाहादि और न वह अपने को किसी कर्मकारता मानता है। आप कहेंगे कि सनातन धर्मों गृहस्थी भी तो यह सब कर्म करते हैं उनकी दोष क्यों नहीं तो इस का उत्तर ऊपर ही आ चुका है (अर्थात् यह सब काम भगवान् तुम्हीं कर रहे हो तुम से भिन्न मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं इस लिये मैं न तो कर्ता हूँ और न उस का फल भागी, परन्तु सजाजी महाशय जो जीव को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं, वह क्या उत्तर रखते हैं ?)।

सिद्ध भूता जब तक गुरु ग्रन्थ साहज का सत्था उकते और प्रदक्षिण और परिक्रम करते हैं सब तक हिन्दुओं पर मूर्ति पूजा को दूषित सिद्ध नहीं कर सकते जैनी और बौद्ध तो स्वयं मूर्ति पूजा करते ही हैं यह निर्विवाद है ब्रह्म सनातन धर्मों की बातों को लेते हैं तो जब अन्य धर्मों में मूर्ति पूजा स्वाभाविक-कामना सिद्ध हो गई तो वह भी इस के अन्तर्गत ही आलिए। इस लिए सिद्ध हुआ कि मूर्ति पूजा की कामना अनुष्य मात्र में स्वाभाविक ही है और अनिवार्य है। मूर्ति पूजा के विरोधियों को

चाहिए कि वह शान्त चित्त हो कर मेरे इन लेख को पढ़ें और मूर्ति पूजा को वैदिक धर्म मानकर आगे को मगड़ें न बढाईं। मेरे लिए तो आर्य समाज भी मेरा अपना ही आत्मा है इस लिए मुझे जिस से द्वेष नहीं परन्तु सत्य भाषण करना ब्राह्मण का परम कर्तव्य है (और मनुष्यमान का भी धर्म है) इस लिए दो धार जाते साधारण रूप से लिखीं हैं। आशा है कि हमारे ब्राह्मण भाई विशेष रूप से इन पर विचार करेंगे।

ब्राह्मण समाचार सारोख २९ । १० । २० ।

चूतक श्राद्ध का पहले स्वामी जी मानते थे सत्यार्थप्रकाश जी कि श्री राजा जयकृष्णदास बहादुर ने जो सन् १८७५ ई० में बनारस के स्टारप्रेश में छपाया (जो कि उमी सन् का मुद्रित हमारे पास बर्तमान है) उस में देखिये स्वामी जी क्या लिखते हैं।

“अथदेवतर्पणम् ओम् ब्रह्माद्योदेवसुनास्तृप्यन्ताम् ? ओम् ब्रह्मादिदेवतन्म्यस्तृप्यन्ताम् ॥१॥ ओम् ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम् ? ओम् ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम् ? इति देवतर्पणम् । अथर्षितर्पणम् । ओम् सरीच्याद्यक्षयस्तृप्यन्ताम् २ ओम् सरीच्याद्यधिपत्यस्तृप्यन्ताम् २ ओम् सरीच्याद्यधिपुतास्तृप्यन्ताम् २ ओम् सरीच्याद्यधिपितास्तृप्यन्ताम् २ इत्यर्षितर्पणम् । अथ पितृतर्पणम् । ओम् सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम् ३ ओम् अग्निश्वात्ताःपितरस्तृप्यन्ताम् ३ ओम् वहिषदः पितरस्तृप्यन्ताम् ३ ओम् सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम् ३ ओम् हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम् ३ ओम् आड्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम् ३ ओम् सुकालिनः पितरस्तृप्यन्ताम् ३ ओम् यमादिभ्योनमः यमादीस्तर्पयामि ३ ओम् पित्रे स्वधानमः पितरन्तर्पयामि ३ ओम् पितानह्नायस्वधानमः पितानह्नन्तर्पयामि ३ ओम् प्रपितानह्नायस्वधानमः प्रपितानह्नन्तर्पयामि ३ ओम् मात्रे स्वधानमः मातरन्तर्पयामि ३ ओम् पितानह्नी स्वधानमः पितानह्नीन्तर्पयामि ३ ओम् प्रपितानह्नी स्वधानमः प्रपितानह्नीन्तर्पयामि ३ ओम् अश्मन्तपत्यै स्वधानमः अश्मन्तपत्यैन्तर्पयामि ३ ओम् सन्वन्धीभ्योऽसृतेभ्यः स्वधानमः सन्वन्धीन्सृतांन्तर्पयामि ३ ओम् मयोन्नेभ्योऽसृतेभ्यः स्वधानमः सगोत्रान्सृतांस्तर्पयामि ३ इति तर्पणविधिः । पित्रादिको मे जो जोई कीता होय उसका तर्पण न करै और जितने सरगये होय उनकातो अवश्य करै ॥

तर्पण और श्राद्ध में क्या फल होगा इसका यह समाधान है कि तृपतीखने प्रीतन' हृत्तिः । तर्पण किसका नाम है कि तृप्ति को और श्राद्ध किसका नाम है जो श्राद्ध से किंधर जाता है अरे भये जिजादिकों का तर्पण और श्राद्ध करता है उसे क्या आता है कि जीते भये को अन्न और जलादिकों में सेवा अचर्यं करनी चाहिये यह जानना नया दूसरा गुण जिनके ऊपर प्रीति है उसका नाम लेके तर्पण और श्राद्ध करेगा सब उसके चित्त में ज्ञान का संभव है कि जैसे वे नरभये जैसे मुझको भी नरना है नर्य के स्मरण से श्रधर्म करने में भय होगा धर्म करने में प्रीति होगी तीसरा गुण यह है कि दापभाग वाटने में संदेह न होगा क्योंकि इसका यह पिता है इसका यह पितृमह है इसका यह प्रपितामह है ऐसे ही कः पीढी तक सभी का जाल कथंस्थ रहैगा वैसे ही इसका यह पुत्र है इसका यह पौत्र है इसका यह प्रपौत्र है इसे दायमान में कभी भ्रम न होगा चौथा गुण यह है कि विद्वानों को श्रेष्ठ धर्मात्मियों ही को निमन्त्रण भोजन दान देना चाहिये सूखों को कभी नहीं हस्ते क्या आता है कि विद्वान् लोग आजीविकार के बिना कभी दुःखी न होंगे निरिषन्त होके सब शास्त्रों को पढ़ावेंगे और विचारों में सत्य २ उपदेश करेंगे और सूखों का प्रपमान होने से सूखों को भी विद्या के पढ़ने में और गुण ग्रहण में प्रीति होगी ।

सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४२ तथा ४७, ४८

इस समय बारहवीं बारका रूपा सत्यार्थप्रकाश हमारे समने पड़ा है उसके १००वें और १०१वें पृष्ठ पर जो देवतर्पण, श्रापितर्पण और पितृतर्पण लिखे हैं उनसे भी सूतकों के तर्पण की ही सिद्धि भलकयी है— उन्हें जीवित परक पीछे से बताना स्वामी जो की धोंगा धोंगी है । जीवितों के ऐसे तर्पणादि न कभी हुए और न होंगे आर्यसमाज में कितने युवा ऐसे हैं जो सत्यार्थप्रकाशके रीति से तर्पणादि करते हों ? उत्तर मिलेगा शून्य ० तकके ! अथत्वारवाद, तीर्थस्नानादि से धर्मोत्पत्ति, जन्म से वर्षाध्यक्षस्था आदि सब विषय शास्त्रि हूँ युक्ति सिद्ध हैं, सिवाय शास्त्रानभिज्ञों के वा तास्त्रिकों के इन विषयों में किसी को विमतिपत्ति नहीं होती ।

प्राचीन हिन्दूधर्म, लिखटा स्थापन तपस्वी महर्षियों ने दहे विचार से किया है—उसके ऊपर श्री० स्वा० दयानन्द जी महाराज स्वों लठ लेकर दौड़े

और उनका कैसा परिहित है- इस बातको भूमिकाभास लिखकर प्रकाशित कर देना चाहिये- ऐसी विनीत प्रार्थना सदाचारमूर्ति श्री पं० पनश्याम जी शर्मा प्रोफेसर सैण्ट जॉन्स कॉलेज आगरा और उनके सहयोगी परिहित जी से मैंने की थी, ईश्वर के अनुग्रह से वह आज पूरी हुई इस ग्रन्थ के प्रकाशन से सनातनधर्म की सेवा किसी अंश में की हुई तो मैं अपने आपको "सामासत्योक्तिः परिपातु विश्वतः" कृतकृत्य समझूंगा ।

विनीत निवेदकः—

राधाचरण शर्मा

सन्त्री सनाढ्योपकारिणी सभा धौलपुर -

स्टेट (रामपूताना)

(नोट) यदि इस पुस्तक की यथार्थ सनालीचना वा खण्डन (जिसकी मुझे आशा नहीं) कोई गुरुकुल-कांगड़ी (हरद्वार) गुरुकुल वृन्दावन, वा महाविद्यालय जवालापुर (हरद्वार) के परिहित वा सनातक देंगे तो मैं उन्हें धन्यवाद ही देकर सन्तुष्ट न रहूंगा किन्तु परिहितराज के शब्दों में यह कहूंगा कि "निर्मलसरो यदि समुद्ररथं सिद्धयात्तस्याहमुक्त्वलनतेश्चरणी बहानि ॥

सनातनधर्म का तुच्छ सेवक

राधाचरण शर्मा

—:—



धन्यवाद और प्रार्थना ।

इस पुस्तक के संस्कृत भाग के अनुवाद करने में श्री पं० चिरंजीवलाल शर्मा हेतु पंडित संस्कृत हाईस्कूल देहली ने बहुत परिश्रम किया है इस लिये मैं उनका बहुत कृतज्ञ हूँ और उन्हें बहुत र धन्यवाद देता हूँ । यद्यपि स्थाने र मुद्रणालय के कर्मचारियों की अनवधानता से तथा टाइप की मात्रादि के टूट जाने से ग्रन्थ में बहुत सी अशुद्धियाँ होगईं जिसका हमें दुःख है और जिनके कारण हमें शोधन पत्र लगाना पड़ा, तथापि पाठकों से विनम्र भाव से प्रार्थना है कि वे ध्यान पूर्वक पढ़ें उन्हें साधारणत्रुटियाँ मालूम होलायगी । जो माननीय विद्वान् हमें इस ग्रन्थ के विषय में किसी प्रकार की उपयोगी सूचना देंगे तदनुसार अगले संस्करण में हम उनका धन्यवाद नाम निर्देश करके ग्रन्थ की सुधरवस्था करने का यत्न करेंगे

राधा चरण शर्मा

धीलपुर स्टेट



अगाधमेधसर्वतन्त्रापरतन्त्रप्रतिप्रपुण्यपाद
श्री १०८ पं० काशीनाथ जी महाराज की सम्मतिः

श्री हरिः

अर्थेदं विदितमस्तु ।

शेषतः श्रीसकालिनसंज्ञकमहाविद्यालयसंस्कृतनि
युशाध्यापकेन (प्रोफेसरेश) सनातनधर्मोद्धारणार्थीतदीक्षके,
इटावानगरीयविद्यापीठमहोपदेशकेन सनातनविप्रमणहली-
लक्ष्यप्रतिष्ठान आगरानगरमल्लकुर्वंताश्रीयुतपविष्टवर धन-
श्यामशर्मणा निर्मितः स्वामि दयानन्दसरस्वतीसंस्थादित-
श्रग्वेदादिभाष्यभूतिकाखण्डनरूपीभूतिकाधिकारापरपर्यायी
भूतिकाभासनामाय ग्रन्थः सनातनधर्मतत्त्वं बुभुक्षुर्ना महो
पकारीति प्रचारार्हः । अत्रहि अग्वेदादिभाष्यभूतिकाकृतो
नद्विज्ञानं दर्शितमिति परासृशति यलियाप्रान्तिनिविष्ट-
काताप्रानवास्तव्योऽधुना काशीवासी पं० काशीनाथइति ॥

*** समर्पणम् ***

उद्यचारुचरित्राचित्रितजगतप्रोद्बुष्टकीर्तित्रजो-
दक्षस्यात्मजयार्धपूरिततनुर्यत्रांशतो राजते ।
यञ्चाश्रित्य सरस्वती भगवती मोमुद्यते पद्मया
भानुर्धौलपुरेश्वगेविजयतां सिंहान्तनामाप्रभुः

श्री १०५ नान्

हिज हाइनेस कर्नल महाराजाधिराज

महाराज श्री उदय भानुसिंहजी महोदय

धौलपुर नरेंद्र ।

आप की सनातन धर्म में अतिशय अद्भुत और प्रला-
पालन दक्षता आदि विविधसद्गुणों के कारण, यह वि-
द्वत्तापूर्ण ग्रन्थ करकसलों में प्रेस पूर्वक समर्पित है ।

आप का शुभाकांक्षी

राधा चरण शर्मा

सन्तरी सनाह्य सभा धौलपुर स्टेट

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ से	पृष्ठ तक
नङ्गलाचरणा	१	३
भूमिका के पहले पद्यों की समीक्षा	३	१६
हैश्वरप्रार्थनाविषयसमीक्षा	१६	२४
वेदीत्पत्तिविषयसमीक्षा	२५	५२
वेदानित्यत्व विचार	५२	७०
वेदविषयविचारविषय	७०	१६१
वेदसंज्ञाविचार	१६१	१७७

पूर्वभाग समाप्ति

और उत्तर भाग का प्रारम्भ

सृष्ट्यादिविषयकवेदनल्लार्थ समीक्षा	१७८	१८८
लोकम नशाविषय	१८८	२०१
हैश्वरस्तुत्यादिसमालोचन	२०१	२२६
सुक्तिविषयसमीक्षा	२२६	२३८
गौविनानादिप्रक्षुयज्ञान्तविषय	२३८	२४१
ग्रन्थमासाशयाप्रानाशय विषय	२४३	२५८
अधिकारानधिकारविषय	२५८	२६८
भाष्यपरशश्रद्धासमरधानादिविषय	२६८	२७२

❀ श्रीहरिः शरणां ❀

भूमिकाभासस्य पूर्वभागः

—>>>❀<<<—

ॐ तत्सत्

ॐ पूर्णामदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ शान्तिः ॥

❀ मङ्गलाचरणम् ❀

सर्गस्थितिप्रलयहेतुमुपेन्द्रमुख्यैः
संसेव्यमानचरणं शरणं सुनीनाम् ॥
पूर्वं कृतानिदुरितानि विमार्ष्टुकामः ।
श्रीशङ्करं भुवनशङ्करमाश्रयेऽहम् ॥१॥
त्रित्रायतां हरविरिञ्चिकिरीटकोटि-
व्याटीकमानसुरसिन्धुमणिच्छटाभ्याम् ॥
नीराञ्जनाञ्चितपदा सुषमादयाभ्यां
संशोभिता शुभवतो भवतोऽत्रकाचित् ॥२॥

पूर्वकृत पापों के नाश से शुद्धि चाहता हुआ मैं भगवान् श्री शङ्कर (शिव) का जोकि संसार की रचना, पालन और प्रलय के हेतु, विष्णु आदि देवों से पूजित, मुनिजनों के रक्षक और जगत् का कल्याण करने वाले हैं आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥१॥

श्री शिव और ब्रह्मा के मुकुट की कोटि में लगी हुई श्री गङ्गा और मणि की छटाओं से—आरती करने पूर्वक जिसका पद पूजित है, परम शोभा

गुरुस्मरणम् ।

यत्पादसेवासुखभादधानाः सुधःभुजां घाम न कामयन्ते ॥
 श्रीकाशिनाथांघ्रिविशिष्टभक्तिःश्री१०८काशिनाथः संशिवंतनोतु१
 नहि ममहृदयेऽस्ति पक्षपातोऽप्यथवा द्वेषविधानमत्र किंचित् ।
 श्रुतिशास्त्रसुयुक्तिमुक्तमत्रप्रथितं तत् प्रविलोकयन्तु विज्ञः ॥१
 भुविसन्ति बहुत्र सर्वपक्षे सदसच्चारुविचारचातुरीकाः ॥
 ननुगद्यमयं प्रबन्धमेतं परिपश्यन्तु विहाय पक्षपातम् ॥२॥
 मतिरस्ति न मे विशुद्धरूपा सहजा पट्टितरा विचारणा वा ।
 मयिकीदृगनुग्रहो गुरुणामिति संदर्शयितुं मे प्रयासः ॥ ३ ॥

और दया से जो शोभित है वह कोई अनिर्वचनीय चैतन्य अर्थात् विष्णुरूप
 तेज शुभभाग्गशील आप लोगों की रक्षा करे ॥२॥

गुरुस्मरणम्—

जिनकी चरण सेवा के सुखको धारण करते हुए भद्रजन अनृतभोजी
 देवताओं के स्थान (स्वर्ग) की भी इच्छा नहीं करते,—जो शिव चरनों के
 अनन्यभक्त हैं वे श्रीकाशीनाथ जी सुख का विस्तार करें ॥१॥

मेरे हृदय में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं और न द्वेषबुद्धि से इस
 ग्रन्थ में कुछ विधान किया गया है । जो कुछ इस में निर्माण किया है वह
 वेद एवं अन्यान्य धर्मशास्त्र के ग्रन्थों की युक्तियों से युक्त है,— उसे विज्ञान
 अवलोकन करें ॥१॥

पृथ्वी पर भिन्न २ जतों का अवलम्बन करते हुए भी सब और सदसत्
 के शुभविचार में प्रवीण अनेक भद्रजन हैं, वे पक्षपात को छोड़ कर गद्यरूप से
 रचित इस ग्रन्थ को देखने की अवश्य कृपा करें ॥२॥

मेरी बुद्धि विशुद्ध; स्वाभाविक चातुर्योदि गुणों से युक्त और विचार-
 शीला जैसी कि दोनों चाहिये नहीं है, पर भूक पर गुरुजनों का कैसा अनु-
 ग्रह है वह दिखलाने के लिये ही मेरा परिश्रम है ॥३॥

* इने ऋषिकल्पः सर्वतन्त्रापरतन्त्राः बलियाप्रान्तान्तर्गतबाताग्राम-
 धारस्तव्या हृदानों काशीसंलकुर्वन्ति ।

निगमेषु कृतश्रमाः मदीयं श्रममेतं दयया कृतार्थयन्तु ।
 प्रबलादृष्टिविजृम्भणं तदेतत् क्षमणीयं खलुबालनापलं मे । ४।
 विधिरस्तु महान् महेश्वरो वा कलिकालप्रभवो यतीश्वरो वा ।
 श्रुतिमार्गविधातको यदिस्यान्नहि धाष्ट्यं प्रभवामितस्यसोढुम् ५

'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' अभिधं ग्रन्थकारिणस्सुन्द्री दयानन्दो दयाली-
 परेशस्य सङ्गलसूत्रे भगवतः स्मरणशयाजेन क्वानिचित् पद्यानि ग्रन्थादा-
 वेव जगन्मथ । तत्रः— "ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शोश्वतं विद्या यस्य
 सनातनी निगमभूद्रक्षैधर्म्यं विधेयसिनी । वेदाख्या विमला हिता हि जगते
 नृम्यः सुभाष्यप्रदा, तन्नत्वा निगमार्थभाष्यभतिना भाष्यंतु तन्तन्यते ॥ १॥"
 इति, अथनस्ति तत्कृती साक्षान्नङ्गलरूप एवादिमः श्लोको यस्यावलोकन-
 मात्रेण सकृदेव प्रकटीभवति सहृदयहृदयता, परिचीयते च साहित्यशास्त्र-
 परिज्ञानं, संस्तूयते खलु वेदभाष्यसम्पादनयोग्यता तस्य महाभागस्य ।
 अहो ! प्रथमघास एव सत्तिकाविनिप्रातः । हा हस्त शब्दार्थबुद्धिलतिका
 गुणचित्ताने दण्डिनोऽस्यौदण्ड्यदण्डप्रहारः ।

वेदादि शास्त्रों में जिन्होंने न परिश्रम किया है वे विद्वान् लोग दया
 करके मेरे इस परिश्रम को कृपार्थ करें और बालभाव से हुये चापल को
 क्षमा करें ॥ ४ ॥

ब्रह्मा हो या शिव अथवा कलिपुत्र में उत्पन्न हुआ कोई यतीश्वर
 (संन्यासी) यदि वह वेदमार्ग-का विधातक है तो हम उसकी धृष्टता को
 सहने के लिये समर्थ नहीं हैं ॥ ५ ॥

अर्थ— 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' नामक ग्रन्थ को आरम्भ करते हुए
 स्वामी दयानन्द जी ने जगदीश्वर, आनन्द स्वरूप परमात्मा के स्मरण के
 सहाने से कुछेक श्लोक ग्रन्थ के आदि में ही निर्माण किये हैं, उन में—

'ब्रह्मानन्तमनादि०—

यह पदला ही श्लोक उनकी रचना में सङ्गलाचरण रूप है, जिसके देखने
 मात्र से एक बार ही उस महानुभाव के पाण्डित्य, साहित्य शास्त्र के ज्ञान
 और वेदभाष्य रचने की योग्यता का परिचय अच्छे प्रकार मिल जाता है ।

अयि विविधशास्त्रकलाकलापसर्गज्ञा, विज्ञाः श्रीमन्तो भवन्तोऽप्यत्र
 ननाग्दत्ताद्यवनाः पद्यमिदं विचारयन्तु, यद् भगवतो ब्रह्मणोनादिविशि-
 षयां श्रुत्वापि किंफलकन्तावद्गविशिषयां व्याजहार । तथा त्रिकालायाधि-
 तस्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तकेन सत्यत्वेन विशेष्यापि शाश्वतपदं किमर्थं निहि-
 तवान् । विमला जगते हिता वेदाख्या विद्या स्वतोभिन्नान् फांस्कान्तिर-
 नान् विभर्तीत्यपि विचारणीयम् । 'हि' 'तु' शब्दां च किमर्थं गुपयन्ती ? ।
 निगमार्थभाष्यमतिनेत्यत्र निगमार्थस्य भाष्ये कामना उत निगमभाष्ये ?
 आद्यैनेतिक कृतः सोर्थो यस्य भाष्यचिकीर्षा जागरूकतानाप तत्र भवद् हृदये
 किञ्च तदर्थं भाष्यं किं स्वरूपमित्यपि जिज्ञासास्पदम् ? निगमस्य भाष्य एव
 यदि सा तदर्थं शब्देनान्तर्गुभूतेन किं कृतम् । किमतिप्रल्लावितेन भुत्सु
 केवलेपि पद्ये शब्दार्थदोषबाहुल्येनाविभूय शोच्यतां नीता भगवती कविता

आश्चर्य्यं ही पहले ही । स में सक्की ध्यान पड़ी । हा ! शोक है कि शब्द
 और अर्थों को प्रकाशित करने वाली बुद्धि रूप लता (जेल) के गुण रूपी
 गुच्छे पर इस दृग्ही का चट्टपडता से भरा हुआ कैसा दृग्द महार हुआ है ।

अनेक शास्त्रों की विविध कलाओं के नर्म को जानने वाले विद्वान् लोगो-
 श्राप भी इस ओर ध्यान देकर इस पद्य को जरा विचारिये तो सही कि
 भगवान् ब्रह्म को 'अनादि' विशेषण देकर भी फिर 'अज्ञ' विशेषण देने से
 क्या लाभ ? जब कि 'अनादि' पद से ही 'अज्ञ' शब्द का अर्थ भी चारितार्थ
 हो जाता है, तब अज्ञ शब्द का विशेषण सर्वथा व्यर्थ है । और तीनों कालों
 में स्वस्वरूप में किसी प्रकार की बाधा न आना ही 'सत्य' शब्द का अर्थ है ।
 उसी अर्थ को लेकर प्रवृत्त होने वाले सत्य शब्द का विशेषण देकर फिर
 'शाश्वत' पद क्यों रखे ? यह भी विचारणीय है कि निर्मल और जगत् का
 हित करने वाली वेदविद्या अपने से भिन्न किन र. निगमो (वेदों) की धारण
 करती है ? 'हि' और 'तु' ये दोनों शब्द जो कि निरर्थक ही हैं क्यों रखे ?
 'निगमार्थ- भाष्यमतिना, यहां पर यह स्पष्टव्य है कि 'वेदार्थ भाष्य' करने में
 आपकी कामना है या 'वेदभाष्य' में ? यदि यह कही कि वेदार्थ भाष्य की
 कामना है तो क्या वह अर्थ आपने किया जिसके भाष्य की इच्छा आपके
 हृदय में जागृत हुई ? यह भी बतलाना चाहिए कि वेदार्थ भाष्य का स्वरूप
 क्या है ? यदि वह कामना वेदभाष्य की है तो निगम और भाष्य के बीच

यद्वलोकनजातदयावशंवदां वयं त्वित्यमेव सकरोत्क्षेपं समुक्तकरुणं च भाव-
विदो विदुषः प्रति खदानः —

कविता कासिनीं हन्त रसभावविदप्रियाम् ।

विरक्तः कामचक्रमुग्धो दुनोति त्रायतानियम् ॥

“कालरामाङ्गचन्द्रेन्द्रे भाद्रसांसे रसिते दले । प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्या-
रम्भा कृतो नया ॥२॥”

इत्येनापि तृतीयद्वितीयवृत्तेन वृत्तभाष्यमेव वैदुष्यं स्वानिभहोदयस्य
'कालरामाङ्गचन्द्र-मितेन्द्रे इति वक्तव्येकालादिभिरेव केवलैः समुच्चुक्ते
विवोधयितुं यत्सरमानम् । 'द्विचित्रेयं' सफरिणोरस्य वचोभङ्गिः, अद्भुतञ्च
कवितासाहसिक्यं, छन्दः परिज्ञाने प्यप्रभवन् कथं नान् भटिति कवने प्रवृत्ति
विदध्यात् यदि कश्चिद्भवेत्सविचारः । 'प्रतिपद्यादित्यवारे, चरणां पञ्चमा-
क्षरं गुणरां भाषयन्ननवहेलितोनेन भगधाम् पिङ्गलाचार्योपियः सर्वत्र श्लो-

में ग्रन्थि (गांठ) के समान उर्ध्वं पड़े हुए अर्थ शब्द ने क्या किया विद्वानों के लिए अधिक क्या लिखें केवल पद्या में ही शब्द और अर्थ के दोषों की इतनी भरमार है कि उसने प्रकट होकर कविता देवी को उर शोचनीय दशा में पहुँचा दिया है कि जिसे देख उत्पन्न हुई दया के बशीभूत हुए हम हाथ चठा कर और खुले फसठ से साहित्य शास्त्र का ज्ञान रखने वाले विद्वानों से चही कहते हैं :-

शृङ्गारादि रसों के मर्म को जानने में रसिक एवं चतुर पुरुष की प्राण-
प्रिया कविता रूपी कासिनी शोक है कि एक ऐसे पुरुष से सताई जा रही है
कि जो प्रेम रस शून्य और भोग विलासों में अनभिन्न है, अतः इस बेचारी
दीन की रक्षा कीजिए ॥

काल रामति- उनके इस दूसरे श्लोक से भी स्वामी महोदय का पाहि-
त्य अच्छे प्रकार विदित हो गया । 'कालरामाङ्गचन्द्र मितेन्द्रे' ऐसा कहना
उचित था । स्वामी जी महाराज केवल 'काल' आदि शब्दों से ही संवत् के
मान का बोध कराने के लिए उद्योग करते हैं । इनकी यह सुटिल वाक्य-
रचना चालुरी बड़ी विचित्र है और कविता करने का साहस भी अद्भुत ही
है । छन्दः शास्त्र के ज्ञान में असमर्थ भला कोई क्यों कर एकदम कविता
करने में प्रवृत्त हो सकता है ? यदि वह विचार शील ही । 'प्रतिपद्यादित्य-

के पञ्चमं वर्षं लघु निधेयमिति समादिदेग । श्रुतबोधविज्ञोपि (पञ्चमं लघु) सर्वत्र लघु पञ्चमम्, इति विलानानो नैर्धविषांशुटिं कुर्यात्, किमुन महवि-
पदाभिधेयः कोपि । 'भाष्यारम्भः कुतोभये' त्यत्रापि प्रकृत्याः श्रीमन्चरणाः-
किनारम्भशब्दं श्राद्धकृतिं नावबोधयति यत्तत्र 'कृत' उत्युक्तम् । 'भाष्यमा-
रभ्यते मया' इति तु सुवचम् ।

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वार्गविन्दितः,
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति हिताहीशशरणा ।
इयं ह्यातिरिपस्य प्रतप्तसुगुणा वेदननना,
स्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति घोढ्ढवननचा ॥ ३ ॥

इत्यर्थं तृतीयस्तदीयः श्लोकः । अस्य च 'दयायापनः स्यात्गविन्दित आनन्दो
विलसति अस्याग्रेहिता हि ईशशरणा सरस्वती निवसति यस्य प्रतप्तसुगुणा
वेदननना इयं ह्यातिरिपसि अनेनेदं भाष्यं रचितम् इति अर्था योढ्ढव-
नित्य वान्धवः । शिखरिणीयं रहसि समुपविश्य समाहितचेतसा तत्रभवता

वारे, इन चरक में पांचवें 'दि' अक्षर को 'संयोगे गुरु' इस नियम से गुरु
रखते हुए स्वामी दयानन्दजी ने भगवान् पिङ्गलाचार्य का भी अनाद कर
दिया, अतः "सब जगह श्लोक में पांचवाँ अक्षर लघु रखना चाहिए" यह
उपदेश दिया है। केवल 'श्रुतबोध' पढ़ा हुआ भी 'सर्वत्र लघु पञ्चमम्' अर्थात्
सब जगह पांचवाँ अक्षर 'लघु' होना चाहिए। इस नियम को जानने वाला
इस प्रकार की जोड़ी भूल नहीं कर सकता- फिर भला कोई महवि ऐसी भूल
क्यों करे ल है। 'भाष्यारम्भः कुतोभया' यहाँ पर भी स्वामी जी
महाराज से पूछना चाहिए- क्या केवल आरम्भ शब्द ही इस अर्थ का बोध
नहीं करा देता कि यह नवीन रचना की जारही है? जिससे कि वहाँ आपने
'कुनः' यह शब्द और रक्का । 'भाष्यमारभ्यते मया' वस, इतना ही कहना
पर्याप्त था । -

दयाया इति-यह स्वामी जी का तीसरा श्लोक है। पाठकगण ! (ऊपर
मूल में) ध्यान देकर देखें कि जो अन्वय इसका किया गया है वही ही
सकता है। सालून होता है आपने यह शिखरिणी कहीं एकान्त में बैठ कर
बड़े सावधान चित्त से बनाई है, नहीं तो जिसका अभिप्राय कठिनता से भी
सालून न हो सके और जिन का सम्बन्ध ठीक र न लग सके ऐसे पदों से

द्वयर्षीति प्रतिभाति । अन्यथा दुर्ज्ञेयाकृतविशेषजुष्टं दुरधिगतसम्बन्ध-
पदालिखिशिष्टं कथंकारं काव्यवस्तु तादृशं प्रादुर्भवेत् शास्त्रदृशे रस्नादृशै-
श्वरं इह सावधानं विचारितापीयं न स्फुटायांभूत् । किञ्च आनन्दस्य स्वात्म-
विदितत्वमपि नाद्यावधि प्रतिपन्नम् किमानन्दशब्दः स्वात्मविदितस्तदर्थो
वा ? शब्दश्चेत् तत्प्रकारविदितेभ्य स्तदतिरिक्तशब्देभ्यः को विशेष स्तत्र,
यत्तदुपन्यासः । अर्थश्चेत्स्वात्मविदित स्तर्हि कृतं शब्देन निष्प्रयोजनेन ।
दयानन्देतिनामबोधनाय प्रवृत्तस्य भक्तो नवरत्नं कृतो यत्रो मूर्धेवान्तं
जगामेतिखेदा न्मौनमेव भवान्भजताम्, तदेवनः श्रेयस्करं भाति भवते । अपि
च 'यस्य अर्थं सरस्वती निरुक्तविशेषणविशिष्टानिवसति' सत्यं, इदं य
ज्ञमसुक्तवानसि, यस्याग्र एव सरस्वती निवसति न पुरतः । ज्ञानयं दशही

भरी हुई भला इस अलौकिक कविता का प्रादुर्भाव कैसे होता ? हम और
अन्यान्य भी विद्वान् लोगों ने जो कि शास्त्रज्ञ हैं बहुत काल तक और बड़ी
सावधानी से इसे निचारा परन्तु इसका अर्थ स्पष्टरूप से विदित न होसका
और यही नहीं किन्तु आनन्द का स्वात्मा में विदित होने का अभिप्राय भी
अब तक समझ में नहीं आया । न जालून स्वामी जी ने अपने आत्मा में
विदित होने का तात्पर्य आनन्द शब्द से रक्खा है अथवा उस के अर्थ से ?
यदि शब्द से कहो तो उस प्रकार के जाने हुए उस के अतिरिक्त और शब्दों
से आनन्द शब्द में क्या विशेषता है कि जिस से उस का वहां ग्रहण किया ?
यदि यह कहो कि स्वात्मविदित का तात्पर्य आनन्द शब्द के अर्थ से है तो
किर निष्प्रयोजन शब्द से क्या लाभ ? शोक है कि 'दयानन्द' इस नाम के
जतलाने में लगे हुए आप का लगातार का किया हुआ यह अथवा
परिश्रम व्यर्थ ही नष्ट हुआ इस खेद से बस अब आप को मौन ही धारण
कर लेना चाहिए यही हमें आप के लिए श्रेयस्कर प्रतीत होता है । स्वामी
जी महाराज का एक और भी रहस्य देखिए जो कि बड़ा ही विचित्र और
मनोरञ्जक होता हुआ यथार्थ ही है — 'जिस के आगे अर्थात् जिसके जन्म से
पहले ही 'निरुक्त' में बतलाये हुए विशेषणों से युक्त सरस्वती रहती थी,
ज्ञानने नहीं यह दशही (संन्यासी) दण्ड लेकर मुझ पर कठोर प्रहार (चोट)
करेगा और मेरे अङ्गसे ही खोड़ने के यत्न में लगेगा यह समझ, चारों ओर
आंखों की फाड़ फाड़ कर देखती हुई जो व्याकुलतावश होता हुआ भी जब

दण्डमादाय निष्ठुरं प्रहरिष्यति, समूलक्षोन्नूलपिष्यतीति साहाय्यसपश्यन्ती
भीता कुङ्कुवी वराकी सरस्वती विस्फारितनेत्रा तूष्णीमेवान्तर्दधे दयानन्द-
जनेः पूर्वमेव । अग्र शब्दो हि पूर्वार्थान्निर्धायी, "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्"
अग्रजन्मे त्यादि वैदिकग्रन्थप्रयोगदर्शनात् । अथास्थुपगमवादेन भाव-
तन्मभिप्रायं स्वीकृत्यापि सरस्वतीपदप्रयुक्तिनोत्पश्यामः सञ्ज्ञसाम् ।
विष्णुप्रणाविनी वाग्देवतेधमितिचेन्न कपोलकल्पितत्वाद् भवन्नये तस्याः ।
वाङ्मात्रवाच्यसि सति चेतदपिन, ततोपि भवद्भिमतसिद्धरभावात् । ईश-
शरयो ट्यादि विशेषणवैषय्याच्च । 'प्रततसुगुणा' वेदमनने ति रुपाति विशेषण
द्वयमपि सर्वथासारप्रायमेवभारति, तत्रातिशयविधानविरहात् । किं बहुना
बाललालितमेवानपाकृत्याकृतमिति ।

मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः ।

ईश्वरानुपहृषोदं वेदभाष्यं विधीयते ॥४

कोई सहायक न दीख पड़ा तब भयभीत सृष्टी के मनान वेचारी सरस्वती देवीं
दयानन्द जी के जन्म से पहले ही झुपकाप यहाँ से चल बसी । 'अग्र' शब्द
पूर्व अर्थात् 'पहले' इस अर्थ का कथन करने वरला है, यह — "सदेव सौम्ये-
दमग्र आसीत्" अर्थात् हे सौम्य ! यह जगत् सृष्टि से पहले ब्रह्म रूप था ।
इत्यादि अनेक वैदिक प्रयोगों में देखा जाता है । इस से यह आशय स्पष्ट
सिद्ध हो जाता है कि अग्र शब्द पूर्व समय का बोधक है, सन्मुख का नहीं और
थोड़ी देर के लिए इस सिद्धान्त को मान लेने से आप का अभिप्राय स्वीकार
करके भी हमें सरस्वती पद का प्रयोग उचित प्रतीत नहीं होता । क्यों कि
इस सरस्वती को यदि विष्णु प्रिया वाग्देवी मानें तो भी ठीक इस लिए नहीं
कि वह तो आप के मत में कपोलकल्पित है और यदि यह कही कि हम
तो दासों अर्थात् मुख से जो वचन उच्चारण किया जाता है उसे सरस्वती
मानते हैं तो इस से भी आप का मनोरथ सिद्ध नहीं होता । और उस के
'ईशशरया' इत्यादि विशेषण भी व्यर्थ ही हैं । इसी प्रकार 'रुपाति' पदके
'प्रततसुगुणा' 'वेदमनना' ये दोनों विशेषण भी सर्वथा निस्सार ही प्रतीत
होते हैं क्यों कि इन में किसी विशेष अर्थ का विधान नहीं बहुत क्या कहें ?
इस करतूत से बाल लालन ही किया है ।

मनुष्येभ्यो हितायेति- हित शब्द जिस अर्थ को लेकर प्रवृत्त होता है

हितशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमज्ञानतैवात्रभवता ' हितायै ' तिनिबद्धमिति
प्रतीतः । अन्यथा 'हितशब्देनैव केवलेनाभिप्रेतसिद्धेः । सत्यार्थमितिपदं
निधाय 'सत्यमानत' इति न रसणीयरूपम्, निरर्थकत्वात्तस्य । तथा एव
शब्दोपि सुधास्थितिक एवाभाति, अवधारणाद्यर्थस्य प्रयोजनाभावात् ।

संस्कृतपाकृतार्थ्या यद् भाषाभ्यामन्वितं शुभम् ।

मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ् मया ॥५॥

अहो वैयात्यं मस्करिमहाशयस्यास्य, यद् व्याकृतितन्त्रबोधगन्धशून्य-
धीरपि वेदभाष्य उत्तिष्ठते । भगवति देववाणि काममधुना ते दशा दयनी-
योस्ति संवृत्ता, यत्तावकीर्णं सुसंस्कृतं रूपं विविधदोषदूषितं कर्तुं समुत्तु-
ञ्जते दोषज्ञानन्यां धर्मध्वजसूर्धन्याः केचन । अहो नु खलु भो ! धर्मतत्त्वं
व्यवश्यमानाः कृतसाधुवेषमानां घञ्चित्ता अद्य तपस्विनः । अयि पक्षपात-
पङ्कविरहितदृशो विद्वद्भिः शोऽत्र भवन्तो भवन्तो विदाङ्कुर्वन्तु हृद्यं पद्यनिदं
यत्र प्रथममेवाशुद्धिलतिक्रिया महत्तं व्याकरणात्कृत्वाहितसौन्दर्यपुषि गीर्वा-

उसके निमित्त को न जानते हुए ही आपने 'हिताय' यह चतुर्थ्यन्त पद
रखा है। नहीं तो 'हितम्' ऐसा लिखते, क्योंकि केवल हित शब्द से ही
आपका अभिप्राय सिद्ध हो जाता। 'सत्यार्थम्' यह पद रखकर, फिर 'सत्य-
मानतः' इस पदका प्रयोग मनोहर नहीं, क्योंकि वह निरर्थक है। इसी
प्रकार 'एव' शब्दभी व्यर्थ ही जान पड़ता है, किसी निश्चय करने आदि अर्थ
का प्रयोजन न होने से।

संस्कृतपाकृतार्थ्यामिति- आश्चर्य है और बड़े शोक की बात है। इन
स्यामी जी महाराज की धृष्टता तो देखो कि जिनकी बुद्धि में व्याकरण शास्त्र
के दोष की गन्ध भी नहीं और वेदभाष्य करने के लिये खड़े हो गये। देवि !
संस्कृत वाणि ! निश्चय अब तेरी दशा दयायोग्य होगई, क्योंकि अब अपनेको
परिदेत मानने वाले, पाखण्डियों में शिरोनखि कीई २ तेरे निर्मल स्वरूपको
अनेक प्रकार के दोषों से दूषित करने के उद्योग में लग गये हैं। अहो ! शोक
है, कि धर्म के तत्त्वका हस्तागुस्तो मचाने वाले और साधु वेष बनाकर मान
कराने वाले तपस्वी लोग अब ठगे गये। पक्षपातकी दृष्टिसे रहित विद्वज्जनों !
आप लोग इस मनोहर पद्यको अवलोकन कर विचारे कि जिस में पहले ही
अशुद्धि रूप छुरी से व्याकरण और अलङ्कारादि से स्थापित सौन्दर्य से सब

शीवपुषि । संस्कृतशब्दात् स्त्रीद्योत्ये 'अजाद्यतष्टाप्' इति सूत्रेण टापिकृते 'संस्कृता' इति, प्रकृतेरागता इत्यर्थविवक्षायाश्चापि कृते टिहृदेत्यादिना स्त्रीपि प्रत्यये पूर्वस्याचो वृद्धौ कृतायां 'प्राकृती' इति च रूपसिद्धिः । इतरै-
तरयोगद्वन्द्वे च कृते 'संस्कृताप्राकृतीभ्याम्' इत्येष रूपं साधु भवति । परं 'संस्कृतप्राकृतीभ्याम्' इति वदती दयानन्दस्योद्भूतपाण्डित्ये नास्ति
विदुषां सन्देहस्तत्रापि । यतोहि सर्वथाऽपरतन्त्रप्रकृतयो योगिनो भवन्ति ।
किमिति व्याकृतितन्त्राधीनतामपि ते स्वीकुर्युः । किञ्च यद्विधे सन्त्रार्थवर्णनं
भाष्ये तदपि सदसद्विचारवद्विविद्धिः समालोचनीयम् । अपिच सन्त्रार्थ-
वर्णनं किं भाष्याद् भिन्नं ? तत्स्वरूपं वा ? भिन्नं चेत् सत्किमात्मकमिति
वक्तव्यम् । अभिन्नं चेत् द्वाभ्यां शब्दाभ्यां कथनं व्यर्थमेव सर्वथापि । किञ्च
वर्णनपदस्यापि व्याख्यापरत्वात् सन्त्राणां तत्र व्याख्यानं न क्रियते, उतार्थस्वी-

घजे सरस्वती के शरीर पर कौसी चोट की गई है । संस्कृत शब्द से स्त्रीलिङ्ग
वाचक अर्थ प्रकाशित करनेमें 'अजाद्यतष्टाप्' इस सूत्र से टाप् प्रत्यय करने पर
'संस्कृता' ऐसा रूप होता है और 'प्रकृति से आई हुई' इस अर्थ के कहने
की इच्छा में 'अण्' प्रत्यय कर लेने पर 'टिहृदे'त्यादि सूत्र से 'स्त्रीप' प्रत्यय
और पहले अण् की वृद्धि करने से 'प्राकृती' यह रूप सिद्ध होता है । दोनों
का 'इतरैतरयोगद्वन्द्व' समास करने पर 'संस्कृताप्राकृतीभ्याम्' यही शुद्ध
रूप होता है । परन्तु 'संस्कृतप्राकृतीभ्याम्' ऐसा रूप कहते हुए स्वामी
दयानन्द जी के उक्त कोटि के पाण्डित्य में किसी विद्वान् को लेशमात्र भी
सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि जब योगी लोग सब प्रकार स्वतन्त्र प्रकृति
(स्वाधीन स्वभाव) के होते हैं तब वे व्याकरण शास्त्र की भी अधीनता
क्यों स्वीकार करने लगे हैं वसु, समयानुसार जैसा समझ में आया, लिख
नारा चिन्ता भी क्या है ? और भाष्य में जिस ढंग से सन्त्रार्थ वर्णन किया
गया है अच्छे धुरेका विचार रखने वाले विद्वानों की उसकी भी समालोचना
करनी चाहिये । प्रथम उक्त में यही प्रष्टव्य है कि सन्त्रार्थवर्णन अर्थात् सन्त्रों
के अर्थ की व्याख्या भाष्य से भिन्न है ? अथवा भाष्यस्वरूप ही है ? यदि
भिन्न है तो कहिये कि उसका स्वरूप क्या है ? यदि भिन्न नहीं अर्थात्
भाष्यस्वरूप ही है तो सन्त्र और अर्थ इन दो शब्दों से कथन करना सब
प्रकार व्यर्थ ही हुआ । कृपा कर यह भी तो कहिये कि जब 'वर्णन' पदकी

तद्यपि संशयास्पदमेवेत्यलं बहुप्रपञ्चन । यथा यथात्र विचारः क्रियते तथा तथा महर्षेरस्य प्रागल्भी संस्तवः प्रस्फुरन् ब्रह्मादिव संन्यासिजनोचितान्माना-
दप्यपहस्तयति नः ।

“पूर्वमेव नयाज्ञातं, पूर्णमेतद्धि नोदसः ।

अनुभविष्य-विद्यातं, यावच्चर्म च दासु च ॥”

इत्युक्तिः कस्यचित्कवेरत्र साथ संगच्छते ।

अपिच :-

‘आर्याणां मुन्युषीणां वा व्याख्यारीतिः सनातनी ।

तां सनाश्रित्य सन्प्रार्थां विधास्यन्ते तु नान्यथा ॥६॥

इत्यत्र प्रष्टव्योऽर्थं भिक्षुपारीन्द्रः— भिक्षुपय आर्या न भवन्ति ? अथ मुन्युषिशब्दयोश्च कोऽस्ति पारमार्थिको भेदः, यतस्तत्पृथगुपादानं व्यधायि वेद्भाष्यखुरलीकामेन भवता । किञ्च तत्र भवत्कृतौ केनानभिज्ञेनाप्रामाणिकता शङ्किता, यत् ‘नत्वन्वयै’ति सपीवपूर्णं सशपथमुद्धैर्येण चोद्घोषितम् ।

अर्थं व्याख्या करना है तो वहाँ सन्त्रों की व्याख्या की जाती है, अथवा अर्थ की ? अर्थात् ‘सन्प्रार्थवर्षान’ इस पद में एक शब्द होना चाहिये था— ‘अर्थ’। अथवा ‘अर्थेन’ । एकार्थक होने से दोनों का एकत्र समावेश सर्वथा व्यर्थ है इत्यादि बहुत ही सन्देहास्पद बातें हैं । बस; इतना ही बहुत है, विद्वानों के लिये अधिक क्या लिखें । जैसे- यहाँ पर विचार किया जाता है, जैसे ही इस महापि का उत्पन्न हुआ गहरा परिषय संन्यासिजनों के उचित आदर से बलात्कार हमें अलग हटाता है ।

“पहिले मैंने जाना था कि यह नोदे (चर्बी) से पूर्ण है । जब भीतर घुस कर मालूम किया तो चमड़े और लकड़ी के सिवा और कुछ न पाया अर्थात् ढोल की पोल ही निकली ” ॥

किसी कवि का यह कथन यहाँ अच्छे प्रकार घटता है । और भी अव-
लोकन कीजिये :-

आठ्यांशान्ति—यहाँ पर इन स्वामिशिरोमणि जी से यह प्रष्टव्य है कि ऋषि लोग क्या आर्य नहीं होते और मुनि तथा ऋषियों में वास्तविक भेद क्या है ? जिस से कि ऋषि शब्द का पृथक् प्रहण किया । और किसी अनभिज्ञ ने आपकी रचना में प्रामाणिक न होनेकी आशंका की होगी, जिस

सत्यं नास्ति जगतीतले तादृशः कोपि पुरुषो यस्तपस्विनां भवाद्दशां कृतिं का-
चोशापि निभालयेत् । यतः 'स्वयंसिद्धास्तपस्विनः' । किन्नरपञ्जरपत्नेना-
प्रस्तुतविस्तारेण । भगवन् ! कुतो न विह्विताक्ष्णवाटभुवि प्रतीपं रुचिर्भवंता
विपुलावपुषा । यतोऽनेके भवाद्दशास्तत्र कृतार्था भवन्ति धनादिलाभेन ।
अनेकजन्मानित्पुरुषप्रभावसद्गुरुमसादाधीतिकारणकलापसाध्ये वैदुष्ये श्रद्धा-
भक्तिभूष्ये तु न कथमपि गतिर्भ्रान्तचेतसामटाट्यापरताजुषां भवाद्दशासु ।

किञ्च :-

'येनाधुनिकनाण्यैरे' टीकाभिर्वेददूषकाः ।

दोषाः सर्वे विनश्येपुरन्यथार्थविवर्णनाः ॥१०

सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः ।

ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोयं सुसिध्यताम् ॥११॥

दृष्टीदम्बस्य चरुचेष्टितम् । 'आधुनिकभाष्यैः टीकाभिश्च येन्यथार्थ-
विवर्णना वेददूषका दोषाः सर्वे येन विनश्येयुः' । इति प्रथमश्लोकान्वयः ।
हा हन्त वेदार्थविद्वत्त्वामिमानिना श्रीस्वामिना पद्यमिदं संकलन्य त्रिदित-

से श्रीवा (गाड़) हिलाते हुए और सौगन्द के साथ आपको 'नविन्यथा'
यह पद जोड़ कर जंचे स्वर से यह घोषणा (जनादी) करनी पड़ी । सत्य
है, इस संसार में, भला, ऐसा कोई पुरुष है कि जो आप जैसे तपस्वियों के
क्रिये काम को कुदृष्टि से देख भी सके ? क्योंकि 'तपस्वी लीग स्वयं सिद्ध
होते हैं' । बिना प्रसङ्ग अधिक लिख कर विस्तार बढ़ाने से क्या ? बस,
इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भगवन् ! अच्छा मोटा-ताजा एवं हील
झील का शरीर रखते हुए आपने मज्जभूमि अर्थात् अखाड़े की ओर ही चित्त
क्यों न लगाया ? क्योंकि उस काम में आप जैसे अनेक पुरुष धनादि के लाभ
से कृतार्थ होजाते हैं । अनेक जन्मों में सन्धय किये पुरुषों के प्रभाव और
सद्गुरु की प्रसन्नता से प्राप्त की विद्या से जो मिल सकता है और श्रद्धा
तथा भक्ति से जिसकी शोभा होती है, उस पाण्डित्य के मिलने का उभाय
आप जैसे भ्रान्तचित्त और इधर उधर घूमने वालों को कहां प्राप्त हो
सकता है ।

येनाधुनिकेति—यह इनकी अन्तिम करतूत है । पाठकगण ! इस पहले
श्लोक का अन्वय ऊपर मूलमें अवलोकन करें । हा शोक है कि वेदार्थज्ञानी

साहित्यादिविद्या विज्ञातपरोक्तिहृद्याः समाश्रितशिष्टपद्याः सहृदयहृदया
 अभिलषितवैदिकसमयाभ्युदयाः सूरयो नितरां कामं पदपदार्थव्यवधारणां
 मति चिन्ताकुलाः कृताः । हा गुणोपकृतालङ्कारालङ्कृता दोषगन्धराहित्या-
 नवधरूपा कविता भगवती सान्प्रतं नितरानसाम्प्रतं रूपं लम्बिता तपस्विनां
 तपस्विनी । अस्य श्लोकस्यान्वितार्थः किंविध इतिविधौविचार्यम् । यदि
 दोषजनकतायानाधुनिकता हेतूरोचेत् तस्मै तदा तत्कृतं भाष्यं किंवत्तात्तो
 विनिर्मुक्तं भवेत् । किंत्वपेक्षाकृताधुनिकतापि तस्य सद्यस्का एव, कुतो न
 तत्रातिशयेन वेददूषकत्वम् । किंच टीकास्तु स्वप्रामाणिकत्वे आधुनिकताना-
 धुनिकतानपेक्षा एवात्रभवता दोषोत्पादिकाः स्वीकृताः । परं तत्र नादायि
 कश्चिद्भेदः । किंच दोषशब्देनैव दूषकत्वेस्फुरति व्यर्थमेव 'दूषका' इति
 पदम् । अपिच यच्छब्देन कस्यचिन्मभिलष्य पूर्व पुनस्तदर्थमतिपादनाय
 तच्छब्दप्रयोग एव साधुर्भवति । यत्तदेग्नित्यसम्बन्धस्याभिधानिकैः स्वी-

होने का अभिमान रखने वाले स्वामी दयानन्द जी ने इस पद्य को रच कर,
 साहित्य शास्त्रके ज्ञानी, उत्तमोत्तम कविताओं का भाव जानने वाले, अच्छे
 एवं व्यवहारमें आने वाले मनोहर पद्योंको आश्रय देने वाले, दयार्द्रहृदय और
 वैदिक सिद्धान्तों की उन्नति चाहने वाले विद्वान् लोग पद पदार्थों की ठीकर
 रखने की रक्षा में व्याकुल कर दिये । हा ! शोक है कि इस तपस्वी ने गुण
 तथा उपकाररूपी अलङ्कारों (आभूषणों) से विभूषित, दोषों की गन्ध से
 भी रहित, अतएव निर्मल स्वरूपा तपस्विनी कविता देवी को इस समय
 अत्यन्त अनुचित रूप में पहुँचा दिया है । इस श्लोक का अन्वित अर्थ क्या
 है और किस प्रकार का है, यह विद्वज्जन स्वयं विचार लेंगे । वर्तमान काल
 में प्रचलित भाष्य क्योंकि नवीन बने हुए हैं, इस लिये दोषों से भरे हुए हैं
 यदि दोषोत्पादन में यही हेतु स्वामी जी को रुचता है तो उनका वर्तमान
 काल में नवीन बना हुआ भाष्य इस दोष से किस प्रकार दूर होसकता है ?
 यदि अपेक्षा से आधुनिकता माना तो भी अन्य वेदभाष्यों की अपेक्षा जब
 कि स्वामी जी का बनाया भाष्य नवीन होने के कारण आधुनिक है तब उस
 में और भी अधिक वेदों की दूषित करने का दोष क्यों नहीं ? और आप ने
 टीकार्यों तो अपने प्रामाणिक होने के विषय में प्राचीनता तथा नवीनता की
 अपेक्षा न-
 तार की हैं, परन्तु आपने इस में कोई हेतु नहीं

कृतत्वात् । तथाच 'येदोषाः' इति पूर्वमभिधाय तदिति सर्वनाम्ना पुनस्तदर्थ-
मनुक्त्वा 'सर्वे' इत्येतावन्नामपदप्रयोगोऽसाधुरेव । किंच येनेतिसाकारात्मैव
पदं कथंकारं प्रत्ययादिः प्रकृतेन भाग्येणास्य संबन्ध इति चेत् तस्य सफलतायां
हेतुर्वाच्यः । आधुनिकभाष्यादिजनितदोषा नश्येयुरिति कथं नायुक्तम् ?
अधुनापि तद्विरहाभावपुच्छिरिति ।

द्वितीयपक्षेपि वेदानां यः सत्यार्थः स प्रकाशयेत् इत्युक्त्वा तस्य सनातन
इति विशेषणं निःसारमेव, सत्ये नैव तदर्थसिद्धेः । ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नः
सुचिष्यताम् इत्यत्र सहायपदं न रमणीयं, सहायतार्थबोधशक्तिविरहात्तस्य-
यथाश्रुतार्थविधाने नवत्प्रतिपादिततात्पर्यविलोप एवस्यात् सहाय शब्दो

दिया और जब कि दोष शब्द से ही दूषित होने का अर्थ सिद्ध हो-
जाता है, तब, दूसर, यह पद सर्वथा व्यर्थ है और पहले 'यत्' इस शब्द से
किसी अर्थ को कथन करके, फिर उसके अर्थ को प्रतिपादन करने के लिए
'तत्' शब्दका ही प्रयोग करना चाहिए या क्यों कि शास्त्रकारों का यह सर्व
सम्मत सिद्धान्त है कि, यत्, और तत्, शब्द का सम्बन्ध नित्य होता है
और भी उचान दीजिए, 'येदोषाः' पहले यह कहकर फिर 'तत्' इस सर्वनामसे
उसके अर्थ को कथन न करके केवल 'सर्वे' इतना कह देने मात्र ही अथवा
युं कहिये कि केवल सर्व, शब्द का प्रयोग ही उचित नहीं है और यह भी
तो बतलाइये कि आपने 'येन' इस साक्षात् पद का प्रयोग क्यों किया इस
भाष्य से उसका सम्बन्ध है यदि यह कहा तो उसकी सफलता-में हेतु कहना
चाहिये। वर्तमान कालमें बने भाष्यों से उत्पन्न हुए दोष नष्ट होजावें, आप
का यह कहना अनुचित क्यों नहीं? जब कि अब भी अर्थात् आप का भाष्य
बन जाने पर भी आपके मन माने वे दोष ज्यों के त्यों विद्यमान हैं ।

दूसरे श्लोक में भी- वेदानां यः सत्यार्थः स प्रकाशयेत्, यह कह कर फिर
उस (सत्यार्थ) का सनातन, यह विशेषण निष्प्रयोजन है क्यों कि सत्यशब्द
से ही सनातन शब्द का अर्थ भी सिद्ध होजाता है, ईश्वरस्य सहायेन-
यहां पर सहाय पद का प्रयोग मनोहर न ही यही नहीं किन्तु अत्यन्त
अनुचित है क्यों कि सहायता अर्थ के जतलाने में यहाँ उसकी शक्ति नहीं
और जैसा सुना जाता है उस अर्थ के करने में आप का प्रतिपादन किया
हुवा आशय ही नष्ट हो जाता है क्यों कि 'सहाय' शब्द 'सेवक' के अर्थ में

हि अनुचरे प्रसिद्धः, 'अनुप्लवः सहायश्चानुचरोभिचरः सप्त' इत्यमरपीभाषया च । 'संप्रत्यन्ते नभसि भवती राजहंसाः सहायाः' इत्यादि कविप्रयोगेष्वपि नावदत्तमवधानं भिक्षुकपुञ्जवेनेति प्रतीयते । एवमास्तिकानां नानोन्धेनेश्वरो-
 मुचरो भवितुमर्हति दयानन्दस्य । नापीश्वरस्यान्यः कश्चित्तादृशानुचरः
 साधयितुं यः शक्यतादेतस्यप्रयत्नम् तस्माद्यत्किञ्चिदेतत्सर्वमिति । अनुपपत्ति-
 निमित्तया स्वार्थिकलक्षणयास्य साधुतेति चेन्न, निरूढाप्रयोगजनवत्योरेव
 शिष्टैः स्वीकारात् । तथाच 'शक्तिर्निपुणता लोकशस्त्रक्रोधाद्यवेक्षणात्' इत्या-
 दिसाहित्यबुधधीयतकाव्यनिर्माणहेतुमनधिगम्यैव सहस्रानेन कवनपाठवं
 प्रतिरुचिर्निबद्धा, यत्पदेपदे प्रखलन् विद्वज्जनपरिपद्युपहस्यतेतन्नाम् । किंच
 'प्रपन्नः सुसिध्यताम्' इत्यत्रापि बहुखलितं नस्करिमहाभागेन । सिध्यते
 रात्मनेपदित्वं भ्रान्त्यास्वीकृत्याशुद्धं रूपमुदलेखि, लोटि प्रथमपुरुषैकवचने
 तस्य 'सिध्यतु' इत्येव रूपं सिध्यति । मयत्नसिद्ध्याशंसापि नाभिप्रेतसाधन-

प्रसिद्ध है प्रमाण अमर कांश का देखिए- अनुप्लव, सहाय, अनुचर और
 सेवक, ये शब्द समानार्थ और सेवकायं वाचक हैं इसी अर्थ की पुष्टि में और भी
 प्रमाण देखिए- सम्प्रत्यन्त इति आकाश में राजहंस आप के सहायक होंगे
 इत्यादि कवियों के प्रयोगों में भी मालूम होता है कि स्वामी जी महाराज ने
 ध्यान ही नहीं दिया एक और बात यह भी तो है कि हम आस्तिकों के
 मत वा न्याय में ईश्वर स्वामी दयानन्द के सेवक कदापि नहीं हो सकते
 और स्वामीजी के अतिरिक्त ईश्वरका और कोई ऐसा सेवक भी न होगा कि
 जो ईश्वर को सेवक बनाने के प्रयत्न में सफलता सिद्ध कर सके इस लिए
 यह जो लुब्ध कहा है, सब निस्सार ही है ।

इत्यादि साहित्य शास्त्र का ज्ञान रखने वाले विद्वानों के बतलाये हुए
 काव्य रचना के हेतु को विना जाने ही एक दम स्वामी जी महाराज की
 कविता करने की ओर रुचि होगई जिससे कि पद पर गिरते हुए विद्वज्जनों
 की सभा में हंसी कराते हैं । पाठकगण ! 'मयत्नः सुसिध्यताम्' यहाँ पर तो
 स्वामी जी ने बहुत बुरी तरह पटकी खाई है । वह यह कि 'सिध्' धातुकी
 भ्रान्ति से आत्मनेपदी जान कर 'सिध्यताम्' यह अशुद्ध रूप लिख मारा ।
 लोट लकार प्रथमपुरुष के एक वचन में 'सिध्यतु' ऐसा रूप बनता है । मयत्न
 सिद्धि की प्रार्थना भी अपने अभिलषित वस्तु की पूर्ति का साधन नहीं हो

ज्ञाना, तत्प्रयत्नसाफल्यमेवाशंसाविषयः साधीयान् । साहाय्यापेक्षया चानुग्रह-
पदप्रयोगश्चावर्थाति । अतएव "ईश्वरानुग्रहेणायं प्रयत्नः सफला भवेत्" इति
पाठः साधुर्भवेत् ।



अथ 'ईश्वरप्राथनाविषयः' इति शीर्षकमुल्लिख्य कैश्चित् सभायै मन्त्र-
संगवन्तं परमेश्वरं स्वाभिलाषितसिद्धिर्षयर्थं प्रार्थितवान् श्रीमान् भूमिकाकृत-
स्वामी दयानन्दः । तत्रापि किञ्चिद्भिषीयते विद्वज्जनमानसकीर्तुकसम्पा-
दनाय । 'अथेश्वरप्रार्थना' इत्येव लिखितसुचितं, तद्विषयविशदीकरणमवृत्ते-
रभावात् । किञ्च 'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि पराशुच यद्भद्रं तन्न आशुच'
इति वेदमन्त्रस्य व्याख्यानावसरे यदुक्तं 'सत्यविद्याप्राप्त्याभ्युदयनिःश्रेयस-
सुखकरं भद्रमस्ति' इति, सर्वतद् भ्रान्तिविलसितमेव, सत्यविद्याप्राप्तेः साक्षाद्-
भद्रे विनियोगात् । सुखशब्दस्य सर्वथा निरर्थकत्वाच्च । यच्चोक्तं वेदभाष्य-

सकती, इस लिए अपना प्रयत्न सफल होने की आशा वा प्रार्थना ही
उत्तम है । 'साहाय्य' पद की अपेक्षा 'अनुग्रह' पदका प्रयोग अच्छा मानलूम
होता है । इस लिए 'ईश्वरानुग्रहेणायं प्रयत्नः सफला भवेत्' यह पाठ यदि
होता तो अच्छा था ॥



अथ 'ईश्वरप्राथनाविषयः' यह शीर्षक (हेडिंग) लिख कर, कतिपय
(कुछएक / भाष्य सहित मन्त्रों से भूमिका के बनाने वाले स्वामी दयानन्द
की ने अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए परमात्मा की प्रार्थना की है, उस में
भी विद्वान् लोगों के मनोरथान के लिए कुछ कहते हैं । 'अथेश्वरप्रार्थना'
यस, इतना ही लिखना उचित था । उसका विषय साफ २ खोल कर लिखने
की आवश्यकता न होने से । और- 'विश्वानि देव' इत्यादि मन्त्र की
व्याख्या करते समय 'सत्य विद्या' यहाँ से लेकर- 'भद्रमस्ति' यहाँ तक जो
कुछ कहा है, वह सब भ्रान्ति अथवा यों कहिए कि अज्ञान से ही किया
हुँआ । 'सत्यविद्या की प्राप्ति का आपने भद्र में विनियोग किया है । सुख
शब्द तो वहाँ पर बिल्कुल ही निरर्थक है । और, वेदभाष्यकरणानुष्ठाने०

करणानुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् प्राप्तेः पूर्वमेव (परामुच) इति, तत्र, वेदभाष्यकरणानुष्ठाने, इति पदं न चारु भाति, करणानुष्ठानशब्दयोरेकार्य-
वाचकत्वात् । दुष्टेति विशेषणमपि विघ्नानां तदानीमेव सार्थकतां भजेत्,
दुष्टा अपि विघ्ना यदा स्युः । यच्च, शरीरबुद्धिसहायकौशलसत्य-
विद्याप्रकाशादि भद्रमस्ति, इत्युक्तं, तदस्पष्टार्थकत्वादतिशययास्पदम् ।
शरीरसुस्थताबुद्धिकौशलादिप्रार्थनैव शोभना, सहायादिविन्यासस्तु नित-
रामपंगतो निरर्थकादिदोषजुष्टत्वात् । निराकारभंगवत्कृपाकटाक्षोपि
भवन्मुखारविन्दान्निःसृतो न चारुतां विभक्तिं, निराकारमूर्तिं प्रति
दृढवैरत्वाद्भवतः । निम्न 'अस्मिन् वेदभाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धया-
त्यन्तापीतिर्यथास्यात्तथैव भवता कार्यमित्यत्रापि परमश्रद्धया या
पीतिः सरूपस्यते. किं तस्यामपि न्यूनता शब्दक्या ? यत्पीते रत्यन्तेति
विशेषणमदादि । बाहमिति चेन्न, मतीतिविरोधात् । किंच परमेश्वरं प्रति

इत्यादि जो आपने कहा है वहाँ पर 'वेदभाष्यकरणानुष्ठाने' यह पद
अच्छा नहीं मतीत होता, क्योंकि 'करण' और 'अनुष्ठान', इन दोनों शब्दों
का एक ही अर्थ है । 'दुष्ट' यह विशेषण भी जो कि विघ्नों का है तब ही
चरितार्थ होसकता है, जब कि विघ्न दुष्ट भी हों । और आपने 'शरीरबुद्धिः'
इत्यादि जो कहा है वह सब स्पष्ट अर्थ न होने के कारण सन्देहग्रस्त है ।
शरीर की नीरोगता और बुद्धि की चतुरता आदि की प्रार्थना ही उत्तम है ।
वहाँ पर सहाय आदि पदों का ग्रहण निरर्थक आदि दोषों से पर्य होने के
कारण सर्वथा संगति रहित है । निराकार भगवान् की कृपा का कटाक्ष
भी आप के मुख कमल से निकला हुआ शोभा नहीं देता क्यों
कि निराकार की मूर्ति से तो आपका बड़ा प्रबल विरोध है । और—
'आप अन्तर्यामी की प्रेरणा से सब मनुष्यों का इस वेद भाष्य में अद्भुत सहित
अत्यन्त उत्साह ही' इत्यादि जो आपने कहा है; उसमें भी यह प्रष्टव्य है
कि बड़ी श्रद्धा से जो प्रीति उत्पन्न होने वाली है क्या उसमें भी आप को
न्यूनता (कमी) की आशङ्का देख पड़ी ? जो कि प्रीति का 'अत्यन्त' यह
विशेषण दिया । यदि कहो कि हाँ आशङ्का थी, तो यह कथन ठीक नहीं,
क्यों कि ऐसा मानने से विश्वास के साथ विरोध आता है । और परमेश्वर
के विषय में 'कार्यम्' अर्थात् यह कीजिए यह पद प्रयोग अनुचित है क्योंकि

'काव्य' निति पदप्रयोगी न युक्ता, आक्षार्थस्य ततो भानात् । पार्थनायां च लोट एव प्रयोगः सधीयान् ।

“ यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।

स्वयस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणो नमः” ॥

इति मन्त्रभाष्ये 'यो भूतभविष्यद्दूर्तमानान् कालान् (सर्वं यश्चाधि०) सर्वं जगच्चाधितिष्ठति सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोस्तीति यद् भाषितं तन्न संगतमाभाति, मन्त्रगतपदद्वयोध्यार्थवाधाविरहात् । तथाच 'यः भूतं भव्यं वर्त्तमानं चकाराद् भविष्यच्च सर्वं पदार्थात्म-मधितिष्ठति, इत्येवप्रसादगुणलभ्योर्यः साधीयान् भाति । 'यो भूतभविष्यद्दूर्तमानान् कालान् सर्वं जगच्चाधितिष्ठति सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोस्ति, इति दृग्निह्नहामागेन यद्विन्यस्तं तद्विज्ञैर्विचार्यम् । किं कालनिष्कालनमेव क्षतमन्यपदार्थततेः केनापि शक्तिमता ? उत त्यक्त्वं सर्वशब्देन स्वसामर्थ्यं कालसंग्रहे ? किंवा केवलकालाधिष्ठातृत्वमेव

इसमें परमात्मा के लिए आज्ञा देना रूप अर्थ पाया जाता है । परमात्मा से पार्थना करना ही उचित है और उच में लोट लकार का ही प्रयोग श्रेष्ठ होता है ।

'यो भूतं ेति-इस मन्त्र के भाष्य में - '(यो भूतं च०) जो परमेश्वर एक भूतकाल जो व्यतीत होगया है (च) अनेक चकारों से दूसरा जो वर्त्तमान है (भव्यं च) और तीसरा भविष्यत् जो होने वाला है इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है० इत्यादि जो कुछ आपने कहा है वह सब असंगत प्रतीत होता है । क्योंकि मन्त्रस्थ पदों में कोई ऐसा क्लिष्ट पद नहीं कि जिसका अर्थ जानने में किसी प्रकार की बाधा हो । मन्त्रगत जितने पद हैं वे सब स्वप्रायः हैं, तब उनका सीधा २ अर्थ नकर, इस प्रकार जोड़ मिलाना किस लिए ? जो परमात्मा उन-सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है कि जो पहले हो चुके, अब वर्त्तमान हैं और आगे को होंगे । वर, यही चित्त में समाने वाला सरल अर्थ उत्तम प्रतीत होता है । और स्वामी दयानन्द जी ने 'यो भूतभविष्यद्दूर्तमानान् कालान्०' इत्यादि जो कुछ कथन किया है, उसे विद्वज्जन विचार लें । क्या किसी शक्तिशाली विद्वान् ने सब पदार्थसमूहों से काल अर्थ का निष्कालन किया है ? अथवा

मुख्यं भंगवतः ? यन्महलायासेन अस्करिमहलेन भूतं भव्यमिदृशादि सामान्ये नपुंसकप्रयुक्तेः सर्वशब्दप्रयोगबलाच्च लभ्यं कृत्स्नं वस्तुजातं विहाय काला-
फलनमेव सूर्यन्यसाधायि । महात्मन् ! कालस्त्वनुच्यमानोपि सर्वपदार्थ-
निमित्ततया स्वयमेव न हीयतेतस्तत्पृथगुपादानं न रमणीयम् । यथादि-
ग्विशेषापेक्षया यः परस्तस्मिन्नपर इति प्रत्ययः, यश्चापरस्तस्मिन् पर इति
प्रत्ययः परापरयोर्व्यतिकरयोर्व्यत्ययाः, तथा युगपत्प्रत्ययो ऽयुगपत्प्रत्ययश्च
लिपप्रत्ययश्चिरप्रत्ययश्च काललिङ्गम् । ननुकालस्याभ्यक्षत्वात् तेन सह
परापरादिप्रत्ययानां व्याप्तिग्रहणाभावात्कुतो लिङ्गत्वनिमित्तेन युगपदादि-
प्रत्ययानांविषये द्रव्यादिषु पूर्वप्रत्ययविलक्षणानां द्रव्यादिप्रत्ययविल-

सर्व शब्द से काल के संग्रह में ही अपनी सब सामर्थ्य खी दिया ? और
व्या केवल काल का अधिष्ठाता (स्वामी) होना ही परमात्मा का मुख्य
हेतु है ? जोकि स्वामी जी महाराज ने बड़े परिश्रम से भूत-भक्ष्य इत्यादि
सामान्य नपुंसकलिंग के प्रयोगों और सर्व शब्द के बल से ग्रहण हो सकने
योग्य सब वस्तुओं को छोड़ कर, केवल काल अर्थ का प्रतिपादन करना ही
मुख्य समझा । महात्मन् ! काल तो कथन न किया जाता हुआ भी सब
पदार्थों का निमित्त होने के कारण स्वतः ही दूर नहीं हो सकता, इस लिए
उसका पृथक् ग्रहण करना ठीक नहीं । जैसे किसी दिशा विशेष की अपेक्षा
से जो पर अर्थात् परला = अगला है उसी में अपर अर्थात् पहला यह ज्ञान
उत्पन्न होता है और जो अपर है उसमें परका ज्ञान होता है । इस प्रकार
परस्पर मिले हुए जैसे पर और अपर का ही यह अदल बदल है वैसे ही
एक ही समय में होने वाला, भिन्न २ समय में होने वाला, शीघ्रता से होने
वाला और देरी से होने वाला; इस प्रकार का जो यह ज्ञान है, वस, यही
काल का लिङ्ग अर्थात् चिन्ह है । यदि कोई इस में यह आशङ्का करे कि
काल प्रत्यय नहीं इस लिये उसके साथ पर तथा अपर आदि ज्ञानका व्याप्ति
ग्रहण न होने से उस का लिङ्गत्व अर्थात् चिन्ह किस प्रकार सालूग किया
जा सकता है कि यह काल है ? ऐसा नहीं कहना वा जानना चाहिये क्यों
कि एक समय, भिन्न २ समय, शीघ्रता तथा बिलम्ब, इस प्रकार के ज्ञान
अथवा निश्चय के विषय जो द्रव्यादि हैं उन में पूर्वापर के ज्ञान से विलक्षणा
द्रव्यादि के ज्ञान की उत्पत्ति में एक दूसरे का निमित्त नहीं होसकता अर्थात्

ज्ञानानामुत्पत्ताश्चन्यतरस्य निमित्तत्वाभावात् । अत्रायमभिसन्धिः— द्रव्यादि-
विषयेषु ये पूर्वोपरप्रत्ययानायन्ते न च तेषां द्रव्यप्रभृतयो निमित्तं, तत्प्रत्यय-
विलक्षणत्वात् । न च निमित्तमन्तरेण कार्यस्योत्पादत्तस्माद्यत्तत्र निमित्तं स
काल इति तर्करसिद्धैस्तत्र तत्र सविस्तरं प्रतिपादितत्वात् ।

एवं 'यस्य भूमिः प्रमा' इत्यादि मन्त्रभाष्ये 'यश्च सर्वस्मादूर्ध्वं सूर्य-
रश्मिप्रकाशनयनाकाशं दिवं सूर्धानं शिरोऽच्छक्रं कृतवानस्ती'ति यदुक्तं
तदत्यन्तं स्वर्गीयः । केनाप्याचार्यैश्च । सकलशास्त्रपरिशीलनविशुद्ध-
शोमुषीयं परापरञ्च न श्रुतितत्वावगाहिना मुनिना वा केनापि गगनस्य
सहस्ररश्मिरश्मिमलाशमयत्वप्रतिपादनाभावात् । अत्र हि नयद् विकाराये
वा स्यात् ? प्राचुर्ये वा ? नाद्या, अनुत्पादविनाशशालित्वेनाधिकारि-
त्वाद् गगनस्य । नित्यत्वाभावाङ्गीकर्तृनयेपि । नाकाशं सूर्यरश्मिप्रकाश-
विकारभूतं किञ्चिद्दृष्टु । साख्यानां पाठञ्जलानां च गगनोत्पादप्रक्रियायां

पूर्वोपर के ज्ञान या निश्चय में जैसे द्रव्यादि हेतु नहीं' वैसे ही द्रव्यादि के
ज्ञान या निश्चय में पूर्वोपर को जानना चाहिए । इसका स्पष्टरूप से समा-
धान यह है कि— द्रव्य आदि के विषय में जो पहले और पिछले का ज्ञान
होता है उसके द्रव्य आदि निमित्तकारण नहीं' क्योंकि उनका ज्ञान विलक्षण
है । और विना निमित्त के कार्य की उत्पत्ति भी नहीं' होसकती, इस लिए
इस में जो भी निमित्त है वही काल है यह न्यायशास्त्र के विद्वानों ने वहाँ
विस्तर के साथ प्रतिपादन किया है ॥

इसी प्रकार, 'यस्यभूमिःप्रमा' इत्यादि मन्त्रके भाष्य में 'जिस परमात्मा
ने सबसे ऊपर विराजमान सूर्य की किरणोंसे प्रकाशजय आकाश को शिर के
स्थानापन्न किया है' यह जो कहा है वह सब अत्यन्त स्थूल है । क्योंकि कि
सब शास्त्रों का विचार करने से निम्नल बुद्धि वाले स्थूल और सूक्ष्म के
ज्ञानी और वेद तत्व को जानने वाले किसी भी आचार्य या मुनि ने
आकाश को सूर्य की किरणों के प्रकाश भूत होने का वर्णन नहीं किया ।
यह तो बतलाइये कि 'प्रकाशजय' यहाँ पर नयद् प्रत्यय विकार अर्थ में
है अथवा आधिक्य अर्थ में यदि कही कि विकार अर्थ में है तो यह कहना
इस लिए उचित नहीं कि आकाश उत्पत्ति और विनाश इन दोनों धर्मों से
रहित है इसलिए उस में विकार होना रूप धर्म घट ही नहीं सकता । और

शब्दतन्मात्रा एव कारणं नभसः । नहि शब्दतन्मात्राऽभिन्ना सूर्यरश्मि प्रकाशात्, सूर्यस्यैव तेजसो रूपतन्मात्रातस्तावदनुत्पत्तः । नान्त्या नभस्युपस्थादीधितिदीधितपूकाशप्राचुर्यस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । इद-
मत्राकूनकम् यथा अन्नसयो यज्ञः इत्युक्ते मयटः प्राचुर्यार्थकत्वादत्रान्न-
प्रचुरीयज्ञ इत्यर्थो गम्यते, तथैवप्रकाशस्यमाकाशमित्यत्रापि प्रकाशप्रचुरना-
काशमित्येवार्थः सम्भवति । यज्ञे प्राचुर्यसन्नस्यान्यापेक्षयाधिक्येन तदुप-
योगित्वम् । एवमाकाशे प्रकाशप्राचुर्ये किंविधिमिति वाच्यम् । तच्चोपयोगि-
त्वमात्रंप्राचुर्ये सम्भवति, उपयोगितायाः साधकत्वपट्यवसाने एत्येव
साध्येतत्सम्भवात् । साध्यता च गगने प्रत्यक्षविषयतावास्यात्, ज्ञानमात्र-
विषयता वा, उत्पाद्यता वा ? नाद्यः अतीन्द्रियत्वादाकाशस्य । अतीन्द्रियत्वं

आकाश को नित्य न जानने वालों के मतमें भी सूर्य की किरणोंके प्रकाश का
विकार भूत आकाश कीई वस्तु है ही नहीं सांख्य और पतञ्जलि मुनि के
सतानुयायियों की नीति में भी आकाश के उत्पन्न होने के प्रकरण में शब्द-
तन्मात्रा ही आकाश का कारण बतलाई हैं । और शब्दतन्मात्रा सूर्य की
किरणों के प्रकाश से भिन्न हैं इस लिए सूर्य ही के तेज रूप तन्मात्रा से उस
की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि प्राचुर्य अर्थात् आधिक्य अर्थ में मयट्
प्रत्यय का विधान करो तो भी ठीक नहीं — क्यों कि आकाश में सूर्य से
धारण किये हुए प्रकाश की अधिकता का निर्वचन ही नहीं किया जासकता ।
इसका अभिप्राय यह है कि जैसे 'अन्नसयो यज्ञः' ऐसा कहने में यहाँ पर
अधिक होने अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय है इस लिए 'अधिक अन्न वाला यज्ञ'
यह अर्थ होता है । वैसे ही 'प्रकाशनयमाकाशम्' इस शब्द का भी 'अधिक
प्रकाश वाला आकाश' यही अर्थ ही सकता है । यज्ञ में अन्य वस्तुओं की
अपेक्षा अन्न का अधिक होना अत्यन्त आवश्यक है, पर आकाश में प्रकाश
की अधिकता किस प्रकार की और क्यों यह बतलाना चाहिये । और उप-
योगितामात्र अर्थात् आवश्यकता का होना ही आधिक्य नहीं हुआ करता
उपयोगिता के साधकत्व हेतु का अभाव होने पर ही उसका साध्य में होना
माना जाता है और यह तो कहिये कि जो आपने आकाश को प्रकाशनय
सिद्ध करने का प्रयत्न किया है उसका हेतु प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है या
केवल ज्ञान अथवा उत्पाद्य का ? प्रत्यक्ष का विषय तो इस लिए नहीं ही

च इन्द्रियजन्यज्ञानाविषयत्वमेव । मनसस्त्विन्द्रियत्वं नास्त्येव सत्य-
पीन्द्रियत्वे नैन्द्रियत्वेन रूपेण नाभसज्ञाने तदुपस्थितिः । अपितु करणत्व-
विषय एव । अन्यथा सर्वानुमानादिविलोपः प्रसज्येत । न द्वितीयः- तादृश-
साध्यताङ्गीकारे तु सपुष्पयित्तमेवाकाशविशेषणं एवात् सर्वस्यापि पदार्थस्य
ज्ञानविषयत्वात् । ज्ञानमात्रे प्राशस्य हेतुत्वसम्भवाच्च । चाद्युपपत्त्यलं
प्रत्येवालोकसंयोगः कारणमित्याभिधानिकैरुक्तत्वात् । नान्त्यः- उक्तोत्तर-
त्वात् । तथाच प्राच्युर्थार्थं नयद्विदधता प्रचुरं पाण्डित्यं प्रकटितं पृथिव्य-
मतिना यतिना दयानन्देनेत्यलं पल्लवितेन ।

“य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते पूशियं यस्य देवायस्य च्छोपाशुतं यस्य
सृष्ट्युःकरमैदेवाय इविषा विधेन” यजुष अ० २५ मन्त्र १३ इति मन्त्रभाष्यसार-

सकता कि आकाश इन्द्रियों की पहुँच से दूर है । जो वस्तु इन्द्रियों की
पहुँच से दूर होती है वह इन्द्रियों के ज्ञान का विषय नहीं हुआ करती ।
यदि कहो कि इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय न सही मन का विषय तो ही
सकता है तो यह कथन भी नहीं बनता क्योंकि मनको इन्द्रिय माना ही
नहीं । और थोड़ी देर के लिए मनको इन्द्रिय मान लेने पर भी इन्द्रियत्व
रूप से आकाश के ज्ञान में उसकी उपस्थिति नहीं होसकती । हाँ, साधनरूप
से उसकी प्रवृत्ति हो सकती है । ऐसा न जानने से तो फिर सख अनुमानादि
पूनाय के लोप का पूसंग आना संभव है । और दूसरा पक्ष अर्थात् ज्ञान
मात्र विषय भी पर्याप्त हेतु नहीं है । उस प्रकार की साध्यता स्वीकार कर
लेने में तो आकाश का विशेषण ही आकाश के रूप के समान व्यर्थ हो
जायगा । क्योंकि सब पदार्थ ज्ञान के विषय हैं । केवल ज्ञान में आकाश के
हेतु का होना असम्भव है । जो पदार्थ नेत्रज्ञान के प्रत्यक्ष होता है उसी में
आकाशका संयोग करण होता है । यह न्यायशास्त्र के विद्वानों ने अच्छे प्रकार
प्रतिपादन किया है । अन्तिम उपाद्यत्व हेतु भी ठीक नहीं । उसका भी
यही उत्तर होने से । अब इस विषय में अधिक क्या लिखें, उस यही समझ
लीकिए कि स्वामी दयानन्द जी ने प्राच्युर्थ अर्थ में नयट् प्रत्यय विधान
करके अपना बहुत ही पाण्डित्य प्रकट किया है ।

“य आत्मदत्ति- इस मन्त्र की भाष्य रचते हुए प्रशंसनीय स्वामी जी ने
जो निरलक्ष्यता प्रकट की है उसके बदले में और क्या बस इनको अनेक अन्य-

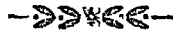
स्य पराश्रमवता मस्करिणा वाऽप्ये^१ निरङ्कुशता एकटिता तन्निमित्तमनेकशो
 धन्यवोदाः प्रदेया अस्मै पदानोचिताय सिद्धवे । "य आत्मदा विद्या विज्ञान-
 मद्ः" इत्यत्र आत्मशब्दस्य विद्याविज्ञानवाचित्वं कुतोधिगतं भवतेति
 पुष्टव्योयं सहासनाः किंच (बलदाः) यः शरीरेन्द्रियप्राणात्मजननां पुण्यवृत्ताह-
 पराक्रमदृढत्वमद्ः" इति यदुदलोखि लेखचञ्चुनामुना तत्रापि किञ्चिदवधानं
 दीयताम् । पुष्टिशब्देनैव यथाभिप्रेतसिद्धौ दृढत्वोपन्यासः किं-
 प्रयोजनः ? देव शब्दस्य विद्वदर्थवाचित्वमपि कौशिकप्रवरेणतेनैव नवचित्कोशे
 विलोकितं भविष्यति । ननु 'विद्वान्सीहि देवाः' इति शतपथप्रमाणतोऽस्यात्र
 प्रयोगः साधुरिति चेन्न, तत्र देवानां विद्वत्त्वस्य साचित्तत्वात् । नानेन साधुना
 पूर्वापरविचारपुरःसरं शतपथस्य संतप्रकरणं दृष्टं, यतो भ्रान्तिसासाद्य देवा
 विद्वान्सी हि भवन्तीत्यर्थमजानानो विद्वान्सी हि देवा इति विसंज्ञातवान् ।
 किंच मृत्यु शब्दस्य 'जन्मपरशाकारकः' इत्यर्थस्तु पूर्वं तत्रभवत् एव श्रेमुष्या-

वाद ही देने चाहिये "य आत्मदा विद्याविज्ञानमद्ः" यहाँ पर इन महात्मा
 जी से यह तो पूछना चाहिए कि आपने आत्म शब्द का विद्या विज्ञान
 वाचित्व अर्थ कहाँ से प्राप्त किया ? स्वामी जी लिखने में तो इस अद्वितीय हैं
 इस लिए आपने "(बलदाः) इसका भाष्य करते हुए 'यः शरीरेन्द्रिय' इत्यादि
 जो लिखा है उसे पाठकगण ध्यान से देखें कि जब 'पुष्टि' शब्द से ही अभि-
 प्राय सिद्ध हो जाता है तब न मालूम वहाँ स्वामी जी ने 'दृढ'
 शब्द किस प्रयोजन से रक्खा ? और 'देव' शब्द 'विद्वान्' अर्थ का वाचक है
 'यह श्री मन्मथराज ने ही किसी कोश में देखा होगा यदि आप यह कहें कि
 'विद्वान्सी हि देवाः' इस शतपथ के प्रमाण से यहाँ पर इस का प्रयोग शुद्ध
 है तो यह कथन युक्ति युक्त नहीं क्यों कि वहाँ पर इस वचन से देवताओं
 का विद्वान् होना सिद्ध किया गया है यह नहीं कि विद्वानों अर्थात् पंडितों
 को देवता कहते हैं वहाँ पर विद्वान् देव शब्द का विशेषण है पर स्वा०
 दयानन्द जी ने इस के मतिकूल देव पद को विद्वान् शब्द का विशेषण
 धना अर्थ को अनर्थ कर डाला । मालूम होता है कि इन्होंने पूर्वापर का
 विचार न रख कर शतपथ का वह मकरण ही नहीं देखा, जिस से कि भूम
 में पढ़ कर 'देवता विद्वान् होते हैं' इस अर्थ को न जान 'विद्वान् ही देवता
 होते हैं' यह विरुद्ध अर्थ समझ बैठे । और मृत्यु शब्द के जन्म, मरण कारक

मुपक्रान्तः । किंचास्यैव मन्त्रस्य वेदभाष्यावपरे अन्य एवाथोभिहितोऽत्रत्यन्य एव । तथाहि वेदभाष्ये (आत्मदाः) य आत्मानं ददाति (बलदाः) यो बलं ददाति सः" इत्याद्युत्पटनहीधरादिकृतं युक्तमर्थं शब्दतोयं तत्र यथाकथञ्चिदुद्धृत्य भाष्यभूमिकायां "(आत्मदा) विद्याविज्ञानप्रदः (बलदा) शरीरेन्द्रियप्राणात्मनसां पुण्युत्साहपराक्रमदृढत्वपूदः" इत्येव प्रणिजगाद संस्कार विधौ च पुनः (आत्मदा) आत्मज्ञानप्रदः (बलदा) शरीरात्मसमान-बलप्रदः" इत्युदाजहार । इत्थं स्थलत्रये त्रिविधमर्थं मुक्तवता दयानन्देन वेदभाष्यानुष्ठानेऽतीव वैदुष्यं विशदीकृतम् । सप्तममन्त्रभाष्ये-पयस्य पुस्तकमुद्रणादिव्यवहारसाधनत्वात् समञ्जसैव तत्कामना, परं मुक्तिमुखकामनाभाष्ये कामुपयोगितां दधातीति न विद्मः । प्राप्ति-वाञ्छापि नीचिता संन्यासिनः । शिवसंकल्पशब्दस्य कल्याणप्रियं सत्यार्थ-प्रकाशं चेति न सम्मतोऽर्थः । शक्तिग्रहविदां विदुषामिति ।

इस अर्थ ने बस पहले पक्ष आप ही की बुद्धि में आने का सीमाय प्राप्त किया है । स्वामी जी ने इसी मन्त्र का वेदभाष्य करते समय कुछ और ही अर्थ किया है और यहां पर कुछ और ही । जैसे कि वेदभाष्य में — "(आत्मदाः) य आत्मानं ददाति (बलदाः) यो बलं ददाति सः" इत्यादि उत्पट और नहीधर आदि के किये युक्ति युक्त अर्थ को शब्द और अर्थ से जैसे जैसे उद्धृत करके — भाष्यभूमिका में "(आत्मदाः) विद्याविज्ञानप्रदः (बलदाः) शरीरेन्द्रियप्राणात्मनसां पुण्युत्साहपराक्रमदृढत्वपूदः" इस प्रकार अर्थ किया है और फिर संस्कार विधि में— "(आत्मदा) आत्मज्ञान-प्रदः (बलदा) शरीरात्मसमानबलप्रदः" ऐसा अर्थ किया है । इस प्रकार तीन जगह तीन तरह का अर्थ करते हुए स्वा० दयानन्द जी ने वेदभाष्य करने में अपना बहुत पावित्र्य प्रकट किया है । सप्तम मन्त्रके भाष्य में भी पुस्तकों के छपाने और बेचने आदि व्यवहार से धन की प्राप्ति तो होती है इस लिए यह कामना तो स्वामी जी की उचित ही है परन्तु मुक्ति के मुख की इच्छा वेदभाष्य में क्या उपयोगिता रखती है यह हम न जान सके । संन्यासीके लिए काम प्राप्ति की इच्छा तो उचित ही नहीं है । शिव संकल्प शब्दके कल्याणप्रिय और सत्यार्थ प्रकाशन ये दोनोंही अर्थ विद्वज्जनों को सम्मत नहीं है ।

अथ वेदोत्पत्तिविषयः



‘यस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सानानि जज्ञिरे,
 खन्दाथंसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
 ‘यस्माहचो अपातजन् यजुर्यस्मादपाकपन् ।
 सानानि यस्य लोमान्यथयोर्द्विरसोमुखम्,
 स्कंभंतं ब्रूहि कतमः सिद्धदेवसः’ । अथर्व० ॥

प्रथममन्त्रभाष्यावसरे ‘सर्वहुत इति वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हतीति’ यदुक्तं, तन्न युक्तम्, विभक्ति-विपरिणामेनापि ऋचामेव विशेषणं भवितुं शक्यत्वात् यज्ञो वै विष्णुरिति शतपथप्रमाणमुपन्यस्य तदर्थानभिज्ञतैव प्रकटीकृताः भवता, कियञ्जशब्दो व्यापकार्थको यत्तदुपन्यासकलेशः सोढः । तत्र तु यज्ञे विष्णुत्वारोपणं तात्पर्यम् । भगवन् ! वेदाचार्य्य-पदकामनाकृता, परं तत्सिद्धयर्थं वैदुषी नार्जिता श्रीमता, यद्भावात् पदे पदे रखलनजन्यापकीर्तिपङ्कः प्रादुर्भूय यत्किञ्चित्तपः समाधिकमपि पुण्यसलिल-लभापिलयति । अन्यच्च यथा मनसि विचारणावसरे प्रश्नोत्तरादि शब्दो-

अथ वेदों की उत्पत्ति का विषय लिखा जाता है ।



यस्माद्यज्ञादिति-पहले मन्त्र का भाष्य करते समय ‘सर्वहुतः’ यह वेदों का भी विशेषण होसकता है, स्वामीजी ने जो यह कहा है वह युक्त नहीं, क्योंकि कि विभक्ति के परिवर्तन (तबदीली) से भी ‘सर्वहुतः’ यह पद ऋचाओं का ही विशेषण हो सकता है । ‘यज्ञो वै विष्णुः’ इस शतपथ के प्रमाण को उद्धृत करने उसका अर्थ जानने में आपने अपनी अज्ञता ही प्रकट की । क्या यज्ञ शब्द का अर्थ व्यापक है, जो कि उसके रखनेका आपने व्यर्थ ही क्लेश सहा यहां पर तो यज्ञ में विष्णु के आरोपण का तात्पर्य है । भगवन् ! आपने वेदाचार्य्य होने के पदको इच्छाओं की परन्तु उसकी सिद्धि के लिए पासिदहय प्राप्त नहीं किया, जिसके न होनेसे पदपद पर गिरजाने के कारण उत्पन्न हुई, निर्दा रूप कीचह आपके पुण्य रूपी जलको जो कि यत्कि-

चारणं भवति तथैश्वरेषु अन्यताम् इति वेदानामोश्वरकर्तृत्वगोपाद-
 बन्धदाह तन्नविचारसहस्र, तास्वाद्याभिघातं विना तदुच्चारणासम्भवात् ।
 न्यायविद्यायां विधिष्वदध्ययनं विना अनुमानहेवा कोपि वराकाः सूरिजन-
 संसदि हास्यामैयप्रयोक्तुः । उच्चारणशब्दस्यार्थं मत्स्यपि यो सुखा स तद्
 द्वारा भगवतो वेदस्य ईश्वरकर्तृत्वमुपपादयितुं कथं प्रसक्तं दिति विचारा-
 रूपदम् । येन न्यायशास्त्रस्य लघीयस्तर्कसंग्रहपुरतकमपि सम्यक् पठितं
 भवत्सोपि वालो नैव 'विधि' प्रयुञ्जीतानुमानम् । ननु जगद्रचने तु स्वर्वा-
 श्वरमन्तरेण न कस्यापि सामर्थ्यं कस्मिन् वेदरचने त्वन्यस्यान्यग्रं चरचन-
 वत्स्यादिति पूर्वपक्षीकृत्य यदुक्तं, तद्वापोयुक्तिरपि तर्करसिकैतप-
 श्रुत्य विवेचनीया । 'अत्रोच्यते-ईश्वरेण रचितस्य वेदस्याध्ययनानन्तरमेव
 ग्रन्थरचने कस्यापि सामर्थ्यं स्यात्, नचान्यथा । नैव कश्चित्पठनश्रवणमन्तरा
 विद्वान् भवति । यथेदानीं किंचिदपि शास्त्रं पठित्वोपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं च
 दृष्ट्वेवमनुष्याणां ज्ञानं भवतीति। वेदस्याध्ययनानन्तरमेव कस्यापि ग्रन्थरचने सामर्थ्यं
 स्यादित्यत्र निष्ठास्यमिदं, किं ग्रन्थरचने वेदाध्ययनं सामर्थ्याधायकं तदान-

सिद्धं तप श्रद्धा ध्यान से उत्पन्न हुआ है मस्तिन (गन्दा) करे देती है कुब
 और भी देखिए -

'जैसे विचार करते समय मनमें प्रश्न और उत्तर आदि शब्दोंका उच्चारण
 होता है वैसे ही ईश्वरके विषय में भी समझो इस प्रकार वेदों का ईश्वर
 रचित होना सिद्ध करते हुए स्वामी जी ने जो कहा है वह युक्त नहीं, क्यों
 कि तालु आदि स्थान की स्पर्श किये बिना शब्द का उच्चारण ही नहीं हो
 सकता । विधिपूर्वक न्यायशास्त्र के बिना पढ़े ही अनुमान प्रमाण कल्पना
 करने की अभिलाषा (श्रीक) विद्वज्जनों की समा में प्रयोग करने वाले का
 उपहास ही कराती है । जो उच्चारण शब्द का अर्थ भी न समझ
 सके भला वह उसके द्वारा भगवान् वेदों का ईश्वर रचित होना
 सिद्ध करने के लिए कैसे समर्थ हो सकता है ? यह विचारणीय है
 जिसने न्यायशास्त्र का छोटा सा 'तर्कसंग्रह' पुस्तक भी अच्छे प्रकार पढ़ा
 होगा वह बालक भी इस प्रकार के अनुमान को प्रयुक्त नहीं कर सकता ।
 'मङ्गल-जगत्' के रचने में तो ईश्वर के बिना किसी जीव का सामर्थ्य नहीं है
 परन्तु जैसे व्याकरण आदि शास्त्र रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य होता है वैसे

नर्तयवा ? आद्यं वेद वेदस्याध्ययनादेव तद्भवतीति तावद् वक्तव्यम्
द्वितीयमिति चेन्न, कालस्य स्वतन्त्रहेतुत्वाभावात्, किंच कस्यापि सामर्थ्य-
स्यादित्यपि न रणशीघ्रम् तथा प्रतीतिरभावात्, पठनश्रवणमन्तरित्यत्रापि
पठनादिशब्दद्वयप्रयुक्तिर्न मनोरमा तयोरिकतरेणापि कार्यसिद्धेः। प्राश्नां पठित्वा
उपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं च दृष्ट्वैव अनुष्याणां ज्ञानं भवतीति यदुक्तं तत्रापि
नोद्बुद्धनाविरहः। तथाच समानकर्तृकयोः पूर्वकाले इत्यनेन क्त्वाप्रत्ययमादिदेश
भगवान्पाणिनिः। अनुष्यैककर्तृवाणां पठित्यादि धातूनां भवद्विधा नह

वेदों के रचने में भी लीज का सामर्थ्य ही सकता है, स्वामी जी ने यह पूर्व
पक्ष उठाकर जो कहा है उनके वचन की युक्ति को तर्कशास्त्र के सिद्धान्त
विचारों। और उन्होंने अपने इस पूर्व पक्षका जो समाधान किया है उसे भी
देखें। 'उत्तर- नहीं किन्तु जय ईश्वर ने मथन वेद रचे हैं उनको पढ़ने
के पश्चात् ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी अनुष्य को होसकता है उरुकं पढ़ने
और ज्ञान के बिना कोई भी अनुष्य सिद्धान्त नहीं हो सकता जैसे इससमय
में किसी शास्त्र को पढ़के किसी का उपदेश सुन के और अनुष्यों के परस्पर
व्यहारों की देख के ही अनुष्यों को ज्ञान होता है अन्यथा कभी नहीं होता
'स्वामीजी ने जो कहा है कि- 'वेदोंको पढ़नेके पश्चात् ग्रन्थरचने का सामर्थ्य
किसी अनुष्य को ही सकता है, इसमें यह जानना है कि ग्रन्थ रचने में
वेदों का पढ़ना सामर्थ्य स्थापन करने वाला होता है अथवा उसके पश्चात्
का समय ? यदि वेदों के पढ़ने को आप ग्रन्थ निर्माण में शक्ति प्रदायक
मानते हैं तब तो 'वेद के पढ़ने ही से वह सामर्थ्य होता है उस इतना ही
कहना पर्याप्त था। यदि दूसरा अर्थात् वेदाध्ययन के पश्चात् का समय
हेतु मानो तो यह भी ठीक नहीं क्यों कि ग्रन्थ रचने आदिके सामर्थ्य देनेमें
काल स्वतन्त्र हेतु नहीं होसकता और न है। और किसी अनुष्यको सामर्थ्य
ही सकता है आप का यह कथन भी मनोरञ्जक नहीं क्यों कि वैसे विश्वास
न होने से। 'पठनश्रवणमन्तरा' इस वाक्य में भी पठन आदि दो शब्दों का
प्रयोग मनोहर नहीं, क्योंकि उन दोनों में एक से भी कार्य सिद्ध हो जाता है
'शास्त्र को पढ़के, उपदेश को सुनके, व्यवहार को देखकर ही अनुष्योंको ज्ञान
होता है। आपका यह कथन भी तर्कों या सन्देह रहित नहीं है। भगवान्
पाणिनि मुनि ने 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इस सूत्र से 'क्त्वा' प्रत्यय के

कथं समानकर्तृकता । यदिलोकै क्वचिदेवं प्रयोगा दृष्टान्तनुसारमेतदपि साधिवतिचेद् दर्शनीयास्तावन्ते, वैयाकरणतत्त्वित्वात् परीक्षितमैद्युगीनस्य ऋषेः । पुस्तकस्था वेदास्तेनादीनोत्पादिताः, किन्तहिं ज्ञानमध्ये प्रेरिताः इत्यत्रापि पुस्तकस्थानां वेदानां ज्ञानमध्ये प्रेरितानां चारितव्येत्कश्चिद्विशेषस्तहिं युक्तिपुरस्सरं प्रतिपादयतु कश्चिद्दयानन्दमता-नुयायी । विशेषाभावे युषैव परिधान्तं स्वामिना । किञ्च ज्ञानमध्ये प्रेरिता इति युक्तरूपं भाति, सन्नये तेषामपि परमेश्वरज्ञानरूपत्वात् । निरवयवस्य ज्ञानस्य रुध्यादिदेशव्यवस्थापि कथं सिध्येत् ? सावयव तदिति चेद् बालभ्रजुरुभयानामर्मेतत्स्यात् । विश्वेश्वरज्ञानरूपस्येदच्चतुष्टयस्य समवायसम्बन्धेन तत्रैव विद्यमानत्वादप्यत्र संक्रमोऽतीवाऽरुम्भूतः । अतोत्र विषये यत्प्रत्यपादिस्वामिना तदनेकदोषदुष्टत्वाद्नादरणीयं

विधान का उपदेश किया है । अब आप बतलाइये कि जब मनुष्य ही जिन का एक कर्ता है ऐसी पठ, श्रु और दृश् इन धातुओं का 'भवति' इस क्रिया के साथ समानकर्तृत्व कैसे हो सकता है ? यदि लोक में कहीं पर ऐसे प्रयोग देखने में आये हों तब तो यह आप का प्रयोग भी शुद्ध माना जा सकता है पर ऐसे प्रयोग यदि लोकमें हों तो आप प्रथम दिखलाइये । अधिक क्या, बस यही समझ लीजिए कि इस कलियुगीय ऋषि के व्याकरण की परीक्षा तो इसप्रकार सम्पन्न होगई ।—'पुस्तकस्थावेदाः० वेदों को पुस्तकों में लिख के सृष्टि की आदि में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे । प्र०— तो किस प्रकार किये थे ? उ०— ज्ञान के बीच में । यहाँ पर भी यह प्रष्टव्य है कि पुस्तकों में लिखे वेदों में और ज्ञान के बीच में प्रकाशित किये वेदों में क्या कोई विशेषता है यदि है तो दयानन्दमतानुयायी कोई जन युक्तिपूर्वक इसका समाधान करे विशेषता न होगे से, वरु यही समझ लेना चाहिये कि स्वामीजीने यह परिश्रम व्यर्थ ही किया । और— 'ज्ञानमध्ये प्रेरिताः' अर्थात् ज्ञानके मध्य में वेद प्रकाशित किये । यह कथन भी युक्त प्रतीत नहीं होता— क्यों कि उनके मत में वेद भी तो ईश्वर के ज्ञानरूप ही हैं । और आप यह भी तो बतलाइये कि जब ज्ञान निरवयव अर्थात् आकार रहित है तब उसके बीच आदि देश की व्यवस्था का पता ठीक-२ कैसे लग सकेगा ? यदि कहो कि वह सावयव है तो बस यह सब कथन वास्तवों के

विदुषाम् । तत्पुरातनशुद्धसंस्कारभावितान्तरिक्षायाः नृपीणां बुद्ध्यादीश्व-
रानुग्रहेण पुराधीतं वेदचतुष्टयं पुनरपिरसृतिपथमासुरीहेति दक्तं सारूपतम्
तथा सति पूर्वोक्तदोषपरिहारदलेशोपि न सोढव्यः स्यात् । अग्रेयि तत्र
सम्भविनो दोषा न प्रादुःष्युः । परन्तु स्वान्निहामागो यथेच्छमेवकार्यं
कार्यमिति निश्चिकाय । यन्मानुष्यो बलिरिति लौकोक्तिं सफल्यं स्तदनुयायि-
वर्गोपि तथाविध एवास्ति । “वेदोत्पादन ईश्वरस्य किं प्रयोजनमस्तीत्यत्र
वक्तव्यम् ? उच्यते, वेदानामनुत्पादने क्लृप्तस्य किं प्रयोजनमस्तीति ।
अस्योत्तरं तु वयं न जानीमः । सत्यमेवैतत्, तावद्देवोत्पादने यदस्ति प्रयोजनं
सकृच्छ्रुतम् । ईश्वरेनृता विद्यास्ति नवा ? आरत सा किं परिचित, स्वार्था ।
ईश्वरः परीपकारं न करोति किम् ? तेन किम्, तेनैव नस्ति विद्या स्वार्था
परायार्थ भवति, तस्यास्तद्विषयत्वात्” इत्यादिग्रन्थेन प्रश्नोत्तरपुरासुरं
वेदरक्षणे भगवतः परमेश्वरस्य याप्रयोजनवत्ता साधिता, तदप्रतिपादनरीति-
रपिशास्त्रार्थजन्ये जयमिच्छद्भिर्विद्वद्भिरवश्यं संरतोतव्या, शुद्धासना-

खेल जैसाही होगा, और जबकि ईश्वर को ज्ञान रूप चारों वेद समवाय
अर्थात् कभी भी दूर न हो सकने वाले सम्बन्ध से ईश्वर में ही विद्य-
मान रहते हैं तब उनका वहां से दूसरी जगह जाना अत्यन्त असम्भव क्यों
नहीं? इसलिए इस विषय में रवानी जी ने जो कुछ कथन किया है वह अनेक
दोषों से दूषित होने के कारण विद्वानों के आदर का पात्र नहीं हो सकता
उनके पूर्व जन्म के शुद्ध संस्कारों से निर्मल अन्तःकरण वाले ऋषियों की
बुद्धिमें ईश्वर की दया से पहिले पढ़े हुए चारों वेद फिर भी उन्हें स्मरण
अर्थात् दारुस्थ होगये । इस इसी प्रकार कहना उचित है । ऐसा कहने
अथवा मानने से पहले कहे हुए दोषों के दूर करने का विशेष भी न सहना
पड़ेगा और उस में होने वाले अन्य दोष भी प्रकट न होंगे । परन्तु इन रवानी
जी महाराज ने तो यह निश्चय किया हुआ है कि हमें तो अपनी इच्छा के
अनुसार ही कार्य करना है 'कैसा यज्ञ अर्थात् पूजनीय देव वैसी ही उसके
लिए बलि' इस लोक कथावत की सफल करते हुए उनके पीछे चलने वाले
लोग भी वस वैसे ही हैं अब रवानी जी के वेद विषयक कुछ और भी प्रश्नो-
त्तर अवलोकन कीजिये । प्रश्न-वेदोंके उत्पन्न करने में ईश्वर को क्या प्रयोजन
था । उ०- मैं तुमसे पूछता हूँ कि वेदोंके उत्पन्न नहीं करनेमें उसको क्या प्रयोजन

धानप्रकारोंपि शिष्यजनकृते साधुनया प्रबोधितोऽतएव नानुमुखा अपि तदनुयायिनो वक्तृप्रमुखा भवन्ति निरक्षरा अपि विदुषोऽभिभवितुं समुद्यु-
 ज्जते अनधिगतवेदबोधनान्था अपि वैदिकान् प्रति कृतश्मर्दा जायति ।
 योपि कश्चिद्धर्मतत्त्वं जिज्ञासमानः समुपेत्य कसपि पुरनं कुर्यात् स तद्विरुद्धं
 मचोद्य पूर्वं निरुत्तरं विदध्यात्, पुनयथेच्छं जिज्ञासितविषयं समाधाय वदा-
 वदताद्देवाकं सफलं वितम्बीत । वेदप्रतिपादने परमेश्वरस्य किं प्रयोजन-
 मिति पृष्ठस्तदनुत्पादने प्रयोजनस्य प्रष्टास्योत्तरं तु वयं न जामीम इति प्रति-
 बध्ना प्रतुष्टः प्रयोजनं शृणुतेति प्रतिकानानः किं नदुत्तरं प्रादादिति विद्या

था । जो तुम यह कहोकि इसका उत्तर हम नहीं जान सकते तो ठीक है । जो
 वेदोत्पत्ति का प्रयोजन है सो आप लोग मुझें । प्र०-ईश्वर में अनन्त विद्या
 है वा नहीं । उ०-है । प्र०-ही उसकी विद्या किसे प्रयोजन के लिए है । उ०-
 अपने ही लिये । प्र०-अच्छा तो मैं आप से पूछता हूँ कि ईश्वर परोपकार
 करता है वा नहीं । उ०-ईश्वर परोपकारी है इससे क्या आया । प्र०- इससे
 यह बात आती है कि विद्या जो है सो स्वार्थ और परार्थ के लिये होती है
 क्यों कि विद्या का यही गुण है कि स्वार्थ और परार्थ इन दोनों को सिद्ध
 करना । इत्यादि रचना के प्रश्न करने और साथ ही उनका उत्तर देते हुए
 स्वामी जीने वेद के रचने में ईश्वरकी प्रयोजनता अर्थात् कुछ अपना मतलब
 सिद्ध किया है । स्वामी जी के इस प्रश्नोत्तर के प्रकार की शास्त्रार्थ रूपी
 युद्ध में विजय चाहने वाले विद्वानों को अवश्य स्तुति करनी चाहिये । शङ्का
 समाधान का प्रकार भी शिष्य जनों के लिए अच्छी-ताह सनकाया है तभी
 तो केवल अकारादि अकारों का ही ज्ञान रखने वाले भी उनके मतानुयायी
 वक्ताओं में शिरोमणिनिरक्षर भट्टाचार्य भी विद्वानोंका अनादर करनेके लिये
 तट्यार और जिन्हें वेद के बोध की गन्ध भी न आई वे भी वैदिक सिद्धा-
 न्तों के जानने वाले विद्वानों के साथ ईर्ष्या करने में तत्पर हो जाते हैं । जो
 भी कोई धर्म का तरव जानने की इच्छा करता हुआ किसी के पास जाकर
 प्रश्न करे तो वह उत्तरदाता उसके प्रतिकूल उसे पकाड़ कर पहले निरुत्तर
 करदे फिर अपनी इच्छा के अनुसार उसके ज्ञातव्य विषय का समाधान करके
 रूम घड़ाधड़ खोजता हुआ उस अपनी अभिलाषा को सफल करले । 'वेद
 की रचने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है' इस प्रकार पूछा जाने पर फिर उसी

एव विदार्थकुर्वन्तु । विद्या स्वार्था परार्था च भवति तस्यास्तद्विषयत्वादिति यदुक्तं तन्न विचारचारु । यदेव स्वार्थत्वं परार्थत्वं च विद्यायाः साध्यं तस्यैव हेतुत्वेनोपन्यासात्, ईश्वरेण स्वविद्याभूतवेदस्योपदेशेन सम्प्रयोगता सम्पादिता इत्यनेन निष्कान्तस्य भगवतः परमेश्वरस्य स्वविद्याभूत वेदोपदेशद्वारा सम्प्रयोजनतासाधनं लौकिकपुरुषतो न तत्र किञ्चिद्वैशिष्ट्यमिति स्फोरयति । यथास्वनिर्मितप्रबन्धस्य प्रचारद्वारा निजबुद्धिवैभवं प्रकटयितुं कानः प्रयतते तथैवेश्वरापीति व्यवयते । यत्तु "धर्मार्थकाममोक्षसिद्धिद्या विना परमानन्द, एव न स्यादिति यदुक्तं तदपि बहुविधग-
विशिष्टम् । भगवन् ! कलिकालये ! धर्मार्थकाममोक्षसिद्धौ सत्यां यः परमानन्दो भवति, स किंरूपः ? अद्यावधि तु धर्मार्थकामेषु पुरुषार्थत्वेन प्रसिद्धाः श्रुताः, परमधुना तदन्तरभावी परमानन्दोपि ततः प्रयक्मदिष्टो विशाल-
धिषणावतात्रयवता । यदसन्निवेशेपि न प्रभवत्यसावभिनवादर्थाचार्यः ।

वेद के न रचने में प्रयोजन के पूरुने वाले ने-इसका उत्तर तो हम नहीं जान सकते। इस प्रत्युत्तर से प्रसन्न होकर 'वेद रचनेका प्रयोजन सुनो' यह प्रतिज्ञा करते हुए क्या अच्छो उत्तर दिया उसे विद्वान् लोग जानलें। 'विद्या जो है सो स्वार्थ' और परार्थ' के लिये होती है क्यों कि विद्या का यही गुण है' यह कथन युक्ति युक्त नहीं, क्यों कि स्वार्थत्व और परार्थत्व जो ही विद्या का साध्य हैं उन्ही की आप ने हेतुरूप से रक्खा है परमेश्वर ने अपनी वेद-विद्या का हम लोगों के लिये उपदेश करके सफलता रिद्ध की है इस कथन से निष्कान्त परमेश्वर की अपनी वेदविद्या के उपदेश द्वारा प्रयोजनता का सिद्ध करना इस बात को स्पष्टरूप से जतलाता है कि संसार के साधारण जनो की अपेक्षा परमेश्वर में कुछ भी विशेषता नहीं जैसे कोई मनुष्य अपने रचे-ग्रन्थ के प्रचार-द्वारा अपनी बुद्धि वैभव के प्रकट करने में प्रयत्न करता है वैसे ही परमेश्वर ने भी किया। और आपने जो यह कहा है कि- 'धर्म' अर्थ काम मोक्ष की सिद्धि के विना परमानन्द भी किसी को नहीं होता' यह अत्यन्त ही सन्देह से पूर्ण है। भगवन्, कलिकाल के ऋषि जी ! यह तो जतलाइये धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि होजाने पर जो परमानन्द होता है उसका स्वरूप क्या है ? अबतक तो धर्म आदि ही पुरुषार्थ रूप से प्रसिद्ध सुनने में आतेथे पर अब उनके पाच-वू होने लावा एक परम आनन्द

तद्यथा किञ्च ब्रह्मायहस्योत्कृष्टतत्त्वपदार्थप्राप्त्या यावत्सुखं भवति न तावत्
विद्याप्राप्तिसुखस्य सहस्रतमेनांशेनापि तुल्यं भवत्यती? वेदोपदेश ईश्वरेण
कृत एवास्तीतिनिश्चयः, अत्र 'सहस्रतमेनाप्यंशेन' 'ईश्वरेणैव कृतः' इत्येव
शब्दयोजना रूचिता स्यात्, यतोऽक्रमदोषो न स्यात् । परं साहित्यशास्त्र-
बोधशून्यो जनः कथंकारः समुचितपदावलिप्रयुक्तौ प्रभवेत् । "

"साहित्यशास्त्रहीनानां नानाशास्त्रविदामपि ।

समाजं परिपश्यन्ति समजं बुद्धिशालिनः ॥"

वेदोपदेश ईश्वरेणैव कृत इतिप्रतिज्ञाय तार्किकवरेण यत्प्रयुक्तं तत्तु न्यायशास्त्र-
विदा यथा चेत् प्रसन्नित जनयितुं नलं तत्सहृदयैरेव सावधानतयाभ्युपगम-
नीयम् । "एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वां तद्द्वारां वेदाः प्रकाशिताः । सत्यमेव-
मेतत् । परमेश्वरेण तेषु ज्ञानं दत्तं, ज्ञानेन तैर्वेदानां रक्षणं कृतमिति
विज्ञायते । नैवं विज्ञायि । ज्ञानं किं प्रकारकं दत्तं ? वेदप्रकारकम् । तदी-

और भी निकल पड़ा जिसको परमबुद्धिशाली आपने वनसे पृथक् उपदेश
किया है । इन नवीन आर्यों के आचार्यजी से पदों की यथास्थान ठीकर
संगति लगानी भी नहीं आती । जैसे कि - 'किञ्च ब्रह्मायहस्योत्कृष्टं, जितने
ब्रह्मायह में उत्तम पदार्थ हैं उनकी प्राप्ति से जितना सुख होता है सो सुख
विद्या प्राप्ति होने के सुखके हजारवे' अंशके भी तुल्य नहीं हो सकता ।
ऐसा सर्वोत्तम पदार्थ जो वेद है उसका उपदेश परमेश्वर क्यों न करता । इस
से निश्चय करके यह जानना कि वेद ईश्वर के ही बनाये हैं । यहाँ पर
किञ्च; इत्यादि संस्कृतके अन्तर्गत - 'सहस्रतमेनांशेनापि' और - 'ईश्वरेण कृत
एव' इन दोनों के स्थान में 'सहस्रतमेनाप्यंशेन' 'ईश्वरेणैव कृतः' इस प्रकार
शब्दों की योजना उचित थी जिस से कि क्रम भङ्ग होने का दोष न होता ।
परन्तु साहित्यशास्त्र के ज्ञान से शून्य है वह ठीकर पदों की संगति लगानी में
क्यों हर समर्थ हो सकता है ।

जो अनेक शास्त्रों को जानते हैं, पर साहित्य शास्त्र का ज्ञान नहीं रखते
ऐसे लोगों के समाजको विद्वान् लोग पशुसमूह के समान ही देखा करते हैं ।

वेदका उपदेश ईश्वरने ही किया है यह प्रतिज्ञा करके नैयायिक शिरो-
मसि जी ने जो प्रतिपादन किया है वह न्यायशास्त्रज्ञों के चित्त में जैसा
संगम हो सकता है यह विद्वज्जन स्वयं ही सावधान हो समझ लेंगे ।

श्वरस्य वा तेषाम्? ईश्वरस्यैव, पुनस्तेन प्रणीता वेदा आहोस्वित्त्वैश्च । यस्य
ज्ञानं तेनैव प्रणीताः । पुनः किमर्था शङ्का कृता? तैरेव रचिता इति निश्चय-
कारणार्थाः । इति यदवाचि दक्षिणा, तदत्यन्तस्थवीयोऽनेकदोषसंवलितत्वात् ।

शब्दार्थसम्बन्धविचारमुपधः, प्रयोगविज्ञानकलाविहीनः ।

वेदार्थहेवाकितया मशुन्नो, विलोचनान्तेसदर्थं विभाव्यः ॥

अहो कल्पेर्हिमा, यत्र सद्विद्यासम्पर्कं शून्या अपि अनर्गलानना वाच-
कूगजना यथेच्छं प्रतिपाद्य द्विशसंत्स्वंपि धन्या वदान्याश्च कथयन्ते । अस्तु
प्रकृतमनुसरानः— 'एषां ज्ञानसधये प्रेरयित्वा तद् द्वारा वेदाः प्रकाशिताः'

स्वामी जी का वेद रचना सम्बन्धी कुछ और भी रहस्य देखिये - " एषां
ज्ञानसधये इति"— उन चार चतुर्थ्यों के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश
करके उनसे ब्रह्मादि के बीच में वेदों का प्रकाश कराया था । प्र०-सत्य बात
है कि ईश्वर ने उनको ज्ञान दिया होगा और उनसे अपने ज्ञान से वेदों का
रचना किया होगा । उ०-ऐसा तुमको कहना उचित नहीं क्योंकि तुम यह भी
जानते कि ईश्वर ने उनको ज्ञान किस प्रकार दिया था ? उ०- उनको वेद-
रूप ज्ञान दिया था । प्र०-अच्छा तो मैं आपसे पूछता हूँ कि वह ज्ञान ईश्वर
का है वा उनका ? उ०- वह ज्ञान ईश्वर का ही है । प्र०- फिर आप से मैं
पूछता हूँ कि वेद ईश्वर के बनाये हैं वा उनके । उ०- जिसका ज्ञान है उसी
ने वेदों को बनाया । प्र०- फिर उन्हीं ने वेद रचे हैं यह शङ्का आपने क्यों
की थी ? उ०- निश्चय करने और कराने के लिये ॥ स्वामी जी का यह
कथन बहुत ही निश्चर और अनेक दोषों से परिपूर्ण है, इस इतना ही
कहना पर्याप्त समझ इस तो यही कहते हैं कि-

'शब्द और अर्थ सम्बन्धी विचारों में अनभिज्ञ, प्रयोगों की रीति की
न जानने वाला, वेदों के अर्थ करने की अभिलाषा (श्रीकीर्ती) से प्रेरणा
किया हुआ यह महाशय ठीक विलोचन शिष्य ही है ?

धन्य है इस कल्पियुग की महिमा को, जिस में, उत्तमर विद्याओं के स्पर्श
से शून्य, जो मुख में आवे वही कह देने वाले, बकवादी भी अपनी हज्ज्दा
के अनुवार अयंढसयंढ कह कर द्विजों की सभा में भी प्रशंसा पाते और वड़े
दानी कहते हैं । अच्छा, ही कुछ भी, अब इन प्रकार को आरम्भ करते हैं-
'एषां ज्ञानसधये! जिसके मतमें वेद ईश्वर के ज्ञानरूप हैं वही उनको प्रेरणा

इति । यदीयमते वेदानानीश्वरी-ज्ञानरूपत्वमस्ति स तत्प्रेरणं निरुच्येत ।
 किरूपा प्रेरणा ? इति । तस्या ज्ञानत्वेष्टसाधनत्वादिरूपत्वेत्वान्धदत्ता
 स्पष्टैव । अन्वय रूपं तु श्रीमान् च साधुरेव जानात् । "सतां हि दाणी गुण-
 मेव भाषते" । किंच 'ज्ञानमध्ये' इति पदबोधितं ज्ञानस्य मध्यत्वं किरूपम् ?
 नहि ज्ञानानि सावयवानि कैश्चिदिष्यन्ते, येन तदवयवावच्छिन्नत्वं प्रेरणा-
 याः स्यात् । 'सत्यमेवमेतत्' इति वाक्यरचनकौशलं चमत्काराधायकम् ।
 तथाहि—एतद्भाष्यं पूर्वान्वयि । उत्तरान्वयि वा ? आद्ये, न परमेश्वरेखेत्यादि-
 ग्रन्थासङ्गतिः स्पष्टैव । अन्त्ये, येषामिति पूर्वोक्तवाक्यस्यासंगतत्वापत्तिः ।
 किंच परमेश्वरेण येषो ज्ञानं दत्तमिति ज्ञानस्य दानं किनात्मकम् ? नहि
 ज्ञानं गवादिबन्तुर्द्रव्यं, यत्तद्दानं भवेत् । स्वस्वत्वं निवृत्तिपूर्वकं परस्व-वा-

कयन करे । पर यह तो कहिये कि प्रेरणा का रूप क्या है ? क्योंकि ज्ञान
 और इष्टसाधनत्व आदि रूप में जो उत्त (प्रेरणा) का संगत न होना स्पष्ट
 ही है । यदि उत्तका कोई और रूप है तो उसे स्वामी जी जानें । क्योंकि
 'सज्जनों की वाणी गुण ही की कयन करती है' । और- 'ज्ञानमध्ये' अर्थात्
 ज्ञान के बीच में इस पदसे जतलाया हुआ ज्ञान के 'बीच' का स्वरूप क्या
 है ?—क्योंकि ज्ञान किन्हीं के भी मत में मूर्ति वाले पदार्थ तो हैं ही नहीं
 जिस से प्रेरणा की स्थिति के लिए उनका कोई ऋण कल्पना किया जा सके
 और 'सत्यमेवमेतत्' इस वाक्य की रचनाचातुरी अत्यन्त ही चमत्कारजनक
 है । और यह वाक्य पहले बचन के साथ अन्वय अर्थात् सम्बन्ध रखने वाला
 है अथवा अगले के । यदि पहले के साथ कहो तो 'परमेश्वरेण' इत्यादि के
 साथ इसकी असङ्गति स्पष्ट ही है । अन्तिम के साथ मानो तो पहले वाक्य में
 असंगत होने की दोषापत्ति आती है । और यह भी जतलाइये कि आपने
 जो यह कहा है—'परमेश्वर ने जिनके लिये ज्ञान दिया' यह ज्ञान का दान
 कैसा है ? अर्थात् ज्ञान के दान का स्वरूप क्या और वह कैसे दिया जा
 सकता है ? क्योंकि ज्ञान जो आदि के सदृश मूर्ति वाला पदार्थ तो है ही
 नहीं कि जिसका देना बल सके । अपना अधिकार दूर करके दूसरे
 का अधिकार स्थापन कराना ही दान शब्द का अर्थ है वैसा
 दान तो किसी प्रकार भी उन (ज्ञानों) का नहीं घट सकता । इस
 लिये उन (इन्द्रियों) में वेदविषयक ज्ञान उत्पन्न लिये यही कहना उचित

पादनं हि दानशब्दार्थः । तथाविधं तु दानं न कथनपि तेषां संगच्छेत । तस्मात् तेषु वेदविषयाणि ज्ञानानि जनितानीत्येव वक्तुमुचितम् । 'इति विज्ञायत' इत्यादिकनधिकं भाति । यतस्तेन न काचिद्विष्टसिद्धिः । 'ज्ञानं किं प्रकारकं' दत्तं, वेदप्रकारकमिति यत् प्रयुक्तं तपस्विना, तन्न मनोरनम् किं विषयकं ? वेदविषयकमिति साम्प्रतम् । 'तदीश्वरस्य तेषां वेति वक्तव्ये या लेखनकौशली सात्वतीवाश्रयं करी, तस्यैवेत्युत्तरं प्रदायात्र पारितोषिक-ग्रहणयोग्यता प्रकटीकृतान्नभवता भिक्षुणा । केनचित् कस्मैचिद् गौर्दत्ता, तदुत्तरं, कस्येयं गौरिति पृच्छायां दातुरेवैषा नतु प्रतिग्रहीतुरित्युत्तरमनुहरन् दण्डी सन्नुचितदण्डोपायनमर्हति । 'पुनस्तेनैव प्रणीता वेदा आहोरिवत्तै-श्वे'ति विकल्प्य यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीता इति प्रतिवचोऽसम्बद्धम् । ईश्वर-ज्ञानेन तेषां प्रणेतृत्वनापाद्य पुनरीश्वरकर्तृकत्वाभिधानात् । 'पुनः किमर्था शङ्का कृता, तैरेव रचिता इति निश्चयकरणायां' इति शङ्कान्नाधाने लोका-

हे । 'इति विज्ञायत' इत्यादि पाठ भी अधिक होने से व्यर्थ है, क्योंकि उस से कोई इष्ट सिद्धि नहीं । 'ज्ञान किस प्रकार का दिया था ? उ०-वेदरूप' स्वामी जी का यह कथन मनोहर नहीं, इस लिये ऐसा न कह कर-- 'किस विषय का ज्ञान वेद विषयक' इस प्रकार कहना उचित है । 'तदीश्वरस्य तेषां वा' इस कथन में जो लिखने की चतुरता है वह अत्यन्त ही आश्चर्य-जनक है । और 'तस्यैव' यह उत्तर देकर तो बस स्वामी जी ने पूरा २ इनाम पाने की योग्यता प्रकट करदी । किसी ने किसी के लिये गौ दी । उस के पश्चात् यह गौ किसकी है ऐसा पूछने पर यह देने वाले की है, किन्तु लेने वाले की नहीं । बस, ठीक २ इसी प्रकार कथन करता हुआ यह दण्डी दयानन्द अथवा ही दण्डरूप पारितोषिक (इनाम) देने के योग्य है । 'फिर मैं आप से पूछता हूँ कि वेद ईश्वर के बनाये हैं वा उनके' यह तर्कना उठा कर-- 'जिसका ज्ञान है उसी ने वेदों को बनाया' । यह प्रत्युत्तर असंगत है । ईश्वर के ज्ञान से उनका क्या जाना कथन करके फिर उनका कर्ता ईश्वर बतलाना अनुचित है । 'फिर उन्हीं ने वेद रचे हैं यह शंका आपने क्यों की थी ? उ०- निश्चय करने और कराने के लिए' यह शंका और समाधान दिव्यबुद्धि वाले उसी महाशय को शोभा देते हैं । 'प्रेरयित्वा' यह प्रयोग साफर इनके व्याकरण ज्ञान को प्रकट कर रहा है स्वामी जी का साहित्य

त्तरप्रज्ञस्य तस्यैव महच्छस्य शोभते । प्रेरित्वेति प्रयोगोऽस्य व्याकरणयोर्धं
निगमयति । चेपान्तिव्यस्य स्थाने एषां प्रयोगश्च साहित्यशास्त्रान्यासेस्ति
प्रमाणात्—

अपूगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः ।

सन्त्यत्र बहुलालापा कवयो बालका इव ॥

इति पद्यं सृष्टिपथमारोपितं नोऽस्य कृत्या स्वान्तिहोदयस्य । विवेक-
भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥ इति । “चतुर्मुखेन प्रज्ञया निर-
मायिषतेत्येतिह्यम्, नैव वाच्यम् - ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणात्तर्भावात्
'आप्तोपदेशः शब्दः' ॥ न्यायशास्त्रे अ० १ सू० १ । इति गौतमाचार्योक्त-
त्वात् । शब्द ऐतिह्यमित्यादि च । आप्तः खलुसाम्प्रदायतथर्मा यथादृष्ट-
स्यार्थस्य चिह्नया पथिषया प्रयुक्त उपदेशः, साक्षात्कारसार्थस्याप्तित्तया
प्रवर्तत इत्याप्तः । इति न्यायभाष्ये - वात्स्यायनोक्तः । अतः सत्यस्यैवैति-

शास्त्रं मे कौ सा अभ्यास या वस इसमें 'चेपाम्' इत्येते स्थान में एपाम् यह
प्रयोग ही प्रमाण समझ लीजिए ।

अपूगल्भेति०—कौन पद कहाँ रखना चाहिये और किसका किसके साथ
सम्बन्ध है इस प्रकार के ज्ञान में भ्रष्ट, केवल अपनी नाता की प्रीती के
पात्र बालकों के समान ही कवि संसार में वृहत् होते हैं ।

स्वामीजी की इस फरकतने यह उपर्युक्त श्लोक हमें स्मरण करा दिया ।
विचारहीन लोगों की गिरावट के सैकड़ों कारण हो जाया करते हैं । स्वामी
जी की वेद विषयक कुछ और भी लीला देखिए — “चतुर्मुखेन ०” प्र०-
चार मुख वाले ब्रह्मा ने वेदों को रचा ऐसे इतिहास को हम लोग सुनते
हैं । उ०- ऐस सत कहो क्यों कि इतिहास को शब्द प्रमाण के भीतर गिना
है । (आप्तो०) अर्थात् सत्यवादी विद्वानों का जो उपदेश है उसको शब्दप्रमाण
में गिनते हैं ऐसा न्याय दर्शन में गौतमाचार्य ने लिखा है तथा शब्द-
प्रमाण से जो युक्त है वही इतिहास मानने के योग्य है अन्य नहीं इस सूत्र
के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने आप्त का लक्षण कहा है जो कि साक्षात् सब
पदार्थ विद्याओं का जानने वाला कपट आदि दोषों से रहित भर्त्ता है
किन्तु जो पूर्ण विद्या से आत्मा में जिस प्रकार का ज्ञान है उसको कहने की
इच्छा की प्रेरणा से सबसुखों पर कृपादृष्टि से सब सुख हीने के सत्य उपदेश

स्यत्वेन ग्रहणं नानृतस्य । यत्सत्यप्रमाणाभाप्योपदिष्टमैतिह्यं तद् ग्राह्यम् नातो विपरीतमिति, अनृतस्य प्रसक्तगीतत्वात् । एवमेव व्याख्यानविभिन्नश्च वेदा रचिता इत्याद्यपि सिध्यैवास्तीति मन्यताम् । नवीनपुत्राण्यन्धानां तन्त्रग्रन्थानां च वैयर्थ्योपपत्तिश्चेति यद्दुक्तं विशालमतिना यतिना तद् दृष्टिगोचरतासापन्नं सदतीव तर्करसिकजने कौतुकनुत्पादयति । 'वेदाश्चतुर्मुखेन ब्रह्मणा निरमायिषतेत्यैतिह्यं मैवं वाच्यं', ऐतिह्यस्य शब्दान्तर्गतत्वात्, इत्यत्रैतिह्याभावं साधयतस्तस्य शब्दान्तर्गतत्वहेतौ वदतो व्याघातः । अस्यायनमिप्रायः - चतुर्मुखेन ब्रह्मणा वेदाः प्रतिपादिता इत्येव-विश्वं यदैतिह्यं तन्नवाच्यमर्थात्तन्न प्रमाणम्, ऐतिह्यस्य शब्दान्तर्गतत्वात् ऐतिह्यत्वे सति शब्दत्वादित्यर्थः- शब्दप्रमाणात्वादिति यावत् इत्यनेनै-

का करने वाला है और जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त सब पदार्थोंको यथावत् साक्षात् करना और उसी के अनुसार वर्तना इसीका नाम आग्नि है इस आग्नि से जो युक्त हो उसको आग्नि कहते हैं उसी के उपदेश का प्रमाण होता है इससे विपरीत मनुष्य का नहीं क्यों कि सत्य वृत्तान्त का ही नाम इतिहास है अनृत का नहीं । सत्य प्रमाणयुक्त जो इतिहास है वही सब मनुष्यों की ग्रहण करने योग्य है इससे विपरीत इतिहास का ग्रहण करना किसी को योग्य नहीं क्यों कि प्रमादी पुरुष के मिथ्या कहने का इतिहास में ग्रहण नहीं होता इसी प्रकार व्यास जी ने चारों वेदों की संहिताओं का संग्रह किया है इत्यादि इतिहासों को भी मिथ्या ही जानना चाहिए जो आज कल के बने ब्रह्मवैवर्तादि पुराण और ब्रह्मयामल आदि तन्त्रग्रन्थ हैं उन में 'कहे इतिहासों' का प्रमाण करना किसी मनुष्य को योग्य नहीं क्यों कि इनमें असम्भव और अप्रमाणा कपोल कल्पित मिथ्या इतिहास बहुत लिख रखे हैं ।" विशाल बुद्धि स्वामी जी ने जो कहा है वह दृष्टि के साजने आया हुआ न्यायशास्त्रके विद्वानों में बहुत ही चमत्कार दिखाता है । 'वेदाश्चतुर्मुखे' इत्यादि लेख में इतिहास का अभाव सिद्ध करते हुए उसके शब्द के भीतर होने रूप हेतु में 'वदतो व्याघात' दोष आता है । इसका अमिप्राय यह है कि—चारमुखवाले ब्रह्मा ने वेद रचे इसप्रकार कथन करने वाला जो इतिहास है वह प्रामाणिक नहीं, क्यों कि इतिहास शब्द प्रमाण के अन्तर्गत है । इस कथन से इतिहास का प्रमाण न होना सिद्ध करते हुए स्वामी जी ने

तिष्ठत्याप्रमाणात्वं' साधयनाऽनेन तस्य प्रमाणत्वमपि स्वयं स्वीकृतम् ।
 आप्तोपदेशः शब्दः न्यायशास्त्रे इति गोलमाचार्यकोक्तत्वादित्यत्र आप्तो-
 पदेशःशब्द इति न्यायशास्त्रे गोलमाचार्यकोक्तत्वात्, इति हेतुः उत्प्रेष-
 प्रकारेण योवस्तनोक्तः सप्त शब्दः यथा प्रमाणात्ममेव प्रभृति तथाचायं तस्मा-
 त्थेति आप्तोपदेशे शब्दे प्रमाणात्वं साधयन् तार्किकत्रयोयं कथं न न्याय-
 रत्नोपाधिना भूष्यः । 'शब्दैतिच्छान्तित्यादि चेति किमपि गूढतरमभिप्राय-
 सपद्यैत्र विन्यस्तम् । सत्यस्यैवेतिच्छान्तत्वेन प्रवृत्तमित्यस्य कोमित्तिः,
 यद्यत्सत्यं तत्तदेतिच्छान्ति चेत् प्रमाणात् तद्यथात्प्रवृत्तः । नानृतस्येति कथनं
 व्यर्थं, पूर्वोक्तो नैवावधारणात् । यत्सत्यप्रमाणतापत्तापदिष्टमितिच्छान्तं
 तद्ग्राह्यम् । इत्यत्र सत्यप्रमाणात्मित्यस्य कोर्णः ? सत्यं प्रमाणं यस्मिन्स-

उसका प्रमाण होना भी स्वयं स्वीकार कर लिया । 'आप्त अर्थात् सत्यवक्ता
 पुरुष का उपदेश शब्द प्रमाण में गिना है ऐसा न्यायदर्शन में गोलमाचार्य
 ने कहा है, यहाँ पर—आप्त पुरुष का उपदेश शब्द प्रमाण में गिना है ऐसा
 न्यायदर्शन में लिखा है, यह हेतु हुआ । इस प्रकार से जोर उसने कहा वही
 शब्द जैसेकि प्रमाण, प्रमेय आदि वैसे ही यह भी इस प्रकार से आप्त
 (सत्यवादी) पुरुषों के उपदेश किए शब्द में प्रमाण होना सिद्ध करता हुआ
 तर्क शास्त्र के विद्वानों में शिरोमणि यह दयानन्द भला 'न्यायरत्न' की
 उपाधि से शोभित करने योग्य क्यों नहीं ? 'शब्दैतिच्छान्तम्' इत्यादि लोप कुछ
 बहुत गूढ अभिप्राय की अपेक्षा से ही रक्खा है 'सत्यस्यैवेतिच्छान्तत्वेन प्रवृत्तम्'
 अर्थात् सत्यका ही इतिहास रूप से गूढ़ण है, यह जो आपने कह है इनका
 समाधान क्या है? 'जोर सत्य, वहीर इतिहास' यदि ऐसा जानों तो 'यद्यार्थं
 रूप से जाने हुए मत्येक पदार्थ के वर्णन में इतिहास होने के प्रसंग रूप दीप
 आज्ञायोग्य । 'नानृतस्य' यह कथन व्यर्थ है क्यों कि पहले सत्य शब्द के कथन
 से ही असत्य के इतिहास न होने का निरूपण हो जाता है । 'यत्सत्यप्रमाण-
 तापत्तापदिष्टम्' इत्यादि वाक्य में 'सत्यप्रमाणम्' इन पदका क्या अर्थ है ?
 सत्य प्रमाण ही जिस में उसे सत्यप्रमाण कहते हैं, आध्या सचाई को
 लिए हुए जो प्रमाण वह सत्य प्रमाण है इस प्रकार ये दोनों ही अर्थ असंगत
 हैं क्यों कि प्रमाण में असत्य होने की शक्यता उत्पन्न नहीं हुआ करती । और
 प्रमाण को प्रमाण होने की सिद्धि के लिए यदि दूसरे प्रमाण की अपेक्षा

सत्यप्रमाणं यद्वा सत्यं च तत्प्रमाणमिति सत्यप्रमाणम् ? एतद् द्वयमपि न संगतं प्रमाणीऽसत्यत्वशङ्कानुत्थिते । किंच प्रमाणस्य प्रमाणावसाधनं यदि प्रमाणांतरमपेक्षेत, तर्हि तस्याप्यन्यत्स्याप्यन्यदित्येवमव्यवस्थो स्यात् यतो जन्मान्तरेऽपि पूयतमानो जनः प्रमाणावमेव प्रमाणस्य न साधयेत् । किंच साक्षा कृतधर्मण प्राप्तस्यापि वचसि सन्दिहानो भवान् सत्यप्रमाण-मिति तद् व्याहरन् जनः सत्यस्यैवेति न्यत्वेन गृह्यमिति स्वसिद्धान्तितत्वेन नातिष्ठितत् तदैतिह्यं ग्राह्यं नातो विपरीतमिति पक्षीकृत्य अनृतस्य प्रसक्तगीतत्वात् इति यद् हेतुत्वेन व्याजहार तत्तस्य बुद्धिबैशद्यं साधु-स्फोरयत्तर्कविद्या पारगामित्वं दर्शयत्येव ।

- 'पदे पदे प्रखलनं जिज्ञासो विरुद्धहेतुपूजाधनोऽसौ ।
प्रसक्तगीतामि (प्रयुक्तिं) वदन्नलज्जामुरयातिहन्त ॥
गीर्वाणवाणीसमयानभिज्ञो विज्ञापवशावलिमेवतुष्टः ।

की जाये तबतो उसके भी प्रमाण होने के लिए कि किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता पड़ेगी और उसके भी लिए और की इस प्रकार अव्यवस्था दोष आजायगा और ऐसा होने पर कोई मनुष्य अनेक जन्मों भी प्रमाण का प्रमाण होना सिद्ध न कर सकेगा । और जिसने सब पदार्थों को साक्षात् रूप से जान लिया हो उस सत्यवक्ता के वचन में भी आपको सन्देह हो गया जिससे कि वहाँ 'सत्यप्रमाणम्' यह पद और रक्खा । वस इस प्रकार बहुत कुछ क्लिप्तते हुए भी आप 'सत्य का ही इतिहास रूप में ग्रहण है' अपने इस सिद्धान्त की स्थापना न कर सके । 'तदैतिह्यं' सत्यप्रमाणयुक्त इतिहास ग्रहण करने योग्य है इससे विपरीत नहीं, यह पक्ष उठा कर—'अनृतस्य०'— प्रमादी पुरुष के मिथ्या कहने का इतिहास में ग्रहण नहीं, यह जो हेतु रूप से कहा है वह स्वामीजीकी बुद्धिके नैर्मल्य की अच्छे प्रकार प्रकट करता हुआ न्याय शास्त्र की विद्वत्ता को अच्छे प्रकार दिखला रहा है ।

पदे पद इति०— पदपर अपना गिरना प्रकट करता हुआ और शास्त्र विरुद्ध हेतुओं के साधन वाला यह स्वामी दयानन्द दूसरों की युक्ति वा कथन को प्रमादियों का कथन कहता हुआ लज्जा को प्राप्त नहीं होता यह वही शोक की बात है ।

संस्कृत वाणी के सिद्धान्तों में अनभिज्ञ (नावाकिक) और वर्णनालाशर्यात् असाक्षि अक्षरों को जानकर ही संतुष्ट हो ग्रन्थ रचनाके कार्य में प्रयत्न

निवन्धवन्धे प्रतत्प्रयत्नो नोचेद्विमुधोऽपरएवकः स्यात् ॥

अधीतशास्त्रैरपि सूर्यवर्षवेदोक्तसम्पद्धतिदत्तचित्तैः ।

युक्तिप्रनाशैरथ वादक्षार्दैर्विवादाभिच्छन् किमुनैपवाच्यः ॥

क्षुत्कर्तव्येण जयसभायाननेकगार्हार्थं विदांघराकः ।

प्राप्तुं महामोददिलासतन्त्रः करोति किंयुक्तमसीविधानम् ॥ इति

एवमेव व्यासेन ऋषिभिश्च वेदारचिता इत्याद्यपि । निश्चयैवास्तीति मन्यताम् । नवीनपुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च वैपर्ययापत्तेश्चेतीत्यत्रापि सनागृहृष्टिपातः कार्यः परोक्तिसारावगमवद्भ्रपरिकरेण सुषनिकरेण । अनेनैव प्रकारेण व्यासेनपिभिश्च वेदारचिता इत्याद्यपि निश्चयैवास्तीति साहंकारं पक्षंथापयता यज्ञवीनपुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च वैपर्ययापत्तेश्चेति हेतुत्वेनोपन्यस्तं तत्किञ्चिद्विचारजुष्टकितितुमर्गज्ञैः स्वयमेवज्ञेयम् । नवीनपुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानामित्यत्रपूर्ववाक्ये कः समासः ? कर्मधारय इति चेन्न

करता हुवा यह (स्वा० दयानन्द) यदि नूढ नहीं तो फिर और ही कौन हो सकता है ?

अनेक शास्त्रों को पढ़े हुए और वेदविहित सागं वा धर्म में चित्तलगने वाले बड़े विद्वानों के साथ विवाद भरी हुई केवल युक्ति प्रमाणी से विवाद की इच्छा करता हुवा यह (दयानन्द) क्या निन्दनीय नहीं ? ।

अनेक शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान् लोगों की सभा में खोटी र तर्कनाओं से विजय प्राप्त करने के लिए अज्ञानान्धकार में फंसा हुवा यह (दयानन्द) क्या उचित प्रकार से काट्य करता है ? ॥

'एवमेव व्यासेन ऋषिभिश्च वेदाः'— इत्यादि लेख पर भी तत्त्व ज्ञानी विद्वान् लोगों को तनिक दृष्टिपात करना चाहिए इसी प्रकार व्यास और ऋषियों से वेद रक्षेगये यह कथनभी निश्चया ही है, बड़े अहङ्कार से इसपक्षको स्थापित करते हुए स्वामीजी ने ब्रह्मवैवर्त आदि पुराण और रुद्रयासल आदि तन्त्रग्रन्थभी व्यर्थ हीनेसे यह जोहेतु प्रदान किया है इसमें प्यासार है? यह विद्वान् स्वयं जानलेंगे । 'नवीनपुराणग्रन्थानां' 'तन्त्रग्रन्थानाम्' यहाँ पर पहले — 'नवीनपुराणग्रन्थानाम्' इस वाक्य में कौन समास है ? यदि कर्मधारय कहाँ तो ठीक नहीं, क्योंकि नवीन और पुराण इन दोनों शब्दों का आपत्त में समानाधिकरण ही नहीं है । और 'नवीन निर्मिताश्च ते

नवीनपुराणत्वयोः साक्षात्साधिकायमायात् । नवीननिर्मितपुराणग्रन्थाना-
 न्निमित्तमध्यपदलोपी इति चेन्न अभिनवकर्तृकृतवस्तुनः पुराणत्वसाक्षिपचित्वा-
 सम्भवात् । ननु वेदान्तशास्त्रकर्ता भगवान् व्यासदेवः किमनूपि पदं तद्वद्व
 भिन्नत्वेन समुदाजहारिदं युगीनो सहर्षिस्तम् । योहि नाम निजाभिमायमपि
 प्रकाशीकर्तृनालं, तस्यग्रन्थरचनोत्कलिकोऽङ्गम्भणमुपहास्यायैव केवलम् ।
 धन्योऽस्त्यार्यसमाजो यस्याद्भुतसाहसशाली सर्वतन्त्रस्यतन्त्रनतिः श्रीदयानन्द-
 चत्तिराचार्यसासाप । यज्ञानुसूचीवत्तिरिति लोकोक्तिरपि लब्धावकाशा
 समजनितम् । “योमन्त्रसूक्तानामृषिलिखितस्तेनैव तद् रचितमिति कृतो न
 स्यात् । नैवंथादि । ब्रह्मादिभिरपि वेदानाकथयन्प्रवृत्तयोः कृतत्वात् ।
 ‘यो ब्रह्मायं विदधाति पूर्वं योवै वेदांश्च प्रह्वियोति तस्मै’ श्वेताश्वतरोपनि-
 यदादिवचनस्य विद्यमानत्वात् । एवं यदर्पिणाद्युत्पत्तिरपि चासीत्, तदा
 ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्तमानत्वात् । अग्निवायुरदित्यस्तु त्रयं ब्रह्मसमा-
 तनम् । हुदीह यज्ञस्यैव नृन्पशुः सामलक्षणम् ॥१॥ अ० १ । अथयापया-

पुराणग्रन्थाश्च’ अर्थात् नये रचे हुए पुराण ग्रन्थ इस प्रकार यदि मध्यपद
 लोपी कहा तो भी नहीं बन सकता क्योंकि नवीनकर्ता की रची वस्तु का
 नाम पुराण हो सकता ही नहीं । और हम आपसे यह पूछते हैं कि वेदान्त
 शास्त्र के कर्ता भगवान् व्यासदेव क्या अज्ञान नहीं थे ? जो ऋषि शब्द से
 पृथक् उनका नाम रखा । जो अपने अभिप्राय को भी अच्छे प्रकार प्रका
 शित न कर सके उसकी ग्रन्थरचना रूप कालिका खिलना अर्थात् ग्रन्थ रचने
 की इच्छा का होना केवल हंसी कारण है । धन्य है आर्यसमाज को जिस
 में अद्भुत साहसी, और सब शास्त्रों के निन्दार में स्वाधीन बुद्धि श्री दयानन्द
 स्वामी ने आचार्य पद पा लिया । ‘जिसा देव या भूत वैसी उसकी भेट’ इस
 लोक कथावत को भी वहाँ अवकाश मिल गया ।

यो मन्त्रसूक्तानामिति— ‘प्र०-जो सूक्त और मन्त्रों के ऋषिं जिसे जाते
 हैं उनमें ने ही वेद रचे हों ऐसा क्यों नहीं माना जाय ? । उ०- ऐसा नल
 कहे क्योंकि ब्रह्मादि ने भी वेदों को पढा है सो श्वेताश्वर आदि उपनिषदों
 में यह वचन है कि जिसने ब्रह्मा को उत्पन्न किया और ब्रह्मादि को सृष्टि
 की अदि में अग्नि आदि के द्वारा वेदों का भी उपदेश किया है उसी पर-
 मेश्वर के श्रम को हम लोग प्राप्त होते हैं इसी प्रकार ऋषियों ने भी वेदों

मास पितृन् शिशुरागिरसः कविः । ७० २ । इति मनुष्यादयत्वात् । शग्ण्या-
दीनां सफाशाद् ब्रह्मापि वेदानामध्ययनं चक्रेऽन्वेषां व्यासादीनां तु पर
कथा ? इत्यनेन सन्दर्भेण यत्प्रतिपादितवानिदांतीतनम्रपिस्तदपि दत्ताव-
धानैः पाठकमहोदयैः समवलोकनीयम् । तदनन्तरं च सूक्तिरसनिपानमसक्ति-
भरभागिर्भयघायनालीकशब्दादिभिः सम्भावनीयः श्रीभक्षुकीयं ललाटतट-
न्यस्ताञ्जलिपुटैर्द्विभिः । 'यो मन्त्रसूक्तानामृपिलिखितस्तेनैव तद्रचितमितिः
कुतो न स्यात् इत्याशङ्क्य केवंचादि, ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयो
कृतत्वात्, इत्येवं यत्समाहितवान् तदतीवार्पेशलम्, अनेकदोषपरीतपदकदम्ब-
प्रायस्त्वात्तत् प्रयोगस्य । तद्यथा-तद्रचितमिति नपुंसकप्रयुक्तिर्नोचितो, तच्छब्द
परामृष्टस्य चेतस्य पुंलिङ्गत्वात् । मन्त्रसूक्तान्यभिप्रेत्य प्रयोगोऽयं
निरवद्य इति चेन्न । वदयन्त्या ग्रन्थेन तथाप्रतीतिरसम्भवात् ।
ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात्, इत्यत्राच्यय-
नश्रवणयोरेकतरेणापि यथाभिलपितसिद्धिसम्भवात्कृतं तच्छब्दद्वयविन्या-

को पढ़ा है क्योंकि लक्ष नरीचयादि ऋषि और व्यासादि मुनियों का जन्म
भी नहीं हुआ था उस समय में भी ब्रह्मादि के समीप वेदों का वक्तमान था
इस में मनु के प्रतीकों की भी साक्षी है कि पूर्वोक्त अग्नि वायु रवि और
अङ्गिरा से ब्रह्माजी ने वेदोंको पढ़ा था तो व्यासादि और हम लोगों की तो
कथा क्या ही कहनी है" । इत्यादि रचना से कलियुगीय ऋषि स्वा० दया-
नन्द जी ने जो कथन किया है वह भी दत्तचित्त होकर पाठक महोदयों को
श्रवणलोकन करना चाहिए और तत्पश्चात् सुदुल एवं विनीत प्रिय वचनों के
रस रूप जलाशय की स्वच्छता से भरे हुए 'जयकार' आदि शब्दों के उच्चा-
रण से मस्तक पर हाथ जोड़ आप लोग इस भिक्षुक का उचित सत्कार करें ।
'जो सुक्त और मन्त्रों के ऋषि लिखे जाते हैं उन्हें ने ही वेद रचे हों ऐसा
कौन नहीं माना जाय ? यह शङ्का करके—ऐसा मत कहो क्योंकि ब्रह्मादि ने
भी वेदोंको पढ़ा है' इस प्रकार जो समाधान किया है वह अत्यन्त ही अन-
भिज्ञता से भरा हुआ है क्योंकि उन प्रयोगों में जो पद हैं वे अनेक दोषों से
परिपूर्ण हैं । जैसे कि 'तद्रचितम्' यह नपुंसकलिंग का प्रयोग यहाँ बिल्कुल
ही अयुक्त है, क्योंकि 'तद्र' शब्द से सम्बन्ध रखने वाला 'वेद' शब्द पुंलिंग
है । मन्त्रसूक्तों के अभिप्राय से यह प्रयोग निर्दोष है यह कथन भी ठीक नहीं

सेम । एवं यदर्षीणामुत्पत्तिरपि नासीत्तदा ब्रह्मादीनां समीप
वेदानां वर्तमानत्वादिति यदुक्तं निःसारपदन्यासहेवाकिना दृष्टिहना
तन्नु साहित्यशास्त्ररहस्यवि । विपरिचितां मनांसि रोचयेयुः । न्यायशास्त्रा-
पारंगमां अत्रि किं नोयहसिष्यन्ति अस्य वाचो युक्तिपटुता, व्याकरणबोध-
शालिनी धृतशक्तिप्रदकलाकलापगुणमालिनोऽतिविशालप्रज्ञाः प्रज्ञाः किमु
तद्ब्रह्मज्ञानररीकरिष्यन्ति । 'तदा ब्रह्मादिभिस्तेषामधीतत्वश्रवणात्, इति
सुवचं, तत्समीपे तदीयविद्यमानताप्रतिपादनस्यासंगतत्वात् । 'अग्निवायु-
रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम्, दुदोह यज्ञसिद्धयर्थं नृग्यजुः सामलक्षणम् । अध्या-
पयन्नास पितृन् शिशुराङ्गिरसः कविः' । इत्युद्धृत्य ननुसाक्ष्यत्वादिति यत्तेन
विन्यस्तम्, तदयुक्तं मनुसाक्ष्यादित्यनेनैव कार्यसिद्धौ पुनस्त्वप्रत्ययविधान-
स्य निरर्थकत्वात् । अहो एतावत्यनवधानतां वेदभाष्यकारस्य पदप्रयोगो
साधारणश्रेष्ठोपीकीधीतव्याकरणलघुसिद्धान्तकीमुदीकोपिबालो नैवविधां त्रुटिं
कुर्यात्, यत्प्रकारानुष्ठाय्यायीसहाभाष्यसामानस्य वेत्तोद्गावयति । भगवन् !

पर्योकि वक्ष्यमाण ग्रन्थ से जैसी प्रसिद्धि सम्भव नहीं । 'ब्रह्मादिभिरपि वेदा-
नामध्वयनश्रवणयोः कृतत्वात्' यहाँ पर अध्ययन और श्रवण इन दोनों
शब्दों में जब एक से भी कार्य सिद्ध होजाना संभव है तब दोनों शब्दों का
ग्रहण निरर्थक है । इसी प्रकार 'यदर्षीणामुत्पत्तिरपि' इत्यादि निःसार
पदों को जोड़ स्वामी जी ने जो कहा है क्या वह साहित्यशास्त्र के तत्व को
जानने वाले विद्वानों के मनको रुचिकर हो सकेगा ? न्यायशास्त्र के विद्वान्
भी इनकी इस वचनयुक्ति के 'सातुर्य' पर क्या विना हंसे रह सकेंगे ? और
व्याकरणशास्त्र के ज्ञानी एवं विशाल बुद्धि पण्डित लोग क्या इनके ब्रह्मत्वको
स्वीकार कर लेंगे ? इस उपर्युक्त वाक्य के स्थान में— 'वेदा ब्रह्मादिभिस्ते-
षामधीतत्वश्रवणात्' यह वचन अच्छा प्रतीत होता है । 'अग्निवायुरवि-
भ्यस्तु' इत्यादि मनुस्मृति के श्लोक उद्धृत करके— 'मनुसाक्ष्यत्वात्' यह वचन
जो उन्होंने ने कहा है अनुचित है क्योंकि 'मनुसाक्ष्यात्' जब इतने ही वाक्य से
कार्य सिद्ध हो जाता है तब उस के आगे 'एव' प्रत्यय का जोड़ना निरर्थक
है । हा ! बड़ा आश्चर्य और शोक है कि वेदभाष्यकार के पदप्रयोगों में
इतनी असावधानी ? साधारणबुद्धि वाला व्याकरणमें केवल ' लघुकीमुदी '
पढ़ा हुआ बालक भी इस प्रकार की त्रुटि नहीं कर सकता जैसी कि अष्टा-

विभ्रमयोग्ये भवदीयवेषे श्रद्धालदोषमनुसृतवधश्च ।
 अस्नाहशोनेफजनाशिवराय हा हस्त ते शिष्यतया निरुद्धाः ॥
 यथार्थभूता शवलम्ब्य पद्धतिं प्रकाश्यते वैदिकधर्मतत्त्वकम् ।
 मयाधुनायद्भवता प्रतिश्रुतं ततः पत्नीपो विधिरेष जानरी ॥
 दुःशब्दशास्त्रं परिभूय मस्कारित्, न्यायोक्तरीतिविनिर्कृत्यसमयः ।
 इच्छानुरूपं 'समयं प्रकल्पयन्, दुर्नीचिकिं हन्तमुधा सरस्वतीम् ॥
 त्वच्छिष्यवारो ननुबाबुसंज्ञकः, प्रनाशयंस्ते वचनं यथायथम् ।
 व्युत्थितं श्रुतं पठितुं तनोति यद्, सचिद्वेषेवाऽसिततो पिदारणम् ॥
 अतोधुना ब्रह्मकुलावतंसाः, वेदादिसच्छास्त्रगदीनहंसाः ।
 अशङ्कवानाः सहितुं कदिहितं प्रसञ्जितास्ते कुविपार वारखे ॥ इति

ध्यायी और महाभाष्य के जानने वाले ये स्वामी भी महाराज दिखला रहे हैं । भगवन् !-

विभ्रममिति-विश्रान्त के योग्य आप के इस (संन्यासीपने के) वेष में
 श्रद्धालु और धर्म का तत्त्व जानने की इच्छा वाले हस्त जैसे अनेक जन हैं ।
 शोक है कि बहुतकाल से आपके शिष्य होने की रूपाति से प्रसिद्ध हो गए ॥
 "ठीक २ मार्गका आश्रय लेकर, मैं अब वेदोक्तधर्म के तत्त्व को प्रकाशित
 करता हूँ, भगवन् ! प्रतिज्ञा तो आप ने की थी यह, पर, प्रकार उसके प्रति
 कुल कुल और ही होगया ॥

संन्यासिन ! (क्रोध अथवा अनोदर की दृष्टिसे) दुष्ट, यह शब्द बोलकर
 व्याकरण शास्त्र का और सांख्यिकान न्याय शास्त्र की रीति का तिरस्कार
 करके अपनी इच्छा के अनुसार सिद्धान्त रखते हुए वेचारी सरस्वती देवी
 को क्यों व्यर्थ पीड़ा देते हो ॥

आपके शिष्य आज लोग श्री महाराज के वचन को ठीक २ प्रामाणिक
 समझते हुए वर्षों और आश्रमों को मिटाने के लिए जो रुचि बढ़ा रहे हैं
 उसके कारण आप ही तो हैं ॥

इसलिए अब वेदादि उक्तोक्तम शास्त्रों का तत्त्व विचारने में जो हंस
 समान और ब्रह्मकुल में शिरीशखि विद्वान् लोग हैं वे उसकी इस करतूत को
 न सह सकते हुए इस कुविचार के दूर करने में तत्पर हुए हैं ॥

“ कथं वेदः श्रुतिश्च द्वेनाम्नी ऋक्संहितादीनां जाते इति ? अर्थ-
वशात्- (विद्) ज्ञाने, (विद्) सत्तायाम्, (विद्भू) लाभे, (विद्) विचारणे, एते-
भ्यो हस्तश्चेति सूत्रेण करणाधिकरणकारकयोर्षज्प्रत्ययेकृते वेदशब्दः
साध्यते । तथा (श्रु) श्रवणे इत्यस्माद्भातोः करणकारके षिन् प्रत्यये कृते श्रुति-
शब्दो व्युत्पद्यते । विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति विन्दन्ते
लभन्ते विन्दते विचारयन्ति सर्वे अनुष्याः सर्वाः सत्यविद्यायैषु वा तयो विद्वां-
सश्च भवन्ति ते वेदाः । तथादिसृष्टिसारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्य-
विद्याः श्रूयन्तेऽनयो सा श्रुतिः । इति यदुक्तमैदं युगीनाचार्येण सद्य-
स्कार्येण तत्सारासारविवेचनाप्रतिहतधियणैर्विचक्षणे विचोपानवद्य-
विद्यस्य स्वतोधिगतनिखिलाविकलनिगमब्रह्मस्य शब्दव्युत्पत्तिपाटव-
गजस्य समुत्साहैकपुञ्जस्य कृतिपरीण्डि विधाय यथायथनुपह्वीकनं चास्य
कृत उपह्वीकण्य प्रदीयतां तावद्विद्यताया यदान्यतायाः परिचयः । अहो
स्मृतिरपि निबन्धनबन्धदत्तेक्षणस्य सौप्तवीदार्यविशेषराजिवशं राजिमङ्गभङ्गि-

“ कथं वेदः श्रुतिश्चेति - ५० - वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वे-
दादि संहिताओं के क्यों हुए हैं ? । ५० अर्थभेद से क्यों कि एक (विद्) धातु
ज्ञानार्थ है दूसरा (विद्) सत्तार्थ है तीसरे (विद्भू) का लाभार्थ है चौथे
(विद्) का अर्थ विचार है इन चार धातुओं से करण और अधिकरण कारक
में चञ् प्रत्यय करने से वेद शब्द सिद्ध होता है तथा (श्रु) धातु श्रवण अर्थ
में है इससे करण कारक में षिन् प्रत्यय को होने से श्रुति शब्द सिद्ध होता है
जिस को पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है । जिस को पढ़के विद्वान्
होते हैं जिनसे सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक २ सत्पाठ्य
का विपार अनुष्यों की होता है इससे ऋक्संहितादि का वेद नाम है जैसे
ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से लेकर हम लोग पर्यन्त
जिस से सब सत्यविद्याओं को पुरते आते हैं इससे वेदों का श्रुति नाम
पड़ा है” इस प्रकार कलियुगीय आचार्य और नवीन आर्य (स्वा० ५० न०)
ने जो कहा है उसे सारासार की पड़ताल करने में तीव्र धुद्धि विद्वान् लोग
विचार कर निदोष विद्या से युक्त अपने आप पढ़े हुए सब वेदों को क्याका
त्यों ठीक २ ज्ञान रखने वाले शब्द ज्ञान के धातुय में अनभिन्न और उत्साह
के पुञ्ज इस (स्वा० ५० न०) के काण्य की पड़ताल करने यथायोग्य हन्डे

यथास्य पाखण्डखण्डघनघनविधूननपभङ्गनस्य निरुक्तस्यास्य संन्यासिनः ।
 यत्संस्तवे वेदपदव्युत्पत्तिगततिङन्तपदप्रयुक्तयः प्रमाथम् । कामजननेन
 चिररात्राय लङ्गलभुवनध्यासीनेन संन्यासिजनेन सहवासिनो दिवा-
 गिरिगह्वराधासिनः कौशिकस्य सफाशादशिक्षि यथाकामशब्दावलि-
 प्रसारकला । व्यञ्जायि खलु अटाट्याशालिना विषननादाङ्गुली ० तपूगव्रजा-
 न्युगाधिराजान् निरागः सुपथानुसारिवादिवारखवारयाप्रकारः । महा-
 कायाहलुज्ञायाध्यायनायि सजातिस्पृहोभियोगः । दुराशयाद् विलेशया-
 ष्वाचर्चिविषविषमप्रयोगः । अन्यथा कथंकार' स्यात्तदीयतत्प्रकारको-
 द्योगः अस्तु प्रकृतमेवामुचरामः । 'ज्ञानाद्यर्थकेश्यो विदादिधातुभ्यः करणा-
 धिकरणकारकयोर्ध जिहृते वेदशब्दः सिध्यति' इत्येव वक्तुमुचितम् । तदा-
 श्रितरीतिः सचिचारकनचेतोऽरुचिविधायित्वात् । विद् विचारसे इत्येव-

सेट (नजराना) देकर इनकी विख्यात उदारता का परिचय प्रदान करे ।
 ग्रन्थों की रचना में दृष्टि देने वाले सुन्दरता और उदारता की विशेषता से
 परिपूर्ण अक्षरों की तोड़फोड़ एवं कुटिल रचना में चतुर और पाखण्ड के
 खंडन रूप मेंकों को कपाने में वायुके समान इन उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त
 इस संन्यासी की स्मरण शक्ति भी विचित्र ही है जिस के परिचय में वेद
 पदकी व्युत्पत्ति (सिद्धि) में प्रयुक्त किये हुए तिङन्त पदों के प्रयोग ही
 प्रमाण हैं । बहुत काल तक जंगल की भूमि में रहने वाले इस संन्यासी ने
 अपनी इच्छा के अनुसार यह शब्दों कि फैलावट का विज्ञान अपने साथी
 दिन में पर्वत की शुका में छिपकर रहने वाले निश्चय किसी उल्लू से निरन्तर
 भ्रमण कर सन्मार्ग पर चलने वाले वादी रूप हस्तियों को उससे रोकने का
 प्रकार (ढंग) अपनी भयङ्कर गर्जना से सुर्गाको व्याकुल करनेवाले सिंहसे अपनी
 जाति के लोगों के साथ ईर्ष्या करने की युक्ति बड़े शरीर वाले भैंसे से और
 विष रूपी कठोर प्रयोगों के रचने की शिक्षा दुष्टान्तःकरण सर्प से सीखी है
 यह सालूम होता है नहीं तो उस (स्वा०६०००)का इस प्रकार उद्योग क्यों
 कर हो सकता था । अच्छा कुछ भी हो, अब इस अपने प्रकरण को चलाते हैं
 वेद शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में आपके रचे लभ्यायमान वाक्य के स्थान
 में — 'ज्ञानाद्यर्थकेश्यो विदादिधातुभ्यः करणाधकरणयोर्ध जि हृते
 वेदशब्दः सिध्यति अर्थात् ज्ञान आदि अर्थ वाले 'विद्, आदि धातुओं से

भूततद्भातुरूपत्वाभावे नातितिरोहितो विशिष्टदृशांविदुषाम् । किञ्चवेदं वेदे
 षु वा याः सर्वाः सत्यविद्याः सर्वजनानजानन्ति वा लभन्ते तथा विचारयन्ति ताः
 कारतेभ्यो भिन्नास्तदरूपा वा ? भिन्नाश्चेत्तत्स्वरूपप्रतिपादनं कार्यम् ।
 तद्भातुरूपत्वं स्वतन्त्रत्वं अज्ञानप्रलपितत्वं संगच्छते किञ्चविद्याः कतिविधाः
 सन्ति भवन्त्येव यत्सर्वशब्देन ता विशिष्टमिह भवान् । येषु विद्वांसो भवन्तीति च
 विचित्रेयमुक्तिः, अदभिसन्धौ कथं कथिकामुखरयति भस्तत्वं बुभुत्सून्, अथावधि
 तुनाश्राधि वेदेषु विद्वांसो भवन्ति सर्वमनुष्या इति, विद्यालयेषु सदगुरुलोवि-
 द्यान्भीतीयविद्वांसो भवन्तीत्येव न्यशासि । तद्विषये भवन्तीति विषयसप्तमी-
 माश्रित्य यद्यदि तत्प्रयुक्तिस्तर्हि अधिकरणकारके तत्सिद्धिस्वीकारो निष्पद्यते जनः
 किञ्चवेदविषये विद्वांसो भवन्तीत्यत्र कथमितिल्लीपसायां तत्साधनप्रतिपादन-
 मण्यावश्यकम्, तथादिसृष्टिनारण्याद्यपर्यन्तं सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्ते यथा

करण और अधिकरण अर्थ में 'घनः प्रत्यय कर लेने पर वेद शब्द सिद्ध होता
 है । वस इस प्रकार कहना ही उचित है विद् विचारणो, इस प्रकार के धातु
 के रूप का न होना विशेषदृशी विद्वानों की दृष्टि में छिपा हुआ नहीं है
 अर्थात् 'विद् विचारणो, इस धातु से जब कि वेद शब्द सिद्ध ही नहीं होता
 तब उसका ग्रहण वषण है । और वेदों से अथवा वेदों में जिन सब सत्य
 विद्याओं को सब जन जानते, प्राप्त करते या विचारते हैं वे कौनसी हैं ?
 वेदों से भिन्न हैं अथवा वेद स्वरूप ही हैं ? यदि वे भिन्न हैं तो उनका
 स्वरूप पतलाना चाहिये यदि वेद स्वरूप हैं तो आपका कथन उन्नतों के
 कहने के समान व्यर्थ एवं निःसार हो जाता है । और यह भी कहिए कि
 आपने मत में विद्याएँ कितने प्रकार की हैं ? जो कि आपने उसे सत्य शब्द
 का विशेषण प्रदान किया है । 'येषु विद्वांसो भवन्ति, अर्थात्, जिनमें विद्वान्
 होते हैं' यह कथन तो आपका बड़ा ही विचित्र है जिसके उपाधान में
 यह क्यों कर है इत्यादि, जिज्ञासा हमें जो कि इसके तत्वके जिज्ञासु हैं
 बार २ बाबाल बनाती है । और अबतक तो यह बात सुनने में नहीं लाई
 कि सब मनुष्य वेदों में विद्वान् होते हैं । किन्तु यही सुनने में आया कि
 विद्यालयों में श्रेष्ठ गुरुसे विद्या पढ़ कर विद्वान् होते हैं । 'तद्विषये भवन्ति'
 यहाँ पर विषय अर्थ में सप्तमी विभक्ति का आश्रय कर यदि उसका प्रयोग
 किया है तो अधिकरण कारक में वेद शब्द की सिद्धि को स्वीकार व्यर्थ है

साश्रुतिः । नक्तस्यचिद्देहधारिणः संकाशात्कोऽपिवेदरचनं दृष्टवान् । कुतो-
निरक्षयवेषइरास्तेषां प्राहुर्नोवात् अग्निवाग्वादित्याङ्गिरस्तुनिनितीभूता
वेदप्रकाशार्थगीइयरेण कृताइतिभिन्नियम् । तेषांज्ञानेनवेदानामनुत्पत्तेः ।
मनुष्यदेहधारिजीवहारेणपरमैश्वर्येणवेदः श्रुतिःप्रकाशीकृतः इति, यच्छ्रवणार्था-
च्चश्रुधातोः करणारके श्रुतिशब्दव्युत्पाद्य युक्तिप्रमाण-निकरसहितं प्रत्य-
पादयत्तदपिचिदितशास्त्रसारेण बुधवारिण दृष्टिगोचरतानानीय विवेचनीयम्
वयंतुयथायथास्याभिनतेविषयेविचारणां कुर्वन्तथैव तदुच्छृंखलतां प्रतीत्य
विपीदानः । तथासत्तर्कान्दीर्घनेन बालुकालुब्धायनानामेवास्य वाचोयुक्ति-
पटुतांसमुत्पश्यामः ।

श्रूयते केवलं सद्भूम्यो ह्यज्ञातरचना सती ।

निरधारि श्रुतिः सैव तद्व्युत्पत्तिविदांवरैः ॥

और वेद के विषय में विद्वान् होते हैं— यहाँ पर कैसे विद्वान् होते हैं
इस विज्ञापना में उसका साधन यतलाना भी तो आश्चर्यक है ।
' तथादिसृष्टिक्रिति०- ' सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और
ब्रह्मादि से लेकर इन लोग पर्यन्त जिस से सब सत्य विद्याओं को
सुनते आते हैं इससे वेदों का श्रुति नाम पड़ा है क्यों कि किसी देहधारी
ने वेदों के बनाने वाले को साक्षात् कभी नहीं देखा इस कारण से ज्ञानागया
कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं और अग्नि वायु आदित्य
अङ्गिरा को परमेश्वर ने निमित्त मात्र किया था क्यों कि उनके ज्ञान से
वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई किन्तु इससे यह ज्ञानना कि वेदों में जितने
शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं वेसब ईश्वर ने अपने ही ज्ञान से उनके द्वारा
प्रकट किये हैं ॥ इस प्रकार श्रवण (सुनना) अर्थ वाले 'श्रु' धातु में करण
कारक में श्रुति शब्द की व्युत्पत्ति इसके युक्तिप्रमाण सहित को कुछ कथन
क्रिया है उसकी भीशास्त्रों के तत्त्वज्ञ विद्वानों को विवेचना करनी चाहिये ।
हमसो जैसे र इनके मनमानेविषय में विचार करते हैं जैसे ही इनकी उदारता
की जानकरदुखी होते हैं अधिक क्या बस्यही सम्क लीजिए की सत्तर्कनाओं
द्वारा जांच फाने से हजतो इन की बचन युक्ति के चातुर्य को बालूकी भीत
की सजान ही देखते हैं

श्रूयत इति - सज्जनों से (वेदों की) रचना केवल सुनी जाती है किन्तु

वाचस्पतिः सकलशास्त्रकृतावगोहः, सांख्यागमे श्रुतिनिरुक्तिविचारतन्त्रः ।
 पूर्वोक्तमेव पदमङ्गलमेतदीयं, स्वीकृत्य युक्तिभरशास्त्रिभिरभाषे ॥
 अन्ये स्तथा निगमनैगमपक्षपातै- युक्तिप्रमाणनिकरैः कृतवादिपातैः ।
 इत्येव दोषलवश्चून्त्रपुस्तदीया व्युत्पत्तिरार्थपुरुषैर्निपुणं व्यथायि ॥
 तामेष भिन्नकवरः सरलस्वभाव सत्यक्त्वा मुधैव विविधस्फुरितोरुदोषम् ।
 पक्षसमादधदहो विदुषां समाजे हीनविभावपति किन्नु विगानगानम् ॥ इति ।
 नकस्यचिद्देहधारिणः सकाशात्कोऽपिवेदानां रचनं दृष्टवान् कृतोतिर-
 वयवेष्वरात्तेषां मादुर्भावादितियदुक्तं तन्न सन्नोक्तम् तस्यविचारसहत्वात् ।
 नद्विरचनं देहकार्यं तस्यमानसव्यापारजन्यत्वात्तन्नोपपन्नः पूर्वपक्षगन्धोऽपितत्र ।
 किंचदेहधारिण इत्येव वक्तुं साम्प्रतम्, सकाशादित्यस्योपयोगाभावात् ॥ इति-

उसके समय का ज्ञान नहीं अतएव वेदों को श्रुति कहते हैं । उस (श्रुतिशब्द) की व्युत्पत्ति जानने वाले विद्वान् लोगों ने - श्रूयत इति श्रुतिः" अर्थात् सुनी जाती है इसीलिए श्रुति कहते हैं । यही श्रुति शब्दका निर्वचन किया है । सय शास्त्रों का विचार करने वाले श्रुति शब्द की व्याख्या के विचार में लगे हुए और युक्ति प्रमाण में श्रुति निपुण वाचस्पति की ने इस पूर्वोक्त पद विच्छेद को स्वीकार करके श्रुति शब्द की व्याख्या की है ।

इसी प्रकार और भी वादियों के पक्ष को गिराने वाले वेद तथा युक्ति प्रमाणां से विद्वान् लोगों ने बड़े चातुर्व से सब प्रकारके दोषों से रहित श्रुति शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाई है ।

सरलस्वभाव यह स्वामी दयानन्द उस व्याख्या रीति को बोलकर व्यर्थ ही अनेक दोषों से परिपूर्ण अपने पक्षका समाधान करता हुआ हा । शोक है कि विद्वानों की सभा में क्या यह निस्सार और बेतुका राग नहीं गाता ।

नकस्यचिदिति- 'किञ्चि देहधारी ने वेदों के बनाने वाले को साक्षात् कभी नहीं देखा इस कारण से जाना गया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं' स्वामी जी का यह कथन मनोहर नहीं क्यों कि विचार में असत्य है रचना देह का कार्य नहीं, उसकी उत्पत्ति मानस व्यापार के अधीन है, इस लिए उसमें पूर्व पक्ष के उत्पन्न होने की गन्ध भी उचित नहीं है । और वहाँ 'देहधारिणः' यही कहना उचित है, उसके आगे 'सकाशात्' यह पद आवश्यक न होनेसे व्यर्थ है । हाँ शोक है कि पुनर्वक्ति आदि दोषों से पूर्ण,

पुनरुत्थादिदूषणशतसनाकुसविग्रहो विदितसद्विचारनिग्रहो जनि-
 तोच्छूलजनकोदः समुत्पादितधर्मनिष्ठविद्वत्लोकप्रतोदः प्रबन्धोऽयं
 विचारपुरस्सरं वाचयतां सहृदयवाचकानां सारग्रहाग्रहवन्ति सर्वासि-
 दुःखाकरोतितमाप् । समालोचकोऽप्ययं सन्न्यासिजनोमान्य इति विना-
 नानोपि 'दीपा वाच्या गुरोरपीति' मुखरितसनाः 'सत्यग्रहसत्यपरि-
 त्यागेच सर्वेदोद्यतेनार्थजनेन भाव्यमिति' तदुक्तं स्मरन् । 'स्वधर्मं निधनं
 श्रेयः परधर्मो भयावहः' इति भगवद् वचनं च प्रमाणायन् 'परोपकाराय सतां
 विभूतयः' इति च मनसि धारयन् गुरुजननिदेशपरिपालनं दत्तचेता यथा-
 कथमपि एतत्समालोचनायां प्रवृत्तिं वितनोति । यद्यं पूज्यचक्षो भारतो-
 द्धारचिन्तापरोनेकान् सदुपायान् समदर्शयत्, यवनादिदुर्विदग्धवेदविरोधिमत-
 मत्यादेशे च यत्प्रयतितवान् तत्कृतेऽनैसमुक्तकण्ठं कोटिशो धन्यवादान् वितरामः
 परन्तु धर्मद्विषये येनापि केनचित्कारणेन यदत्याहितसाधारितधांस्तत्रौ-

उत्तम र द्विचारों से रहित, शास्त्र नियांदा को उल्लंघन कर मनमाने मार्ग
 पर चलने वाले मनुष्यों के लिए आनन्ददायक और धर्मनिष्ठ विद्वानों के
 चित्त में चुभने वाली यह ग्रन्थरचना विचारपूर्वक पढ़ने वाले विद्वान्
 लोगों के तत्वग्रहणशील मनको अत्यन्त पीहित करती है । इस ग्रन्थ की
 समालोचना करने वाला यह जानता हुआ भी कि यह संन्यासी (स्वा०६०००)
 माननीय है, परन्तु- 'दीप गुरु के भी कह देने चाहिए' इस वचन से कहने
 के लिए वारर प्रेरित हुआ- 'सत्यके ग्रहण और असत्य के परित्याग में आर्य
 लोगों को सदा उद्यत रहना चाहिए' स्वामी जी के इस कथन को स्मरण
 करता हुआ- 'अपने धर्म पर मरजाना उत्तम पर दूसरों के धर्म को जो कि भय
 के देने वाला है स्वीकार कर लेना अच्छा नहीं, इस भगवद् गीता के वचन
 को प्रामाणिक मानता हुआ- 'सज्जन पुरुषों की सम्पत्तियें परोपकार के
 लिए ही होती हैं, इसको वार र मन में विचारता हुआ और गुरु जनों की
 आज्ञा के पालन में चित्तलगाता हुआ जैसे जैसे इस ग्रन्थ की समालोचना
 में प्रवृत्त हुआ है धर्मों कि भारत वर्ष के उद्धार की चिन्ता में लगे हुए इन
 पूज्यवर स्वामी जी ने जिन अनेक सदुपायों को दिखलाया है और वेद
 विरोधी यवनादि सतों के दूरीकरण में जो कुछ कथन किया है उसके लिए
 इन्हें हम कोटिशः धन्यवाद ही देते हैं । परन्तु धर्म के विषय में जिस

दासीन्य' पुरयभूमैर्दानिकरमिति समवगम्य नीचितीमतिक्रानति सना-
लोचकः । अस्थाने कृतो यज्ञो न फलवान्भवतीति वृद्धजनीक्ति मुक्तंरूपै-
व । तथोच येऽनेन महाभागेन लोकहितकामनयार्थसनाजाः स्थापितास्तेषु
सम्प्रति जनिमुपैत्युपजापो न प्रतापः स्फारी भवति विद्वेषिभावो न सत्
स्वभावः स्फीतता प्रयाति स्वार्थपरता न परोपकारित्वनिरतता, समेधते-
नास्तिकवादप्रणयिता न वेदबोधितसुकृताभ्यसनिता सनुज्जृम्भते पुरो-
भागित्वं न परोक्तिगुणानुरागित्वम्, वृद्धतेतरां लोकैवणासमादरो न
निन्दिताचारनिरादरः, किं बहुना दिने दिनेऽ शास्त्रसर्गानभिज्ञाः
विगीताचारसन्दूषितज्ञाः, कृतविप्रजनापमाना महाभिमानाः पुत्रवाः पविश्य
पुरातनीं वेदीकृतवर्णाश्रमसर्गादानपि निहत्य धर्मरतं भारतं यद्येच्छाचारि-
त्वपदं नेतुं प्रवेष्टुन्ते, तन्नायमवसरो विदुषाननवधानतायाः ।

किसी भी कारण से वेद और धर्मशास्त्र के प्रतिकूल एवं लोक के लिए
हानिकर जो कृत्य किया है उस में उदासीनता दिखलाना मानो इस आर्था-
वर्त्त देश को पूर्णरूप से हानि पहुंचाना है वस इस बात को अच्छे
मकार बनकर इस सनालोचक ने जो कुछ कहा वा किया है उस में उचित
नीति का परित्याग नहीं किया गया है । अनुचित कार्य में किया हुआ प्रयत्न
सफल नहीं होता । यह वृद्धजनों का कथन ठीक ही है और इस महाशय ने
संसार के हित की इच्छा से जो आर्यसमाज स्थापित किये उन में अब आपस
में फूट, शत्रुता, स्वार्थसाधन की इच्छा, नास्तिकता का प्रचार, मुखिया बनने
की अभिलाषा, लोकमें धन एवं प्रतिष्ठा पाने आदि की कामना जहां प्रति-
दिन बढ़ती जा रही है वहाँ तपश्चर्या आदि से उत्पन्न होने वाला प्रताप
श्रेष्ठ स्वभाव, परोपकार करने का उत्साह, वेदप्रतिपादित सत्कर्मों का
अभ्यास, उत्तम गुणों के उपार्जन का प्रेम और निन्दित आचारों का
परित्याग दिन दूना और रात चौगुना घटता जा रहा है । बहुत क्या कहे,
शास्त्रों के विचार में मूढ़, खोटे आचरण से दूषित बुद्धि वाले, ब्राह्मणों के
द्वेषी और महाभिमानी पुरुष इस समाज में प्रविष्ट होकर प्राचीन वेदोक्त
वर्ण और आश्रमों की सर्पादा को छोड़ कर धर्म के मार्ग पर चलने वाले
भारत वर्ष को अपने मन माने कुमार्ग पर लेजाने का यत्न कर रहे हैं
इस लिए विद्वानों के असावधान रहने का यह समय नहीं है ।

युष्मासु जीवत्स्वपि सुस्थितेषु, वेदोक्तधर्मधिकृतेषु विज्ञाः ।
तद्भ्रान्तिचर्चापिसाधं प्रयायात्, प्रभालि भानी कृतमः प्रसारः ॥
अही नया स्वं विषयं विहाय, क्लग्न्यतेऽप्रस्तुतवाङ्मयेन ।
न मानकीनीऽप्यपराध एव, विस्मारयत्येव सनं हि चिन्ता ॥ इति
इति वेदोत्पत्तिविषयः ।

—:0:—

॥ अथ वेदनित्यत्वविचारः ॥

—ॐॐॐ—

वेदस्य नित्यत्वविचारणायां, यद्युक्तयुक्तं कथनं महात्मा ।
व्यथाद्ये तत्सुविचारवद्भिः, समीक्ष्यतां वै निपुणं भवद्भिः ॥
“ईश्वरस्य सकाशाद् वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमैध भवति,

हे विद्वज्जनो ! सुख से ठहरें हुए और वेदोक्त धर्म के अधिकारी आप लोगों के जीते जागते वेदोक्त धर्म की हानि का हीना तो दूर रहा किन्तु उसकी (हानि) की चर्चा भी नहोने पाये ऐसा तुम्हें उपाय करना चाहिए क्योंकि सूर्य के प्रकाशमान होते हुए भलाकभी अधिकारके पांव जमसकते हैं।

अही ! मैं अपने विषय को छोड़ कर अभावज्ञिक विषय में कहाँ चला जा रहा हूँ। यह मेरा दोष नहीं है किन्तु एक साथ उत्पन्न हुई चिन्ता मुझे अपने गन्तव्य पथ को भुला देती है।

वेदोत्पत्ति का विषय समाप्त हुआ ।

—>>>*<<<—

अब वेदों के नित्यत्व का विचार आरम्भ किया जाता है

—ॐॐॐ—

वेदस्येति—वेदोंके नित्य होने के विचार में इस महात्मा ने युक्ति युक्त जो कथन किया है वह भी आप विचारशील पुरुषों को अच्छे प्रकार अवलोकन करना चाहिए ।

तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात्" । इति मूलग्रन्थः । अत्रहि ईश्वराद्देवानामुत्पत्तौ सत्यामिति वक्तव्यम् । सकाशादित्यधिकमनन्वितार्थकं च । स्वत इत्यपि व्यर्थमनन्वितार्थकं च । यदि हि वेदाभिव्यञ्जकस्योत्पत्तिरीश्वरेश स्यात्तदा तद्द्वारा तेषामनित्यत्वेपि स्वरूपतो नित्यत्वं बोधयितुं स्वत इति सार्थकं भवेत् । नचैवं व्याहारि तत्रभवता । किंच वेदं पक्षीकृत्य यत्तस्य नित्यत्वमीश्वरीयसर्वसामर्थ्यगतनित्यत्वहेतुना साध्यते भवता तन्नोपपन्नम्, हेतोः पक्षेऽभावेन स्वरूपासिद्धिप्रसङ्गात् । महात्मन् ! किमित्यस्थाने प्रयत्नमानो भवान् कौष्ठान्तकान्तयशा भवितुं वष्टि मदीयाकृतिं विलोक्य विज्ञप्सुत्पाः किं बह्यन्तीति किमुनावाधारि विचित्रसाहसवता श्रीमता । "अत्र केचिदाहुः—न वेदानां शब्दनयत्वान्नित्यत्वं सम्भवति । शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद् घटवत्, यथा घटः कृतोऽस्ति तथा शब्दोपि, तस्माच्छब्दानामनित्यत्वे वेदा-

"ईश्वरस्य सकाशादिति—वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं इस से वे स्वतः नित्यस्वरूप ही हैं क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है" । यह मूल ग्रन्थ है । यहाँ पर— "ईश्वराद् वेदानामुत्पत्तौ सत्याम्" इतना ही कहना पर्याप्त है । 'सकाशात्' यह पाठ अधिक और अन्वय-सम्बन्ध-से रहित है । 'स्वतः' यह भी पूर्वोक्त दोषयुक्त होने से व्यर्थ है । यदि वेदों के प्रकट व उत्पन्न करने वाले की उत्पत्ति ईश्वर से हो और तब उस के द्वारा यदि उन का अनित्य होना सिद्ध हो ऐसी दशा में तो स्वरूप से नित्य होना जतलाने के लिये 'स्वतः' शब्द सार्थक हो सकता है, पर आपने तो ऐसा कथन किया ही नहीं । और वेद को पक्ष में रखकर, ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य है इस हेतु से जो आप वेदों का नित्य होना सिद्ध करते हैं, यह सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि हेतु का पक्ष में अभाव होने से स्वरूपासिद्धि हेतुत्वात्स दोष स्पष्ट ही है । महात्मन् ! अनुचित स्थान में प्रयत्न करते हुए आपको यह तो सोच लेना चाहिये था कि मेरे इस कार्यको देखकर विद्वान् लोग क्या कहेंगे? आप का कार्य तो यह और इच्छा करते हैं दिगन्तव्यापि यश की । कि-साश्चर्यमतः परम् । "प्र०—इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसी शक्का करते हैं कि वेदों में शब्द छन्द पद और वाक्यों के योग होने से नित्य नहीं हो सकते जैसे बिना बनाने से चड़ा नहीं बनता इसी प्रकार से वेदों को भी किसी ने बनाया होगा क्योंकि बनाने के पहिले नहीं थे और प्रलय के अन्त में भी न

नामप्यनित्यत्वं स्वीकार्यम् ॥ इति पूर्वपक्षीकृत्य यदुक्तं तन्न युक्तम्, नाना-
 शीबविशिष्टत्वात्तस्य । तथाहि—तत्र 'शब्दमात्रस्यानित्यत्वे तद्विशेषवेदाना-
 मपीति' वक्तव्यम् । किंच उ-पभ्रगो गकार इति प्रत्यक्षेण अर्थानामनित्यत्वे
 सिद्धे तद्व्यतिरिक्तवेदानामप्यनित्यत्वं सिद्धमेवेति यक्तव्यम् । किंच 'शब्दो
 द्विविधो नित्यकार्यभेदात् । ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धोस्ते नित्या-
 भवितुमर्हन्ति, येस्मदादीनां वर्तन्ते तेषु कार्याश्च, कुतः यस्यज्ञानक्रिये नित्ये
 स्वभावसिद्धेऽनादीस्तस्तस्य सर्वे सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति ।
 तद्विद्यमान्यत्वाद् वेदानामप्यनित्यत्वं नैव घटते" इतिसमाधानमपि ज्ञानव-
 धानताविलासशून्यम् । तथाहिनित्यकार्यभेदेन द्वैविध्यं व्युत्पाद्यते तेषाम्,
 येपरमात्मज्ञानस्था शब्दास्ते नित्या येचास्मदादिज्ञानस्थास्ते कार्या इत्येव
 वक्तव्यम्, ननु शब्दार्थसम्बन्धादिति । कार्या इत्यत्र चकारोप्यधिकः । किञ्च
 परमात्मज्ञानस्था इति कथननपिनसारूपतं गौतमादिमते शब्दानामोकाशसमवे-

रहे'ने इससे वेदों को नित्य मानना ठीक नहीं है ॥ यह पूर्वपक्ष करके
 जो कहा है सो ठीक नहीं क्यों कि अनेक दीर्घों से युक्त है इस
 लिए । उस वाक्य के स्थान में—'शब्दमात्रस्यानित्यत्वे तद्विशेषवेदानामपि'
 अर्थात् जब कि शब्दमात्र अनित्य हैं तब उन से बने वेद भी अनित्य
 हैं । यही कहना ठीक है क्योंकि गकार उत्पन्न हुआ इस प्रकार वर्णों
 (अक्षरों) का अनित्य होना प्रत्यक्ष सिद्ध है तब उनसे बने वेदों का भी अनित्य
 होना सिद्ध ही है । अब इसी प्रकार कहना उचित है । कुछ और भी अव-
 लोकन कीजिए— "शब्द दो प्रकार का होता है एक नित्य और दूसरा
 कार्य इन में से जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं वे सब
 नित्य ही होते हैं और जो हम लोगों को कल्पना से उत्पन्न होते हैं वे
 कार्य होते हैं क्यों कि जिन का ज्ञान और क्रिया स्वभाव से सिद्ध और
 अनादि है उसका सब सामर्थ्य भी नित्य ही होता है इससे वेद भी उसकी
 विद्या स्वरूप होने से नित्य ही है क्यों कि ईश्वर को विद्या अनित्य कभी
 नहीं हो सकती" स्वामी जी महाराज का यह समाधान भी असाध्यानता
 से शून्य नहीं है । जैसे कि नित्य और कार्य शब्द से शब्द दो प्रकार के हैं ।
 जो शब्द परमात्मामें स्थित हैं वे नित्य और जो अस्मदादि मनुष्योंमें स्थित
 हैं वे कार्य हैं । उस सब के स्थान में यही कहना ठीक है न कि शब्द और
 अर्थ के सम्बन्ध का कथन करना 'कार्याश्च' इसमें चकार भी अधिक ही है ।

तत्वात् । भट्टनयेपि शब्दानामाकाशेन विष्टम्भकार्ण्यः संयोगो जतुकाष्टवत्
 स्वीक्रियते, तन्मते शब्दानां द्रव्यत्वात् । नच विषयतासम्बन्धेन परमात्मज्ञान-
 सम्बन्धित्वमेव तेषां तत्त्वत्वं, तदीयज्ञानस्य सर्वविषयकत्वात् । कार्यत्वेनाप्य-
 भिन्नानां तथात्वानपायात् । किंच वैदिकालौकिकौ शब्दौ सर्वशब्दानित्याः तन्ती-
 तिवक्ष्यमाणभाष्यव्याख्यानभूतस्वपरग्रन्थविरुद्धश्चायं ग्रन्थः । तत्र हि —
 लौकिकानामपि नित्यत्वं स्वीरितमत्र तु तेषां कार्यत्वेनानित्यत्वमुदीर्यते ।
 किंच वेदानामेव नित्यत्वं विचारणीयत्वेनोपक्रम्य शब्दार्थसम्बन्धविचारो
 संगतः । तथा ह्ययान् शब्दान् नित्यत्वेन कार्यत्वेन प्रतिज्ञाय उत्तरत्रैकत्रैव हेत्वा-
 भासः प्रदर्शितो लोकोत्तरप्रज्ञेन । अहोप्रयोगकुशलता तस्य । 'तस्यज्ञानक्रिये'
 इत्यादिना ग्रन्थेन पक्षे साध्य साध्यितुं हेतुः प्रदर्श्यते । तत्र नित्यइत्यने-
 नैवर्गता र्थत्वे स्वभावसिद्धे इति अनादीइति च व्यर्थमेव । किंच न तस्य कार्यनिति

और परमात्मा के ज्ञान में स्थित, स्वामी जी का यह कथन भी अनुचित है
 क्यों कि गोतेलादि के मत में शब्दों का समवाय सम्बन्ध से आकाश में रहना
 माना है न कि परमात्मा के ज्ञान में । अतः स्वामी जी का यह कथन भ्रम-
 मूलक है । यदि यह कहो कि विषयतासम्बन्ध से परमात्मा के ज्ञान का
 सम्बन्ध होना ही उन (शब्दों) का उस में रहना है तो भी ठीक नहीं क्यों
 कि परमात्मा का ज्ञान सर्वविषयक है । कार्यरूप से माने हुए भी शब्दों का
 नित्यत्व दूर नहीं हो सकता । और वैदिक तथा लौकिक सब शब्द नित्य
 हैं यह आगे चलकर भाष्य का व्याख्यान करते हुए स्वामी जी ने स्वयं कहा
 है इस लिए यह ग्रन्थ अवश्य ही पूर्वापर विरुद्ध है । वहाँ पर तो लौकिक
 शब्दों का भी नित्य होना कथन किया है और यहाँ उन का कार्य रूप
 से अनित्यत्व सिद्ध करते हैं धन्य है इनकी स्मरणशक्ति को । एक और भी
 विलक्षणता देखिए कि वेदों ही के नित्यत्व विचार को आरम्भ करके उसे
 पूर्ण न कर बीच में ही दूसरा शब्दार्थ सम्बन्ध छोड़ दिया जो कि सर्वथा
 असङ्गत है । वैसे ही नित्य और कार्य भेद से शब्द दो प्रकार के हैं यह
 प्रतिज्ञा करके फिर आगे चलकर एकही जगह इन दिव्यजति जी ने हेत्वा-
 भास दिखला दिया । आश्चर्य है इनकी इस प्रयोगचतुरी पर । 'तस्यज्ञान-
 क्रिये' जिस की ज्ञान और क्रिया इत्यादि ग्रन्थ से पक्ष में साध्य को सिद्ध
 करने के लिए हेतु दिखलाया जाता है । वहाँ पर जब कि नित्ये इस पक्षके

श्रुत्याद्देश्वरीयज्ञानक्रिययोर्नित्यत्वं, प्रतिपादयतिभवान् नित्ययोश्चतयोः शक्तित्वं दर्शयति साक्षाद् भगवती श्रुतिरेव । तथाचशक्तित्वहेतुना सामर्थ्य-पदाभिलष्यासु सर्वासुशक्तिष्विच्छादिषु नित्यत्वं सिध्यतु परंतत्रेश्वरीय-शक्तिः अविरहेण कथं नित्यत्वं सिध्येत् । नचेश्वरीयविद्यामयत्वेन नित्यत्वं साध्यसङ्गतिवाक्यम् तथासति यस्यज्ञानक्रियेद्वयादिगुणस्य प्रलपितः वापत्तेः किंचिद्दान् पक्षीकृत्यतन्निनित्यत्वसाधकत्वेनोपन्यासीपि न यद्यार्थरूपः । तद्विद्यामयत्वहेतुः बुद्ध्याप्यत्वेन गृहीतस्तत्समुदाह्रियताम् । ईश्वरीय-विद्यामयत्वेन यदि वेदा उच्यन्ते तर्हि वेदानित्या ईश्वरीयत्वेदत्वादिति-प्रयोगोभवत् तथाच शब्दो नित्यः श्रावणात्वादित्यवसाधारणोहेतुः स्या-दि यत्नमतिप्रसङ्गेन भूत्सुसम्पत्ति प्रवृत्त्यास्ते प्रायः सामाजिकपदाभिधेया निजाचाप्यपादारविन्दैकविधेया यैः सस्यकप्रतीतश्रीस्वानिदयानन्दसर-स्वतीयोग्यताकः सदसद्द्विचारसमर्थधारणाकः शास्त्रविषयसुनवलोकन-

कहने ही से कार्य पूरा होजाता है तब 'स्वभावसिद्धे' और अनादि यह दीनों ही विशेषण व्यर्थ है और "नतस्य कार्यम्" इत्यादि श्रुति से आप ईश्वर के ज्ञान और क्रिया का नित्य होना सिद्ध करते है और साक्षात् श्रुति उग (ज्ञान और क्रिया) का शक्ति भाव दिखलाती है । शक्तित्व हेतु से सामर्थ्य पदवाच्य उन सब इच्छा आदि शक्तियों में नित्यत्व रहे परन्तु वहाँ — ईश्वरीय शक्ति का अभाव होने से नित्यत्व किस प्रकार सिद्ध होसकता है यदि यह कहा ईश्वरीय विद्या होने से नित्यत्व सिद्ध किया जाता है तो भी ठीक नहीं क्यों कि वैसे ज्ञानने या होने पर यस्य-ज्ञान-क्रिये इत्यादि अर्थ को अनर्थकत्व दोष आता है और वेदों को पक्ष में रखकर उनका नित्यत्व साधक रूप से ग्रहण करना भी ठीक नहीं है । उस ईश्वर कीविद्या रूप होने का हेतु कहाँ पर व्याप्य भाव से ग्रहण किया गया है ? उसका उदाहरण दीजिए । ईश्वरीय विद्या रूप होने से यदि वेद-कहे जाते हैं तो वेद नित्य हैं ईश्वरीय विद्या होने से ऐसा प्रयोग होना चाहिये था जैसा कि-शब्द नित्य है कारणेन्द्रिय का विषय होने से अथवा सुनने में आता है इस लिए यदि इस कथन के समान कहीं पर वेद विषयक ऐसा प्रयोग होता तब तो यह कहना मुख्य हेतु हो सकता था अन्यथा यह सब अरुणत ही है विद्वानों के लिए इतना ही पर्याप्त है अधिक क्या लिले ।

जनितादरोऽनवगणितवाल्लिञ्जनाकलितदरः श्रीशुद्धबोधतीर्थान्तेवासी
 दक्षिणप्रदेशनिवासी सामाजिकजने समुपलब्धोऽस्मानस्तदीयसिद्धान्त-
 प्रचारे बहुसावधानः सामश्रमिश्रीसत्यव्रतसूरितोधीतवेदविद्य आर्य-
 समाजे निवृत्तनिर्माणे गीतपद्य एकदाकोऽपिभूमिदेवः श्रीपण्डितशास्त्रि-
 नरदेवः श्रीदयानन्दस्वामीमुनिरेवाभवन्नभिरिति क्वचित्समाचारपत्रे
 प्रसङ्गवशात् प्रत्यपाद्यत्, तदा येनिजाचार्यस्य लोकोत्तरमतिहाकामैः
 संस्कृतबोधशून्यैरपि शास्त्रीयविषयव्यवस्थितौ नोरीकृतविरामैः
 स तत्संस्थानुरागोपि सहाभागो नानाविधैरुपालम्भवचनेस्तिरस्कृतः ।
 त एव सहानुभावाः सहृदयतामूरीकृत्य नुधा पक्षपातिता विद्याय सत्य-
 ग्रहणाभ्यासपरिचयं ददतः सत्यार्थप्रकाशशेषपूर्वकं वदन्तु, किं श्री-
 दयानन्दस्वामिनो लेखास्तद्विंशतयां प्रमाणम् ? अस्माकं सम्मतौतु
 तदीयमुनितायामपि सन्देह एवास्ति, यतस्तस्वार्थावगन्तृत्वयोगादेवमुनि-

आर्यसामाजिक कहाने वाले और अपने आचार्य स्वा० दयानन्द जी के
 चरण कमलों में परम श्रद्धा रखने वाले उन लोगों से अब यह पूछना चाहिए
 कि जिन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की योग्यता का जिन्हे अच्छे
 प्रकार पता है अच्छे बुरे के विचार में निपुणनति अनेक शास्त्रों के विचारमें
 परिश्रमी, मूर्ख एवं विचारशून्य जनकी भयकी कुल न समझने वाले श्री शुद्ध-
 बोधतीर्थ जी के शिष्य दक्षिण प्रदेश के रहने वाले सामाजिक जनों में
 अत्यन्त लब्ध प्रतिष्ठ, उन (सामाजिकों) के सिद्धान्तों का प्रचार करने में चतुर
 और सामश्रमि श्री सत्यव्रत जी विद्वान् से जिन्होंने वेद विद्या पठन की है
 उन विप्रवशोज्ञ श्री पं० नरदेव जी शास्त्री ने श्री स्वामी दयानन्द जी मुक्ति
 थे किन्तु ऋषि नहीं यह लेख प्रसङ्गवश कभी किसी समाचार पत्रमें प्रकाशित
 करा दिया था तब अपने आचार्य की सब से बड़कर मतिहा चाहने वाले
 और संस्कृत के बोध से शून्य होते हुए भी शास्त्रीय विषय की व्यवस्था देने
 में जुप न रहते हुए जिन्होंने अनेक प्रकारके उपालम्भ (उत्साहने) भरे वचनोंसे
 श्री पं० नरदेव जी शास्त्री का तिरस्कार किया था वेही महशिय सज्जनता का
 आश्रय लेकर और व्यर्थ के पक्षपात की छोड़कर सत्य प्रदण के अभ्यासका
 परिचय देते हुए सत्यार्थ प्रकाश की सौगन्द खाकर ठीक २ फाई कि श्रीस्वामी
 दयानन्द जी के लेख क्या उनके ऋषि होने में अनाथ हैं ? हमारी सन्नति में

अत्रेन्नायं तल्लक्ष्योपेतः । पण्डितनरदेवशास्त्री अपि सामाजिकजनभयाद्वा-
भ्रमादिकारणवशाद्वा मुनित्वेन तं व्यहारीह इति प्रतीयते अन्यथा तथा-
त्रिधो बुधोनुचितव्यापारे प्रवर्त्तमानः कथंकारं न संकोचमाप्नुयात् । अथवा
लोकपशावशं वदः किनिव समुचित्वाचारी भवेज्जनः । "किं किं न इन्त ।
तनुते परवान् मनुष्याः" इति मुनिचरितामृतवचनमेव समाधायकम् आश्रय-
ञ्चैतद्यद्यं सामाजिकविधिः सच्छास्त्रमनानमिच्छोपि वेदभाष्ये बद्धपरिकरः
समजनि । किञ्चिदुनाः-

ॐ अनेके विद्यन्ते सकलनिगमज्ञानपटवः ।

क्षमायां विख्याताः सुकृतपथलुंरठाकदलनाः ॥

तथोत्पत्त्यन्तेन्ये विनलमृतयः शास्त्ररसिकाः ।

इति ज्ञानेभ्यः किनयनकरोद् व्यसनमिदम् ॥

चिरं योगाभ्यासं विजनवनभूमी रचितवान् ।

ऋषि होना तो दूर रहा हूँ तो उन के मुनि होने में भी सन्देह ही है क्यों
कि तद्वार्थ अर्थात् शास्त्र के ठीक २ सिद्धान्तों के जानने से ही मुनि हो
सकता है परन्तु इनमें तो मुनि होने के भी लक्षण नहीं । मालूम होता है कि
पं० नरदेव जी शास्त्री ने सामाजिक लोगों के भयसे अथवा भ्रमादि कारण-
वश उनका मुनि होना कथन किया । नहीं तो उस प्रकार का विद्वान् ऐसे
अनुचित कार्य में प्रवृत्त होता हुआ संकोच न करे यह हो नहीं सकता । अथवा
लोक में धन या प्रतिष्ठा प्राप्ति की इच्छाके वशीभूत हुआ गन उचित पथपर
भला कभी ठहर सकता है ? "हां शोक है कि पराधीन पुरुष को क्या २ नहीं
करना पड़ता- अर्थात् सबही की- 'हां' में 'हां' मिलानी होती है । यह मुनि-
चरितामृत का बचनही इसका समाधान करताहै आश्रय है कि यह समाजियों
का ऋषि दयानन्द शास्त्री के उत्तमोत्तम मर्म को न जानता हुआ भी वेद
आध्य करने में तत्पर होगया । बहुत क्या कहे:-

अनेकइति- सब शास्त्रों के जानने में चतुर धर्म मार्ग के लुटेरों के दल
को दलने वाले और विख्यात इस भूमयदल पर अनेक विद्वान् विद्यमान हैं
और आगे भी शास्त्रों के ज्ञाता तथा निर्मल बुद्धि जन उत्पन्न होंगे इस बात
। न विचार कर अर्थात् जो कुछ हैं सो हमही हैं और कोई जाभताही क्या है
यस यह सोचकर ही इसने यह ठगी या धूर्त्ता का काम किया है

अनेकाविद्याया गुरुजनसकाशादधिजगे ।
 विचित्रप्रज्ञोसी यदिति विषये यस्य यतिनः ।
 कृतितस्यालोक्य प्रबलविशयः कोनसतिमान् ॥
 अज्ञानानाविद्याविषयतनुतानस्य पुरुषाः ।
 किमार्याख्या हृष्टा अभिदधति केचित् क्षितितले
 महर्षिर्वेदानां परमगहनाकूतकृशलं,
 तमेकं मन्यन्ते हठशठविलासोष जयति ॥
 विमुग्धायेलोका अनधिगतविद्यामृतरसा,
 दधच्छं तेत्रूयुः सचिनयमुदारा यतिकृते ।
 परन्तुपक्षा यद् विदितह्रभाषा अपिमुधा
 हठाविशात्तेपाननुकृतिपरास्तन्न सुखदम्
 सनाजे विद्यन्ते विविधनिगमोपाधिसहिता
 जनाअद्यत्वेतु प्रबलसदंभाजोपि किमिव ।

बहुत काल तक निर्जन भूमिमें एकान्त रह कर इसने योगाभ्यास किया है और गुरुजनों से अनेक विद्यायें पढी हैं अतएव यह विचित्र बुद्धि वाला है जिस स्वामी दयानन्द के विषयमें मनुष्यों का यह विचार अथवा निश्चय या अठवसकी इस करतूत को देख कर ऐसा कौन बुद्धिमान् अनुप्य है कि जो सन्देह में न फँसजाता हो ।

इस पृथ्वी पर स्वा० दयानन्द जी की विद्या विषयक अस्पृता (कमी) जो न जानते हुए ही कोई आर्य सामाजिक इन्हें नहीं कहते हैं और कोई शास्त्र के बड़े गहरे विचारमें निपुण मानते हैं । हठ वश शठों की अज्ञानता का ही यह सब प्रपञ्च जानना चाहिये ।

जिन्हें विद्या रूपी असुत के रसका स्वाद प्राप्त न हो सका वे भीले भाले अथवा यूँ कहिये अज्ञानी पुरुष तो इस संन्यासी के विषय में अपनी इच्छा के अनुसार जो चाहें कहेँ वा सोनेँ परन्तु उन विद्वान् लोगों को जिन्हें कि संस्कृत भाषा का ज्ञान है व्यर्थ के हठवश उनकी हाँ में हाँ मिलाना कदापि ईतकर नहीं है ॥

आज कल समाज में अनेक शास्त्रों की उपाधि का बोझा धारण किये हुए अतएव अभिमान के पुञ्ज अनेक जन विद्यमान हैं जो कि अत्यन्त

निर्वाचार्यस्यैर्ना कृत्स्नितिलपूटानमतयः

समाधातुं यत्नं विदधति नते ह्यन्त ! द्विभयाः ॥ इति ।

किंच "किंचभो! सर्वस्यास्य जगतो विभागं प्राप्तस्य कारणात्पस्थिती सर्व-
स्थूलकार्याभावे पठनपाठनपुस्तकानामभावात्कथं वेदानानित्यत्वं स्वी-
क्रियते? अत्रोच्यते-इदं तु पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते तथास्मत्क्रियापक्षे
नेतरस्मिन्, अनः कारणादीश्वरविद्यामयत्वेन नित्यत्वं व्यं संप्रदानहे । किंच
न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदानित्यत्वं जायते तेषामनीश्वरज्ञानेनसह
सदैवविद्यमानत्वात् यथास्मिन् कल्पे वेदेषु शब्दाक्षरार्थसम्बन्धाः सन्ति
तथैवपूर्वस्मिन्नग्रे भविष्यन्ति च । कुत ईश्वरविद्यायानित्यत्वादव्यभिचारि-
त्वाच्च । अतपद्योक्तसृष्टवेदे 'सूर्याचन्द्रमखौधाता यथापूर्वं कल्पयत्' इति ।
अस्यायमर्थः सूर्याचन्द्रग्रहखानुपलक्षणाथ यथापूर्व कल्पे सूर्याचन्द्रादिरचनं

नित्यपुष्टि हीनेके कारण शोकाहे कि अपने आचार्यदे, इस कृत्य का समाधान
करने के लिए निश्चल हो यत्न करते हैं ॥

किञ्च भो इत्यादि—"प्र०— जब सब जगत् के परमात्मा अलग २ होके
कारण रूप होजाते हैं सब जो कार्य रूप सब स्थूल जगत् हे उसका अभाव
हो जाता है उन समय वेदों के पुस्तकों का भी अभाव हो जाता है फिर वेदों
को नित्य क्यों मानते हो ? । उ०—यह वात् पुस्तक पत्र मसी और अक्षरों
की बनावट आदि पक्ष में घटती है तथा इस लोगों के क्रिया पक्ष में भी
बन सकती है वेद पक्ष में नहीं घटती क्यों कि वेद तो शब्द अर्थ और
सम्बन्ध स्वरूप ही हैं मसी कागज पत्र पुस्तक और अक्षरों की बनावटरूप
नहीं हैं-यह जो मसी लेखनादि क्रिया है सो अनुष्यो की बनाई है इससे यह
अनित्य है और ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहने से वेदोंको हमलोग नित्य
मानते हैं इससे क्या सिद्ध हुआकि पढ़ने पढ़ाने और पुस्तकके अनित्य होनेसे
वेदअनित्य नहीं हो सकते क्योंकि वे बीजांशुर न्याय से ईश्वरके ज्ञानमें नित्य
वर्तमान रहते हैं सृष्टि की आदि में ईश्वर से वेदों की प्रसिद्धि होती है
और प्रलयमें जगत्के नहीं रहने से उनकी अप्रसिद्धि होती है इसकारणसे वेद
नित्य स्वरूप ही बने रहते हैं जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द अक्षर अर्थ
और सम्बन्ध वेदों में हैं इसी प्रकार से पूर्व कल्प में थे और आगे भी होंगे
क्यों कि जो ईश्वर की विद्या है सो नित्य एक ही रस बनी रहती है उनके

तस्य ज्ञानमध्वेक्षासीत् तथैव तेनास्मिन् कल्पेपि कृतनरतीतिविज्ञायते, कुतः--ईश्वरज्ञानस्य वृद्धि क्षयविपर्ययाभावात् । एव वेदेष्वपि स्वीकार्यम्; वेदानां तेनैव स्वविद्ययातः सृष्टत्वात् ॥ इत्यादिना पूर्वपक्षपुरःसरसनाधान-रूपग्रन्थेन यदुक्तं विशेषमतिना भिक्षुपतिना, तन्नातिमनोज्ञम् । अस्थाने युक्तिब्राह्मण्यत्वात् । पूर्वपक्षे तावत् 'सर्वस्य जगतः' इति द्वयोरेकतरैशैवभाव्यम्, एकार्थप्रतिपादकत्वात्तयोः । किंचेति नालं प्रश्नद्योतने तत्स्थाने ननुचे-तिभवेत् । विभागं प्राप्तस्येतिदुरूहा रचनाजगतः "कारणरूपस्थितौ सर्वस्थूल-कार्याभावे पठनपाठनपुस्तकानामभावात् कथं वेदानां नित्यत्वं स्वीक्रियते" इतिपूर्वपक्ष उन्नतप्रलयितत्वमनुहरति, नहि अन्यस्याभावेऽन्यस्यानित्य-त्वं प्रतिपादयितुं क्षमः । किंच यथा प्रलयवेलायां स्थूलरूपेण विद्यमाना अपि वेदाः सूक्ष्मरूपेण भवन्ति तथा सर्वेपि पदार्थाः सरकार्यत्वादे तदानी-मपि स्वीकृता एव । तैः सह भवतः को विरोधस्तेषामपि नित्यत्वं स्वीक-

एक अक्षरकामी विपरीत भाव कभी नहींहोता सोऽज्ञानवेदसे लेके चारों वेदोंकी संहिता अब जिसपकार की हैं कि इनमें शब्द अर्थ सम्बन्ध पद औरअक्षरों का जिस क्रम से वर्तमान है इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है क्यों कि ईश्वर का ज्ञान नित्य है उसकी वृद्धि क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती इस कारण, से वेदों का नित्य स्वरूप ही मानना चाहिये इत्यादि पूर्व पक्ष की स्थापना पूर्वक सनाधान रूप ग्रन्थ से इन दिव्य मति संन्यासी शिरोमणि जी ने जो कुछ कथन किया है वह अयुक्त युक्तियों की सर नार होने से समीचीन नहीं है । प्रथम तो पूर्व पक्ष में ही 'सर्वस्य जगतः' इन सब और जगत् दोनों शब्दों में से एक ही होना उचित है क्यों कि ये दोनों एक ही अर्थ को कथन करते हैं और प्रश्न के दर्शाने में 'किंच, यह कहना पर्याप्त नहीं है अतः इसके स्थान में 'ननुच' यह प्रयोग हीना चाहिये । 'विभागं प्राप्तस्य' यह रचना प्रत्येक साधारण जनको अभिप्राय जानने में कठिन होनेके कारण अयुक्त है । "जब जगत के परमाणु अलगर होके कारण रूपहो जाते हैं तब कार्य रूप सब स्थूल जगत् का अभाव होजाता है उस समय वेदों के पठन पाठन पुस्तकों का भी अभाव हो जाने के कारण वेदों को नित्य क्यों मानते हो ?" । यह पूर्व पक्ष प्रमादियों के कथन के समान जान पड़ता है क्योंकि किसी एक वस्तु का न होना दूसरे की अनित्यता को सिद्ध नहीं

रसीय' पक्षपातशून्यदृशा विदुषा । 'यादृशी शीतला देवी तादृशी वाहनः खरः' इति लोकोक्तिं समर्थयमान उत्तरपक्षोपि भाष्यकारस्य विद्याप्रकर्षं प्रकटयति । तद्यथा— "इदं तु पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते तथास्मत् क्रियापक्षे नेतरस्मिन् अतः कारणादीश्वरविद्यामयत्वेन नित्यत्वं जयं मन्योमहे" अयि ! अनुमानरक्षिकाः सूरयः श्रीमद्भिरिच्छायि प्रयोगविज्ञानं महर्षैरार्यपदवाच्यानाम्, इदं पदबोधं किंतद्यात्पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते (चेष्टते) किं पुस्तकपत्रमसीशब्दाः पदार्थपदाभिधेया न सन्ति ? सन्ति चेत् पुस्तकपत्रस्यादिपदार्थेषु युज्यते इति कुतो नोक्तम् ? अनवधानतावशादिति चेत्, महर्षिपदाभिलष्यत्वं तस्य सापदं स्यात् । ननु निरंकुशाः कवयः इति वचनानुगुणं तथा प्रयुक्तमपि तन्नविशुद्धमिति चेन्न । तादृशवचनस्याप्तप्रयुक्तत्वाभावात् । 'अस्मत्क्रियापक्षे नेतरस्मिन्' इत्यत्र क्रियाशब्देन किमुच्यते ? उत्क्षेपशादिकं ? कृत्यपरपर्यायः प्रयत्नो वा ?

कर सकता । और प्रलयके समय स्थूल रूपसे न होते हुए भी वेद जैसे सूक्ष्म रूप से होते हैं वैसे ही सब पदार्थों का सत्कार्यवाद् मे उस समय भी होना स्वीकार किया है उनके साथ आप का क्या विरोध है उनका भी नित्यत्व पक्षपात शून्य होकर आपको अवश्य करना चाहिए । जैसी शीतला देवी वैसी ही उसकी खर (गदहा) सवारी इह लोक कहावतको चरितार्थ करताहुवा उत्तरपक्ष भी भाष्यकार की विद्वत्ता को अच्छे प्रकार प्रकट कर रहा है । "जैसे कि—यह बात पुस्तक पत्र मसी और अक्षरों की बनावट आदि पक्षमें घटती है तथा हम लोगोंके क्रिया पक्ष में भी बन सकती है वेद पक्ष में नहीं घटती इस लिए ईश्वरके ज्ञानमें सदा बनेरहने से हमलोग वेदों को नित्यमाननेहैं" अयि ! अनुमान प्रसाशक रसके रसीले विद्वान् लोगों! आपने आर्य समाजियोंके महर्षि का प्रयोग विज्ञान जाना ? आप 'इदम्' शब्द के प्रयोग से जिस वस्तुको जतलाते हैं वह क्या है ? जोकि पुस्तक पत्र और मसी पदार्थादि में घटती है । क्या पुस्तक पत्र मसी शब्द पदार्थ पदके वाचक नहीं हैं? यदि हैं तो 'पुस्तकपत्रमस्यादिपदार्थेषु युज्यते' अर्थात् यह पुस्तक, पत्र और मसी आदि पदार्थोंमें घटती है । इस प्रकार क्यों न कहा ? यदि कहोकिअसावधानीसे ऐसा हो गया तो उस के महर्षि नाम को जो कि आर्य समाजियों ने समाना रख लिया है बट्टा लगेगा यदि यह सातों कि कवि लोग निरंकुश

नेतरस्मिन्' इत्यस्य चास्मत्क्रियाभिन्नपरमेश्वरीयक्रियापक्षे इत्येवार्थः सम्भवति । एव मुत्क्षेपणादिरूपायास्तु न तत्राधिगमः । 'स्वाभाविकी ज्ञान' इतिश्रुतिबोधिता स्वाभाविकी काचित् क्रियातुतत्रविद्यतएव । तथा सत्यपि ईश्वरक्रियाजन्यत्वाद् वेदानां 'नित्यत्व' सिषाधयिषुराशामोदकैरेवसौ-हित्यकामः प्रतीयते । क्रियामात्रजन्यस्यानित्यत्वं दुर्वारं जन्मशतजुषापि तत्रभवता । यदिपरमेश्वरीयक्रियाजन्यं वस्तु नित्यं स्यात् तर्हि सर्वस्यापि भूतसृष्टे स्तथात्वमुपपद्येत तत्रिक्रियाजन्यत्वात्तस्याः तस्मात्तत्साध्याभावस्य प्रमाणांतरेण निश्चितत्वाद् बाधितः स हेतुः । अतः कारणादीश्वरीयविद्याम-यत्वेन नित्यत्वं मन्यमानहे । इति मनःशून्यमसृष्टिकं वचनं तथाविध एव निरङ्कुशोक्तुः सन्तर्षयेत्, यथा कश्चिन्महानसादिष्वगृहीतव्यापितकं कञ्चन पुरुषं पतिवदेत् पर्वतोवन्दिमान्धूमादिति । तथैवेश्वरीयविद्यामयत्वेन हेतुना स्वपक्षं सन्तिष्ठापयिषुरयमपि । उभयत्रसिद्धेन च हेतुना भाव्यं सर्वत्रापि

होते हैं इस वचन के अनुसार वैया प्रयोग किया गया है अतः विरुद्ध नहीं है । यह मानना इस लिए ठीक नहीं कि वैसे वचन भाषों अर्थात् यथार्थ ठीकर वक्ताओं के प्रयोग ही नहीं हुवा करते अथवा यों कहिये कि ऐसे विरुद्ध वाक्यों का प्रयोग करने वाले यथार्थ वक्ता ही नहीं कहलाते वा माने जाते । 'अस्मत्क्रियापक्षे नेतरस्मिन्' इस वाक्यमें आप क्रिया पदसे क्या कथन करते हैं? ऊपर को फेंकना आदि अथवा कृति का पर्यायवाची दूसरा प्रयत्न ? और 'नेतरस्मिन्' इसपदका तो यहीअर्थ होसकता हैकि 'हमारीक्रिया से भिन्न परमेश्वर के क्रियापक्ष में इसी प्रकार ऊपर को फेंकना या उखोलना आदि क्रिया कातो वहां सन्निवेश होही नहीं सकता । क्या' कि स्वाभाविकी ज्ञान' इत्यादि श्रुतिसे जतलाई हुई वहां कोई स्वाभाविकी क्रिया उनक्रिया-ओं' में विद्यमान है ही । वैया होने पर भी ईश्वर की क्रिया से उत्पन्न होने के कारण वेदों का नित्य होना सिद्ध करते हुए स्वामीजी आंशाके लक्षुओं से ही कोई अपना अच्छा हित चाहते हैं ऐसा मालूम होता है । क्रियामात्र से उत्पन्न हुई वस्तुओं के अनिश्चयत्व को आप सौ जन्म धारण करने भी दूर नहीं कर सकते यदि परमात्मा की क्रिया से उत्पन्न वस्तु सत्य होती है तो यह सत्य भाषियों की सृष्टि और घट-पटादि पदार्थ सत्य होने चाहिए क्योंकि यह सब सृष्टि परमात्मा की क्रिया से ही उत्पन्न हुई है

ईश्वरीयविद्यामयत्वं नोभयन्नसिद्धं, तस्मात्स्वरूपासिद्धौ हेत्वाभासः सा किंचि-
 श्वरीय विद्यामयत्वेन नित्यत्वं मन्यामहे, इतियदुक्तं तदुत्सुखनस्तीति वक्त-
 व्यं दशहस्ताहरीतकी' तिवन्नन्यतां कोपि किमपि भर्वांस्तु अन्यान्पतिवोधयितुं
 तच्छेष्टे । "वेदाईश्वरीयविद्यामया!" इतिभावात्को रादान्तोस्मिन्न प्रकरणे
 फतिचिद् वारान् विज्ञातो यद्गलाच्च श्रीमान् वेदानां नित्यत्वं प्रतिपिपाद-
 यिषु मुष्णुक्ते, तत्रपृच्छते- ईश्वरीयविद्यामया, इत्यत्र मयट्प्रत्ययः कस्मिन्नर्थे
 क्तः? प्राचुर्ये?स्वार्थे?विकारेवा?अथचमामयट् प्रकृतिविद्या किंरूपा?विद्याशब्द-
 रूपा? ज्ञानरूपावा?आद्यायोः शब्दरूपायाः प्राचुर्ये मयट्कृते, ईश्वरीयशब्द-
 वादुस्यविशिष्टो वेदइति सिद्धे ईश्वरातिरिक्तशब्दे विशिष्टमपि वेदसिद्धम्
 तयोस्त्यपचिदान्तस्तव । किंचशब्दजातेऽत्रापिपृच्छयते ईश्वरसम्प्रन्धः केन

इसलिए साध्य का अभाव दूसरे प्रमाणोंसे निश्चय हो जानेके कारण आपका
 दिया हेतु बाधित है । 'इस लिए ईश्वर की विद्या होने से हम लोग वेदों
 को नित्य मानते हैं, इस प्रमाण रहित और क्रियुक्तियों से पूर्ण वचन को
 कोई बीसा भी निरङ्कुश बोलसकता वासमर्थन करसकता है, जैसे कि कोई
 रसोईघर आदि में किसी पुरुष से जिसने कि व्यापित ग्रहण नहीं की है से
 कहे- पर्वत अग्निवाला है, धुएँसेइसी प्रकार ईश्वरकी विद्या होने रूपहेतुने
 अपनेपक्षस्थापन की इच्छा करते हुए ये स्वामी जी भी उनमें से ही हैं ।
 सर्वत्र हेतु वह होना चाहिये कि जो पक्ष और साध्य दोनों में विद्यमान
 रहे। ईश्वर की विद्या होना रूप दोनों जगह सिद्ध नहीं इस लिए वह
 आपका हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास होने से अमान्य है । और—
 'ईश्वरीय विद्या होने से हम वेदों' को नित्य मानते हैं, यह जो आप ने
 कहा है उसे दश हाथ लम्बी हरद मेर मुख में है इस वचन के समानयदि
 कोई कुछ मानना चाहे तो भले ही मानले पर आपतो औरों को जतलाने
 की चेष्टा करते हैं । वेद ईश्वरीय विद्या है आपका यह सिद्धान्त जो कि
 हम प्रकरण में कहे और बातलाया गया है और जिसके बल से आप वेदों
 का नित्यत्व सिद्ध करने के लिए तत्पर हुए हैं इस विषय में हम आपसे
 पूछते हैं कि ईश्वरीयविद्यामया, इस वाक्य में आपने 'मयट्, प्रत्यय किस
 अर्थ में किया? प्राचुर्य अतिशय अथवा में स्वार्थ अर्थ विकार अर्थ में? और
 मयट् प्रकृति वाली विद्या का स्वरूप क्या है विद्या स्वरूप है अथवा ज्ञान

रूपेणावस्थित ? इति उच्चारयितृत्वेनेति चेन्न, निरवयवे तत्रोच्चारणसाध-
नायोगात् । प्रौढिवादेन सर्वशक्तिमत्त्वहेतुतन्त्रतया तथाभ्युपगमेऽपि उच्चारण-
क्रिया-जन्यत्वादनित्यत्वमसङ्गपिशाचः समुज्जृम्भेत, तथा सति किञ्चण्डल-
सधिष्ठाय केन तन्त्रप्रयोगेण तन्निवृत्तियत्नः सफलयेत्तन्नभवान् । किञ्च तत्र
स्वार्थं यदि प्रत्ययः क्रियेत तदापि पूर्वोक्तप्रकारेण स दोषः स्तदवस्थ एव ।
तत्र विकारार्थं प्रत्यय इति चेन्न, प्रमाणाभावात् । स्वयमपि महाभाष्यमतं
सन्धानेन वेदभाष्यकारेण भवता शब्दे विकारित्वास्वीकारात् । किञ्चेश्व-
रीयज्ञानरूपाया विद्यायाः प्राचुर्यं यदि प्रत्ययः स्यात् तदपि न साधु, भगवतः
परमेश्वरस्य ज्ञाने नानास्वकल्पनाया निर्मूलत्वात् । तथा ईश्वरज्ञानस्य तत्र
समवेतत्वेनान्यत्र संक्रमासम्भवात् । ततः स्वार्थेऽपि प्रत्यये कृते न सफल-

स्वरूप ? शब्दरूपा विद्यासे प्राचुर्यं अर्थं न सद्यत् प्रत्यय करने पर- ईश्वरके
अर्थात् ईश्वर सम्बन्धी शब्दोंके बाहुल्य से जो युक्त हो वह वेदही ऐसा होने
परईश्वर के अतिरिक्त अन्यकिसी के भी शब्दों का होना वेद में सिद्ध होगा
तबतो फिर आपका सिद्धान्त ही रफूथकर हो जाता है । और इसशब्दसूत्र
में भी हम आपसे पूछते हैं ईश्वरका सम्बन्ध किस रूपसे स्थित है ? यदि उच्चारण
करना रूप सम्बन्ध मानो तो इसलिये ठीक नहीं कि निरवयव अर्थात् मुखादि
अङ्गों से रहित (जिसका आप मानते हैं) परमात्मा में उच्चारण का साधन
नहोने से । प्रौढिवाद से ईश्वर को सर्व शक्ति वाला होने रूपहेतु के वश
अर्थात् ईश्वर सर्वशक्ति सम्पन्न है अतः मुखादिके बिना भी इसमें उच्चारण
करना रूप हेतु असम्भव नहीं है वैसा मानलेने परभी उच्चारण क्रिया से
उत्पन्न होने के कारण फिर वेदोंके अनित्य होने का असङ्गरूपी पिशाचआपके
सामने प्रकट हो जायगा ऐसा होने परक्या आप मण्डल अर्थात् देव पूजनार्थ
वेदी बनाकर किसी तन्त्र मन्त्रादि के प्रयोग से उसे दूरकर सकने के प्रयत्न
में सफलता प्राप्त कर सकेंगे ? यदि वहां स्वार्थं में सद्यत् प्रत्यय क्रिया जीवते
भी पूर्वोक्त प्रकारसे वही दोष ज्योंका त्यों स्थित है । और विकार अर्थ में कही
तोभी ठीक नहीं क्यों कि प्रमाण नहोने से । महाभाष्य के मतको मानते और
वेद भाष्य करते हुए स्वयं आपने भीतो शब्द में विकार का नहीना स्वीकार
किया है । और ईश्वर की ज्ञानरूपा विद्याके प्राचुर्यं अर्थमें यदि प्रत्ययमाना
जावे तोभी समीचीन नहीं क्योंकि भगवात् परमेश्वर के ज्ञान में अनेकत्व

प्रयत्नो भवान् । सदीयज्ञाने विकारसम्पदं विरहाच्च । अलमन्नं यदुत्कर्षणया
 सामाजिका यस्या कृतिं महात्मनो, लोकोत्तरां हन्त विमुग्धयुद्धयः ।
 सत्या यद्योषां कृतकृत्यताजुषां, सन्त्यत्रतस्यैष गिरां भरां धरः ॥
 भीमांशकैर्द्वयपि वेदन्ति सता, संसाधिता युक्तिनिमानपूर्वकम् ।
 तपाप्ययं भिक्षुकराटस्वकौशलम्, खपाति निनीपुर्वत चेटते नुषा ॥
 ये सत्यगृह्या विविधामुवस्तले, तेचापि हा हन्त कथं सनस्विनः ।
 उदासते वैदिकधर्मविप्लवे, जातेऽधुना दुःखमदः करीति नः ॥
 नास्तिक्यभाजानुसारादुराशयाः, श्रुत्वाऽप्यभिजीरयचार्यं वाङ्मयम् ।
 किंनोपहास्यं विषयेऽथवैदिके, कुर्वन्ति तुष्टा इति युष्यतां दुर्धैः ॥ इति ॥

भेदकी कल्पना भी सर्वथा निमूल है । श्रीर ईश्वर का ज्ञान जबकि समवाय
 सम्बन्ध से ईश्वर हीमें रहता है तब उसका अन्वयन जाना अत्यन्त असम्भव
 है । इसलिए स्वार्थ मेंभी प्रत्यय करने पर आप सफल प्रयत्न नहीं हो सकते
 क्यों कि ईश्वर के ज्ञान में सर्वथा विकार का अभाव है इस विषय में अब
 बहुत तर्कना क्या करें :—

सामाजिकी प्रति — विचार शून्य बुद्धि वाले सामाजिक लोग जिस
 महात्मन की कृति (रचना) को दिव्य गुणयुक्त और यथार्थ मानकर अपने आप
 को कृतार्थ मानते हैं उसी (स्वा०द०न०) की वाशियों की यह कैसी निकृष्टता
 तुच्छता है ॥

यद्यपि विवेचना करने में अतिनिपुण विद्वान् लोगोंने अनेक युक्ति और
 प्रमाणों द्वारा वेदोंकी नित्यता अच्छे प्रकार सिद्धकी हुई है तोभी यह भिक्षुक-
 प्रवर (स्वा०द०न०) अपने चालुर्ष की प्रसिद्धि के लिए आश्चर्य है कि व्यर्थ
 ही प्रयत्न करता है ॥

इस भूमण्डल पर सत्य पक्ष के ग्रहण करने वाले जोअनेक विद्वान् हैं वे
 भी शोक है कि वैदिक धर्मका नाश होने रूप उपद्रवको देखते हुए न नालूम
 क्यों उदासीन बने बैठे हैं, बस अब यही हमको अत्यन्त दुःखित करता है ॥

नास्तिकता को लिए हुए, अत्यन्त चकवादी और दुष्ट अन्तःकरण वाले
 कलिपय आर्यनान्य लोग इस स्वाची दयानन्द के असत्यतापूर्वक बचनों को
 सुन कर इस नये वैदिक विषय में प्रसन्न हुए २ क्या उपहास नहीं करते ?
 यह विद्वानों को जान लेना चाहिए ॥

किंच "न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदानामनित्यत्वं जायते" इत्यत्र पठनपाठनपुरतकानित्यत्वेन वेदानित्यत्त्वमतिपादनं न बुद्धिपूर्वकं पूर्वमेव तस्य गिरा कृतत्वात् । ईश्वरज्ञानेन च सहतेषां विद्यमानता कया रीत्या सम्भाव्या ? विषयता- सम्बन्धने तिचेन्न, त्रिकालवेदिनभूतस्य निखिलमपि यस्तु ज्ञानविषयीभूतं, तथासत्तितस्यापि तथात्वप्रसङ्गात् । "यथास्मिन् कल्पे वेदेषु शब्दाक्षरार्थसम्बन्धाः सन्ति तपैव पूर्वदिनन्तग्रे भविष्यन्तिच, कुतः-ईश्वरविद्याया नित्यत्वाद्द्वयभिचारित्वाच्च" । पूर्वं तु शब्दार्थ-सम्बन्धाएव नित्यत्वेन प्रतिज्ञाताः, संप्रति अक्षरगपि तथात्वेनाऽनुगृहीतम्, उचितमेव सनहशस्तस्य तथाचरणम् । परन्तु शब्दात्प्रागक्षरसंनिधेशस्तस्य पूर्ववर्तित्वेऽपि कुतो न कृत इति जिज्ञासास्पदम् । यस्तु, पुरातनोच्चार्यकृतितः किमपि वैशिष्ट्यं त्वावश्यकमेव नूतनाचार्यरच्यतौ । ईश्वरविद्याया नित्य-

किं च०--" पढ़ने पढ़ाने और पुस्तक के अनित्यत्व होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते " यहाँ पर पढ़ने, पढ़ाने और पुस्तक के अनित्यत्व से वेदों का अनित्यत्व कथन करना विचार पूर्वक नहीं है, क्योंकि इसका पहले ही निराकरण किया जा चुका है । ईश्वर को ज्ञान के साथ उनके होने की किस प्रकार संभावनां की जा सकती है ? विषयता सम्बन्ध से कहीं तो भी ठीक नहीं क्योंकि सबही वस्तु उस त्रिकालज्ञ परमात्मा के ज्ञान के विषयीभूत हैं । ऐसा होने पर उस (वेद) का भी उनके ज्ञान में होना निर्विवाद सिद्ध है । " जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द अक्षर अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं वही प्रकार से पूर्व कल्पमें ये और आगे भी होंगे क्योंकि जो ईश्वरकी विद्या है नित्य एक ही रस बनी रहती है" पहले तो इस महात्मा ने शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के ही नित्य होने की प्रतिज्ञा की थी और अब अक्षरों का भी नित्य होने रूप से ग्रहण किया है वैसे करना वा मानना उस (स्वा० द० न०) के लिए उचित ही है क्योंकि सनदर्शी ठहरे न ? परन्तु स्वामी जी से यह हम पूछना चाहते हैं कि 'शब्दाक्षरार्थसम्बन्धाः' इस वाक्य में आपने शब्द से पहले अक्षर को सन्निवेश क्यों न किया ? जो कि उस (शब्द) के पहले से ही विद्यमान होता है । अच्छा यही सही, क्योंकि पुराने आचार्यों के कार्य से नवीन आचार्य के काम में कुछ न कुछ विशेषता तो अवश्य ही होनी चाहिए । ईश्वर विद्या के नित्य होने रूप हेतुसे वेदोंका नित्यत्व सिद्ध

त्वेन हेतुना वेदस्य नित्यत्वं साधयन् प्रष्टव्योऽयं महाभागः-वेदा ईश्वर-
विद्यारूपास्तद्भिन्ना वा ? तद्विद्यारूपाश्चेन्न, प्रमाणाभावात् । तस्माच्छब्दो-
ऽनित्यश्चात्तु षत्वादितिवत्स्वरूपासिद्धो हेतुः । तद्विन्ननाश्चेन्न, प्रतिज्ञाभङ्ग-
प्रसङ्गाद्भवतः ॥ किञ्च तथास्वीकारेऽपिनेष्टसिद्धिरीश्वरविद्याया स्तत्रोपयो-
गाभावात् । ईश्वरविद्याया अव्यभिचारित्वहेतुना वेदनित्यत्वं साधयन्
नूनं धन्यवादाँस्त्वमेत । कोऽन्या विद्वानेव विधां प्रयुक्तिं कर्तुं पारयेत् । गुणज्ञाः
खलु सामाजिका ये एव विधानेवाचार्यस्य लोकोत्तरान् प्रयोगान् विलोक्य
सहृदयसहृदयतां, दूषतोऽनेकशः साधुवादाँश्च तत्र प्रयच्छन्तः कृतज्ञतां
च प्रदर्शयन्तोऽनुदिनं सनाहूतनिवहेषु, महामहेषु यथाप्रदेशं सविशेषं तदीय-
प्रलोकप्रलोकैर्वाचाखयन्तिदिक्पालिभू । 'सूर्योचन्द्रमसौधाता' इतिमन्त्रार्थं
करिष्यन् यदाह-- 'सूर्योचन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थमिति' अस्यकोऽर्थः ? उपल-

करते हुए इस महाभाग से पूछना चाहिए कि- वेद ईश्वरकी विद्या रूप है
अथवा उससे भिन्न? यदि उसकी विद्या रूप कहो तो ठीकनहीं क्योंकि प्रमाण
न होने से । इस लिए शब्द अनित्य है, नेत्रोंका विषय होने से, इसके समान
ही वह आप का हेतु भी स्वरूपासिद्ध है । यदि वेदों को ईश्वर की विद्या
से कहो तो आप की प्रतिज्ञा भङ्ग होने का प्रसङ्ग होगा और वैसे स्वीकार
कर लेने पर भी ईश्वर की विद्या का उसमें कुछ उपयोग न होने से आप की
दृष्टिसिद्धि नहीं । ईश्वर की विद्या के अव्यभिचारी अर्थात् एक रस होने रूप
हेतु से वेदों को नित्यत्व सिद्ध करते हुए आप अवश्य धन्यवादों को प्राप्तकर
सकेंगे । आप के सिवा और कौन विद्वान् इस प्रकार की युक्तियों के प्रदानमें
समर्थ हो सकता है और आर्यसामाजिक भी इसमें सन्देह नहीं कि वड़े ही
गुणज्ञ हैं जो इस प्रकार के कार्य में अपने आचार्य (स्वा० ६० न०) की
दिव्य शुभ युक्तिक प्रयोगावलियोंको देख कर सौजन्य को धारण करते हुए,
इस ज्ञान के लिए उन्हें अनेक धन्यवाद देते हुए और प्रतिदिन अपनी कृत-
ज्ञता को दिखलाते हुए यथा प्रदेश वड़े २ उत्सवों में सनागत जनसमूह में
वड़े आदर के साथ उनके यथोगान से दिशाओं को शब्दायमान करते हैं ।
'सूर्योचन्द्रमसौ धाता' इस मन्त्र का अर्थ करते हुए स्वामी सहोदय ने जो
कहा है- आसूर्य चन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थम्' इसका क्या अर्थ है 'उपलक्षण है अर्थ
जिसका उसे उपलक्षणार्थ कहते हैं, यह अर्थ है अथवा- 'उपलक्षण के लिए

ज्ञानं अथो यस्य तदुपलक्षणार्थम्, यद्वा उपलक्षणाय इदम्-उपलक्षणार्थं निति उभयत्रापि तदुपलक्षणमपेक्ष्यते, यत्कृते तदुपयोगिता भवेत्, चापि च विवर्था-नीया एव । “यद्यो पूर्वकल्पे चन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमधये च्छासीत्यर्थवतेनास्मिन् कल्पोऽपिरचनं कृतमस्तीति विज्ञायते, कुतः--ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिस्तद्विपर्ययाभावात् । एवं वेदेष्वपि स्वीकार्यम् । वेदानां तेनैव स्वविद्ययातः सृष्टत्वात् ॥” इति यदुक्तं मुनिहना तस्याऽपितत्त्वं विदाङ्कुर्वन्तु भावनिश्चिन्नाः । चन्द्रादिरचनं ज्ञानमधये च्छासीदिति तु विलक्षणैवोक्तिः । रचनं हि क्रिया तदाश्रयः कर्म नतु कर्ता, तदीयजनकव्यापारस्तु कर्तृनिष्ठो भवत्येव । निरवयवे ज्ञानवस्तुनि च मध्यकल्पनाप्यश्रुतपूर्वा एव । वृद्धिस्तद्विपर्ययाभावसन्नित्तेशोऽपि सविशेष इत्याभाति । यदि तदीयज्ञानं न जन्यभावरूपं तर्हि

जो यह हो वह उपलक्षणार्थ कहलाता है, यह अर्थ है । इन दोनों पक्षों में उस उपलक्षण की अपेक्षा है जिस के लिए उसको उपयोगिता होगी । वह आप को खोलकर लिखनी चाहिए थी, पर आपने लिखी नहीं । अस्तु, आगे चलिये—“जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द अक्षर अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं इसी प्रकार से पूर्वकल्प में ये और आगे भी होंगे क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है सो नित्य एक ही रस बनी रहती है उनके एक अक्षर का भी विपरीतभाव कभी नहीं होता, सो ऋग्वेद से लेकर चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की हैं इन में शब्द अर्थ सम्बन्ध पद और अक्षरों का जिस क्रमसे वर्तमान है इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है उसकी वृद्धि क्षण और विपरीतता कभी नहीं होती इस कारण से वेदों को नित्यस्वरूप ही मानना चाहिये” ॥ स्वामी जी ने जो यह कहा है उसके भी तत्त्व को विद्वान् लोग जान लेंगे । “चन्द्रादिरचनं ज्ञानमधये च्छासीत्” अर्थात् चन्द्र आदि की रचना उस (परमात्मा) के ज्ञान के मध्य में थी । यह कथन बड़ा ही विलक्षण है । रचना नाम क्रिया का है, उसका आश्रय कर्म होता है न कि कर्ता । उसका जनकव्यापार कर्तामें स्थित होता ही है । और ज्ञानस्वरूप परमात्मा में जिसको आप निरवयव (निराकार) ही मानते हैं मध्य भाग की कल्पना भी आप से ही नवीन सुनने में आई है । क्योंकि आदि और अन्त की अपेक्षा से मध्य की कल्पना की जा सकती है । और यह आश्चर्यादि होता है सावयव वस्तु में । जब कि

यद्भावविकारघटकं, कृत्स्नमेव तन्निर्घनीयम् । किं तदिति केचकृणु-भगवान्
 यास्काचार्यः स्वनिश्कृतिवन्धे वाच्यार्थशिखरतनवजलस्य तन्निरूपयामास,
 तथापि यद्भावविकारा भवन्तीति वाच्यार्थशिखरार्थे ऽस्ति विपरिसमते ब्रह्मे-
 ऽपत्नीयते विनश्यतीति ॥ यथा—ईश्वरज्ञानं वृद्धिज्ञयादिरहितस्त्वान्नित्यं
 तथैव तत्त्वज्ञानरूपया विद्यायाः सृष्टत्वाद्देदानामपि नित्यत्वमिति कथन-
 मपि किंविधमित्यपि सदस्य व्यक्तिहेतवः प्राज्ञाएव ज्ञानमर्हन्ति । नित्यो-
 पादानं वस्तु नित्यमेव भवतीति कुतस्त्यो व्याप्तिग्रहः । नित्यप्रकृतिका रूप-
 भूलसृष्टिः केन नित्यास्वीक्रियते ? ॥ आश्चर्यं यदनी नुपदी हेत्वाभासकुण्ड-
 वाख्यैरेव प्रतियादिभटान् सत्तर्कहेतिकान् विजेतामुत्तिष्ठते । इति ॥

“अन्नवेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साक्षर्यं प्रमायानिलिरुपन्ते

आपके मतमें परमात्मा सावयत्र ही नहीं तब आपका यह सब कथन निर्मूल
 है। जैसे ही परमात्मा के ज्ञान में वृद्धि, क्षय और विपरीतता के न होने का
 सन्निवेश भी श्रद्धुत ही प्रतीत होता है। यदि परमात्मा का ज्ञान जन्यभाव
 रूप नहीं है तो क्रिया के जो छःविकार हैं उन सब का ही निवेद्य करना
 चाहिये। क्रिया के वे छःविकार कौन से हैं, यदि यह कहो तो सुनिए—
 भगवान् यास्काचार्य जी ने स्वरचिन् निरुक्त में वाच्यार्थशास्त्रीके मत का आश्रय
 करके वे निरूपण किये हैं, जैसे कि— क्रिया के छःविकार होते हैं यह वाच्यार्थ-
 यशी मुनि मानते हैं। यथा—१-उत्पन्न होता है, २-है, ३-बदलता है, ४-
 बढ़ता है, ५-घटता है, ६-नष्ट होता है, ये छः भाव विकार हैं। जैसे कि
 ईश्वर का ज्ञान बढ़ने घटने आदि धर्म से रहित होने के कारण नित्य है
 जैसे ही उस (परमात्मा) की ज्ञानरूप विद्या से रचे हुए होने से वेद भी
 नित्य हैं। स्वामी जी का यह कथन किस प्रकार का है, इसमें सार क्या है,
 यह तो विद्वान् ही जान सकते हैं। भगवन्! यह तो बतलामध्ये कि जिस
 वस्तु का उपादान कारण नित्य होता है वह वस्तु भी नित्य होती है यह
 व्याप्तिग्रहण आपने कहाँ से किया ? पृथिवी आदि पञ्च महाभूत प्रकृति से
 उत्पन्न होते हैं जो कि नित्य है पर उनकी सृष्टि को नित्य कौन स्वीकार
 करता है ? आश्चर्य है कि यह दयानन्द हेत्वाभास रूपी कुण्डिल (खूँटे)
 आख्यो से ही प्रतिवादी रूप और पुरुषों को जो कि उत्तमोत्तम तर्कना रूपी
 शास्त्र धारण किये हुए हैं—जीतने के लिए खड़ा हुए है ॥

तत्राह महाभाष्यकारः पतञ्जलिमुनिः । नित्याः शब्दा नित्येषु शब्देषुकूट-
रपै रविद्यालिभिर्वर्णैर्भेदितव्यमनपायोपजनद्विकारिभि रिति, इदं वचनं
प्रथमान्हिकशास्त्रस्य बहुषु स्थलेषु व्याकरणासहाय्येऽस्ति । तथा ओत्रोपल-
ब्धिर्बुद्धिनिर्गच्छः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः, इदम् अक्षरम् सूत्र-
भाष्येचोक्तमिति । अस्यायमर्थः-वैदिका लौकिकाश्च सर्वे शब्दा नित्याः सन्ति
सुतः शब्दानां मध्ये कूटस्थ विनाशरहिता अचला अक्षपाया अनुपशना
अविकारिणा वर्याः सन्त्यतः । अपायो लोपो निवृत्तिर ग्रहणम् उपजन आगमः
विकार आदेशः - एते न विद्यन्ते ऐषुशब्देषु तस्मान्निगमाः शब्दाः” इति
यदुक्तं महाभाष्यपरहस्यविदा तदपि विज्ञानस्तु तद्विदः । सादृश्यनित्यनेन
वेदभाष्यकृते वैद्याक्षरम् प्रत्येतव्यम् । यच्चिख्यापयिषया वाचालितौ

“ अत्र वेदानामिति- यह जो वेदों के नित्य होने का विषय है इस में
व्याकरणादि शास्त्रों का प्रमाण साक्षी के लिये लिखते हैं इनमें से जो व्याक-
रण शास्त्र है सो संस्कृत और भाषाओं के सब शब्द विद्या का मुख्य मूल
प्रमाण है उसमें बनाने वाले महामुनि पाणिनि और पतञ्जलि हैं उनका
ऐसा मत है कि सब शब्द नित्य हैं क्योंकि इन शब्दों में जितने अकारादि
अवयव हैं वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाश रहित हैं और वे पूर्वापर विचलते
भी नहीं उनका अभाव वा आगम कभी नहीं होता तथा ज्ञान से छन के
जिनका ग्रहण होता है बुद्धि से जो जाने जाते हैं जो वाक् इन्द्रिय से उच्चा-
रण करने से प्रकाशित होते हैं और जिनका निवास का स्थान आकाश है
उनको शब्द कहते हैं इससे वैदिक अर्थात् जो वेद के शब्द और वेदों से जो
शब्द लौक में आये हैं वे लौकिक कहते हैं वे भी सब नित्य ही होते हैं
क्योंकि उन शब्दों के मध्यमें सब वर्ण अविनाशी और अचल हैं तथा इन में
लोप आगम और विकार नहीं बन सकते इस कारण से पूर्वोक्त शब्द नित्य
हैं” ॥ महाभाष्य के रहस्य को जानने वाले दयानन्द जी ने जो यह कहा है
उमेभी विद्वान् लोप विचारें । वेदभाष्य बनाने में इनके व्याकरणाका बोध तो-
'सादृश्यम्' इस पद से ही नालूम कर लेना चाहिए । जिसे प्रसिद्ध कराने की
इच्छा से यह महाभाष्य का भाष्य करने के लिए तत्पर हुआ है । 'वेदानां
नित्यत्वे व्याकरणादिशास्त्राणां साक्षितया प्रमाणानि दीयन्ते' अर्थात् वेदों
के नित्य होने में व्याकरण आदि शास्त्रों के साक्षीभूत प्रमाण देते हैं, यह

धीमान्पुण्यही महाभाष्यभाष्यं कर्तुं प्रवृत्तः । वेदानां नित्यत्वे व्याकरणादि-
शास्त्राणां साक्षितया प्रमाणाणि दीयन्ते इति वक्तुमुचितम् । साक्षि शब्दात्
यत्रि प्रत्ययेऽपि कृते साक्ष्य रूपं निष्पद्यते; तदा साक्ष्यमर्थो यस्यतत् साक्ष्यार्थं
यद्वा साक्ष्याय इदं साक्ष्यार्थमिति रूपं स्यात् । तथा सति वेदानां नित्यत्वे
साक्ष्यार्थं व्याकरणादिशास्त्राणि प्रमाणास्मित्येव वक्तव्यं स्यादिति । महाभाष्ये च
वर्णनानात्वसाक्षिकृत्य प्रोक्तं "नैवंशक्यं, अनित्यत्वमेवं स्यात्, नित्याशब्दाः ।
नित्येषु च शब्देषु कूटस्थे रविचालिभिर्वर्णैर्भवेत्तद्व्यञ्जनपायोपजनत्रिकादिभिः
यद्विचर्यं द इत्यत्र हृष्टोऽह इत्यत्र हृश्येत नायं कूटस्थः स्यादिति" । तत्र च
"जातिस्फोटवादी व्यक्तिस्फोटवादिनं पर्यनुयुङ्क्ते - अनित्यत्वमिति ।
भवता जातिस्तावन्नाभ्युपगम्यते, व्यक्तेरेवै कत्वमित्यत्वप्रतिज्ञानात् । तच्चै-
कत्वं नित्यत्वं च नोपपद्यते, दग्ध इत्युदात्तानुदात्तस्वरितादिभेदेन भिन्नत्वात् ।

कहनां उचित है । साक्षी शब्द से व्यञ्ज प्रत्यय भी करने पर साक्ष्य रूप
सिद्ध होता है । इस लिए साक्ष्य ही अर्थ अर्थात् प्रयोजन जिसका वह साक्ष्यार्थ
कहलाता है अथवा साक्षी के लिए जो हो उसे साक्ष्यार्थ कहते हैं इस उक्त
प्रकार से 'साक्ष्यार्थम्' यह रूप होगा न कि 'साक्ष्यम्' । ऐसा होने पर-
'वेदानां नित्यत्वे साक्ष्यार्थं व्याकरणादिशास्त्राणि प्रमाणां अर्थात् वेदों के
नित्यत्व में व्याकरण आदि शास्त्र प्रमाण है यही कथन बन सकेगा । और
महाभाष्य में अक्षरों के अनेकत्व प्रकार के अधिकार में कहा है - "यह नहीं हो
सकता क्योंकि ऐसामानने से अनित्य होने का दोष आयेगा और शब्द नित्य
हैं । नित्य शब्दों में नाश रहित विचलित न होने वाले, लोप- आगम- और
आदेश से रहित अक्षर होते हैं" । यदि यह (द) यहां पर दीखा हुआ 'द',
यहां पर दीख जावेगा तो यह कूटस्थ न होगा, इसपर "जातिस्फोटवादी
व्यक्तिस्फोटवादी से पूछता है ' अनित्यत्वम्, इस ग्रन्थ से । आप
जाति को नहीं स्वीकार करते क्यों कि आपने व्यक्तिको ही एक तथा नित्य
माना है । और वो व्यक्ति नित्य तथा एक नहीं हो सकती क्योंकि 'दग्ध,
इसमें पहिले और पिछले अक्षरको उदात्त अनुदात्त और स्वरित भेदसे भिन्न
होने के कारण । एक ही को उदात्तता छोड़ कर अनुदात्तता स्वीकार करना
ठीक नहीं क्योंकि रूपान्तर ग्रहण करने के कारण अनित्यता आजावगी ।
इसलिये वर्णों के अधिकार जुदे र और अनित्य ही हैं, केवल पहिधान मात्र

नक्ष्ये कस्यैवोदात्तत्वपरित्यागेनानुदात्तत्वं युक्तं रूपान्तरपरिग्रहादनित्यत्व-
प्रसङ्गात्, तस्माद् भिन्नाएवानित्याएवाकाराः । अत्यभिघ्नत्वात् ॥ तिनित्यन्ध-
ना, जातिस्फोटपक्षोऽत्र व्यजस्थितः ॥ इति प्रदीपः । तमेवचार्थं “जातिरेवैका
शब्दव्यक्तिवस्त्वन्ता इति यादीत्यर्थः । अनित्यत्वमेवं स्यादिति व्यक्तेरेकत्व-
यादी तस्यानित्यत्वं मन्यत इति भावः । ननु विभोरेणस्यापि व्यञ्जकवशाद्-
नेकत्रोपलब्धौ कथमनित्यतेत्यत आह—भवतीति । भाष्येऽपि नित्याःशब्दा
इत्यस्य त्वेत्यादिः । भाष्योक्तकूटस्थत्वाभावमुपपादयति—रूपान्तरेणेति ।
तस्माद् भिन्नाएवानित्या एवाकारा इति पाठः । नित्याएवेति पाठस्त्वयुक्तः ।
अनन्तवर्णवादे तदनित्यत्वस्यैवेष्टत्वादिति बोध्यम् । यद्यप्यनुदात्तवादीनां
ध्वनिनिष्ठत्वात् दोषस्तथापि स्फटिकस्थेवास्यापि इतरत्ननिघानेन तद्-
रूपपरिग्रहे संसर्गानित्यताविरोधिकूटस्थत्वाभाव इति भावः ॥ इत्येवं
स्पष्ट्यांश्च भूव भगवानुद्योतकारोऽपि । तदिति पूर्वोपरविचारपुरःसरं विलोक्य

आकार से सम्बन्ध रखती है, अतः यह सिद्ध होता है कि जातिस्फोट ही
ठीक है” यह प्रदीपकार ने कहा है और उसी अर्थ को “जाति ही एक है
शब्द व्यक्ति तो अनन्त हैं यह कहने वाला, इसका यह अर्थ हुआ । ‘अनि-
त्यत्वमेवं स्यात्’ इस ग्रन्थ से व्यक्ति को एक कहने वाला उसको नित्य
मानता है यह अभिप्राय है । इस पर प्रश्न करता है कि व्यापक एक वस्तु
भी अनेक स्थानों में मिल जाती है तो फिर अनित्यता कैसी इस पर कहना
है ‘भवतीति’ भाष्य में भी ‘नित्याः शब्दाः’ इसके ‘त्व’ यह आदि में और
जोड़ना चाहिये । भाष्य में कहे हुये कूटस्थत्व के अभाव को सिद्ध करता है
‘रूपान्तरेण’ इस ग्रन्थ से । ‘तस्माद् भिन्ना एवानित्या एवाकाराः’ यह पाठ
है । ‘नित्याएव’ यह पाठ ठीक नहीं है । क्योंकि अनन्तवर्णवादापक्ष में उसको
अनित्यता ही इष्ट है यह जानना चाहिये । यद्यपि अनुदात्तत्व आदि के
ध्वनि निष्ठ होने के कारण दोष नहीं है । तो भी स्फटिक की भांति इस
को भी दूसरे के तननिघान से उसके रूप को ग्रहण करने में ‘संसर्गानित्यता
के विरोधिकूटस्थत्व का अभाव ही जायना यह भाव है” इस प्रकार भगवान्
उद्योतकार ने भी स्वरूप से कथन किया है ! उसे पूर्वोपर विचार पूर्वक
देख कर वेद भाष्यकार स्वा० दयानन्द के महाभाष्य के ज्ञान की प्रशंसा ही
करनी चाहिए । धन्य है अज्ञान की महिमा को, जिसके वश में हुआ मनुष्य

वेदभाष्यकारस्य महाभाष्यज्ञातृत्वं प्रशंसनीयम् । अग्रे अज्ञानविलसितं यद्-
पक्षो नाकलयति स्वरूपमपि जन्तुः । “ननु गणपाठाष्टाध्यायीनहाभाष्येषु
श्रुत्यादयो विधीयन्ते पुनरेतत्कथं संगच्छते, इत्येवंप्राप्ते ब्रूते महाभाष्यकारः
सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।

एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥

दाधाच्चदाञ्जिन्यरय सूत्रस्थोपरि महाभाष्यवचनम् । अस्यायमर्थः— सर्वसं-
घाताः सर्वेषां पदानामादेशा भवन्ति । अर्थात् शब्दसंघातान्तराणां स्थाने-
वन्त्ये शब्दसंघाताः प्रयुज्यन्ते, तद्यथा वेद-पार-गम्-ड-सुं-भू-शप्-तिप्-इत्यस्य
वाक्यसमुदायस्य स्थाने अम्-इ, उँ, श्-प्-इ-प् इत्येतेऽप्यन्तीति केषांचिद्
बुद्धिर्भवति, साभनमूलैवास्ति । कुतः—शब्दानामेकदेशविकारे इत्युपलक्षणात्
इति पदुक्तं मुचिहना तदपि विवेचयन्तु सदसद्-विवेचकाः । सर्वं सर्वंति
कारिकाज्वतरशिकानवतारयन्नयं वेदभाष्यकारो महाभाष्यकारस्य हृद्यमेव

अपने स्वरूप को भी नहीं पहचानता अर्थात् भूल जाता है । “प्र०-गणपाठ,
अष्टाध्यायी और महाभाष्यमें अक्षरोंके लोप, आगम और विकार आदि कहे हैं
फिर शब्दों का नित्यत्व कैसे हो सकता है इस प्रश्नका उत्तर महाभाष्यकार
पतञ्जलि मुनि देते हैं कि शब्दों के समुदायों के स्थानों में अन्य शब्दों के
समुदायों का प्रयोगमात्र होता है जैसे वेदपारगम् ड सुं भू शप् तिप् इस पद-
समुदाय वाक्य के स्थान में वेदपारगोऽभवत् इस समुदायान्तर का प्रयोग
किया जाता है इसमें किसी पुरुष की ऐसी बुद्धि होती है कि अम् उँ उँ
श् प् इप् इनकी निवृत्ति हो जाती है सो उसकी बुद्धिमें भ्रममात्र है क्यों कि
शब्दों के समुदाय के स्थानों में दूसरे शब्दों के समुदायों के प्रयोग किये जाते
हैं सो यह मत दाक्षी के पुत्र पाणिनि मुनि जी का है जिन ने अष्टाध्यायी
आदि व्याकरण के ग्रन्थ किये हैं” स्वामी दयानन्द ने जो यह कहा है उस
के तत्त्व को भी विद्वान् लोग विचार लें । ‘सर्वे सर्वपदा०’ इत्यादि कारिकाको
उद्धृत करके यह वेदभाष्यकार दयानन्द महाभाष्यकार के अभिप्राय को
विद्वानों के सामने स्थापित करता है । आश्चर्य है इसकी धृष्टता पर । देखिये
तो सही यह योग्य नये २ प्रबोह में ही रमना करता है । विदित होता है
कि इसने इस प्रकार को देखा ही नहीं और न वहाँ के ग्रन्थ का पूर्वापर
का विचार ही किया । वहाँ पर आगम और आदेश पक्षको आरम्भ करके

विदुषां समक्षमुपस्थापयति । अहो धाढ्यमस्य, सर्वत्र नूतनत्वप्रवाह एव रमतेऽयं योगी । नालोचितमनेन प्रकरणम्, न ननसि कृतः पूर्वापरविचार-पुरःसरं तत्रत्योग्रन्थः । तत्र हि आगमादेशपक्षमुपक्रम्य सिद्धान्तभूतमादेशपक्ष-मुपसंहरन्नाह भाष्यकारः - "आदेशास्तर्हीमे भविष्यन्ति अनागमज्ञानां साग-मकाः" इति तत्कथमिति प्रश्ने तुल्यन्यायत्वादाह - सर्वे सर्वपदेति । द्या-नन्दसः वत्र भाष्येऽपीयादीन् विधत्ते । अपायो विनाशः । आगमस्तु अवस्थित-स्यापूर्वः क्रियमाणः कश्चिद्गुर्नः । कारिकास्यं सर्वेति पदं च "सर्वशब्दश्चा-प्रावयवकात्स्न्यवाची" इति निरूपयामासोद्योतकारः, ज्ञायामि 'नतुपदबहुत्वे इतिभावः। इत्येवंनिरूपयन्तीतमेवार्थमाश्रयति। परमयंमुगडीतुवाक्यसमुदायस्यस्था-ने तथाविधमपरं समुदायंप्रयुक्तंनन्यते। दाधाचवदाबित्यस्य सूत्रस्योपरि महाभा-ष्यवचनम्' इत्ययं मशस्यएवाधुनिकनहर्षैल्लेखनप्रकारः 'सूत्रस्योपरि' इत्यस्याश्रयं विद्वांस एवविदांकुर्वन्तु । वस्तुतस्तु 'इति दाधाचवदाबिति सूत्रव्याख्यावसरे

सिद्धान्तभूत आदेश पक्ष का उपसंहार करते हुए महाभाष्यकार ने कहा है- "आगम रहित शब्दों को आगम सहित ये आदेश होंगे,, सो किस प्रकार इस प्रश्न में तुल्यन्याय होने के कारण" "सर्वे सर्वपदा०,, इस कारिका से समाधान किया है । पर दयानन्द यहाँ पर भाष्य में लीपादि का विधान करता है । अपाय नाम है विनाश का और विद्यमान के किये आते हुए किसी अपूर्व धर्म को आगम कहते हैं । कारिका में 'सर्वे' इस पद का—'सर्वे' यह शब्द यहाँपर अवयवों की सम्पूर्णता का वाचक है" भगवान् उद्योतकारने निरूपण किया है । ज्ञायामि नाम की व्याख्या ने भी "पद के अनेक होने में नहीं, इसका यह तात्पर्य है" इस प्रकार निरूपण करती हुई ने उसी अर्थका आश्रय लिया है । पर यह स्वा० दयानन्द तो वाक्यसमूह के स्थान में उसी प्रकार के दूसरे समुदाय का प्रयोग मानता है । 'दाधाचवदाबित्यस्य सूत्र-स्योपरि महाभाष्यवचनम्' इस नवीन सहाषि का यह लिखने का प्रकार प्रशंसनीय है । और 'सूत्रस्योपरि' इस वाक्यके अभिप्राय को विद्वान्ही जानें वास्तव में तो यदि स्वामी जी 'दाधाचवदा' इत्यादि वाक्य के स्थान में- "दाधाचवदाबिति सूत्रव्याख्यावसरे महाभाष्यकारः" ऐसा पाठ रखते तो उचित था । और "केषांचिद्बुद्धिर्भवति सा भ्रममूलैवास्ति" यह भी विचा-रणीय है । इस स्वामी जी अथवा उनके शिष्यवर्ग से पूछना चाहते हैं कि

सहाभाष्यकारा, इति सुदचम्। 'केषांचिद्बुद्धिर्भवति साश्नमूलैवास्ती, त्वपि विचारणीयम्, भ्रममूला, इत्यस्य कोऽर्थः भ्रमोमूलं यस्याः सा भ्रममूला, इति बहुव्रीहिरभिनतः भ्रमस्य मूलमिति पृथीतं पुरुषोवा ?। आद्ये-मूलपदस्य कारणपरतया कारणस्य च कार्यं नियतपूर्ववृत्तितया अपायबुद्धेः पूर्वं तत्कारणीयतं किञ्चिद्भ्रमात्मकज्ञानमङ्गीकार्यम् । तदङ्गीकारे तस्य भ्रमरूपत्वात् कार्यं किञ्चित्परोद्ध्युत्पत्तेः किंप्रयोजनम् ? द्वितीयपक्षेऽपि तदुत्तरवर्ति किञ्चिद्भ्रमात्मकज्ञानं स्वीकार्यं यन्निरूपितकारणताबुद्धेः स्यात् । वस्तुतः 'सा भ्रमात्मकैवास्ति, इति वक्तव्यम् । भ्रममूलत्वचेतस्याः कारणत्वमाह कुत इति दिना । 'शब्दानामेकदेशविकारे चेत्युपलक्षणात्, इति । निरुक्तस्यास्य हेतोः भ्रममूलत्वस्य च साध्यस्य ऋव व्याप्तिग्रहस्तेऽपि सिद्धम् । किमस्माभिरत्र वक्तव्यम्, तत्र संग्रहमधीयानोऽपि बालो नैवं विधननुमानं प्रयोक्तुं शक्नुयात् । अहोसामाजिकानानास्था । एवं भूतस्यापि सिद्धद्वन्द्वोर्भहर्षित्वसङ्गीकुर्वन्ति । किमचि-

'भ्रममूला' इसका क्या अर्थ है ? 'भ्रम है मूल जिसका' यह बहुव्रीहि समास : आपकी अभिनत है, अथवा 'भ्रमस्य मूलम्' अर्थात् 'भ्रमका मूल' यह पृथीत-तपुरुष ? पहले बहुव्रीहि समास के पक्ष में- मूल पदको कारणपरत्व होने से और कारण कार्य के पहले से ही विद्यमान होना है इस लिए अपाय=नाश बुद्धिसे पूर्व उसका कोई कारणभूत भ्रमात्मकज्ञान अङ्गीकार करना चाहिये । वास्तव में तो स्वामी जी को 'सा भ्रममूलैवास्ति, इस वाक्य के स्थान में 'साम्भ्रमात्मकैवास्ति, अर्थात् वह भ्रमरूप ही है । यह कहना चाहिये । उस बुद्धिके भ्रम मूलक होने में कारणत्व बतलाया है 'कुतः, इत्यादि से-'शब्दों के एकदेश विकार में' इस कथन को उपलक्षणमात्र जानना चाहिये-इति । स्वामी जी ! यह तो कहिए कि आप के कथन किये हुए इस हेतु और भ्रम-मूलक साध्य का व्याप्ति ग्रह कहां है । इन इस विषय में अधिक क्या कहें केवल 'तर्कसंग्रह, अन्य के पद, ने वाला भी बालक इस प्रकार के सिद्ध अनुमान को प्रयोग में नहीं लावेगा आश्चर्य और शोक है सामाजिकों के इस विश्वासपरको कि इस प्रकार का पाण्डित्य रखने वालेको भी सहर्षि होना स्वीकार करते हैं । अधिक कहने से क्या, दयानन्द के इस लिङ्ग और लिङ्गी के ज्ञान में वरु, सिद्धान्त ही मन्त्राण हैं । अस्तु, अब आगे कुछ और भी अवलोकन कीजिए - 'नैव शब्दस्यैकदेशापय एकशोपजन एकदेशविकारिणि

केन, एतादृशलिङ्गलिङ्गिज्ञाने दयानन्दस्य विद्वांस एव प्रमाणाश्च, किञ्च "नैव शब्दस्यैकदेशापाय एकदेशोपजन एकदेशविकारिणि सती" त्यत्र एवैकदेशपायी एकदेशापायस्तस्मिन्निति शब्दस्यैकदेशापायेसति एकदेशोपजनेऽसतीत्यर्थे एकदेशविकारिणि, इत्यत्र शब्दस्य कथमीन्वयः स्यात् ? एकदेशविकारित्वस्य शब्दे संभवात् 'शब्द इत्यत्र सप्तम्येवोचिता । वस्तुतः शब्दस्यैकदेशापाये, इतिवत् शब्दस्यैकदेशविकारे सति, इति युक्तं प्रतिभाति । किञ्च "नित्यस्तुस्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्" इति मीमांसामुद्रुधृत्य तद् व्याख्यानावसरे यदुक्तं-- "विनाशरहितत्वाच्छब्दो नित्योऽस्ति कस्माद्दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वाद्," इति तन्न युक्तम् । "विनाशरहितत्वादित्यस्य व्यर्थत्वाद्दुत्सूनार्थत्वाच्च । दर्शनस्येति वाक्ये सर्वत्र षष्ठ्यनुपपत्तेश्च । अत्रच दर्शनस्योच्चारणस्य परं प्रत्यर्थबोधकत्वाद्" इति युक्तम् । अतएव मीमांसामाध्यकारः शबरमुनिरपि "दर्शनं मुच्चारणं तत्परार्थपरस्य"

सति,, यहाँ पर 'एकदेशका नाश एकदेशापाय कहलाता है उसमें अर्थात् शब्द के एक देश का नाश अथवा एक देशका उपजन—वृद्धि वा आगम होने पर' ऐसा अर्थ करने में 'एक देशविकारिणि, इस वाक्य में शब्द का समन्वय किस प्रकार होगा? क्योंकि एक देशके विकारका होना शब्दमें ही सम्भव है इस लिए 'शब्द, यहाँ पर सप्तमी विभक्तिका होना ही उचित है । वास्तव में 'शब्दस्यैकदेशापाये, इस के समान ही 'शब्दस्यैकदेशविकारे सति, यह वाक्य विन्यास ही उचित प्रतीत होता है । और स्वामी जी ने 'नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्, इस मीमांसामुद्रुधृत करके उसकी व्याख्या करते हुए जो कहा है—'शब्द नित्य ही हैं अर्थात् नाशरहित हैं क्योंकि उच्चारण क्रिया से जो शब्द का श्रवण होता है सो अर्थ के जानने ही के लिये है" यह कथन सही हीन नहीं है क्योंकि आपकी व्याख्या में 'विनाशरहित, इस पदके व्यर्थ होने और 'दर्शनस्य, इत्यादि वाक्य में सब जगह षष्ठी विभक्ति की उपपत्ति (प्राप्ति) न होने से । इस लिए यहाँ--'दर्शनस्योच्चारणस्य परं प्रत्यर्थबोधकत्वात्, अर्थात् 'दर्शन नाम है उच्चारण का वह दूसरे को अर्थ का बोध कराने वाला होता है, । यह कथन युक्त है । इसलिये मीमांसा शास्त्र के माध्यकार शबर मुनि ने भी--" दर्शनं कहते हैं उच्चारण को वह दूसरे के लिए अर्थ को जतलाने वाला होता है ।

प्रत्याययितुम् । उच्यते च तत्रेहि विनष्टे शब्दे न चान्योऽन्यानर्थं प्रत्याययितुं शक्नुयात् । अतो न परार्थं युक्त्यर्थे त "अथ न विनष्टः ततो बहुश उपलब्धत्वा-
दर्थावगम इति युक्तम्" इति स्पष्टयांभूव । निरुक्तस्तु क्रमो न तदर्थबोधने
क्षम इति । यच्चोक्तं - "नित्यत्वे सति ज्ञाप्यज्ञापकयोर्विद्यमानत्वात्
" तदपि न युक्तम् शब्दनित्यत्वस्य ज्ञाप्य ज्ञापकयोः भवो विद्यमान-
नतायामतन्त्रत्वात् । ज्ञापकस्य शब्दस्य विद्यमानतायां तन्नित्यत्वम् कारण-
नस्तु; परमर्थस्य ज्ञाप्यस्य सत्त्वे तन्नकारणम् । अस्तु तस्तु 'नित्यत्वे सति ज्ञाप्य-
ज्ञापकभावो ऽप्युपपद्यते इति वक्तव्यम् । अतः परमुत्तरग्रन्थेन कणामक्षाऽ
क्षचरणमतमवलम्ब्य शब्दनित्यतां साधयितुं प्रचोऽयं मुखी विदुषां हास्या-
स्पद एव । तथाहि - "अन्यच्च विशेषिकसूत्रकारः कणादनुनिरप्यत्राह - तद्व-
चनादात्मनायस्य प्रामाण्यम्' अस्यायमर्थः तद्वचनात्तयोर्धर्मेश्वरयोर्वचनात्
धर्मस्यैव कर्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरेश्वोक्तत्वाच्चात्मनायस्य वेदचतुष्टयस्य

यदि उच्चारण करने के पश्चात् ही शब्दका नष्ट होना मान लिया जावे
तो वह दूसरों के लिए अर्थ जतलाने वाला न होसकेगा पर यह बात नहीं है
किन्तु वह नष्ट नहीं होता, अतः वह बहुलसे अर्थों का निश्चय कराने वाला अनुभव
किया जाता है; यह सर्वथा युक्त है यह स्पष्ट रूपसे कथन किया है । और आप
का प्रदर्शित क्रम उस अर्थ के बोध कराने में समर्थ नहीं है और आपने जो यह
कहा है - "शब्द नित्य होने हीसे ज्ञाप्य और ज्ञापक में विद्यमान होता है"
ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दका नित्यत्व ज्ञाप्य और ज्ञापक दोनों हीकी विद्य-
मानता में स्वाधीन नहीं ; ज्ञापक शब्द की विद्यमानता में शब्द का नित्यत्व
कारण रहेपर ज्ञाप्य अर्थ की विद्यमानता में वह कारण नहीं । वास्तव में
"नित्यत्वे सति ज्ञाप्यज्ञापकभावोऽप्युपपद्यते" अर्थात् शब्द के नित्यहोने पर ही
ज्ञाप्य और ज्ञापक भाव भी बनता है, यह कहना चाहिए । इससे आगे भी
कणाद और अक्षपाद मुनि के मतका आश्रय लेकर शब्दका नित्यत्व साधने
में तत्पर हुआ यह दयानन्द विद्वानों में हंसी कराता है । और भी देखिए -
"इसी प्रकार विशेषिक शास्त्र में कणाद मुनिने भी कहा है (तद्वचनात्) वेद ईश्वरोक्त
हैं इनमें सत्य विद्या और पक्षपात रहित धर्मका ही प्रतिपादन है इससे चारों
वेद नित्य हैं ऐसा ही सब मनुष्योंको मानना उचित है क्योंकि ईश्वर नित्य
है इससे उसकी विद्या भी नित्य है"॥ अहो! आप्प्रच्य है कि इन्होंने चतुष्टयको

प्राभाषणं सर्वं नित्यत्वेन स्वीकृतम्” इति । अहोमितं चाष्ट्येन । नालिरो-
हितं नेदं विदुषाम्, यन्न शब्दस्य नित्यत्वमङ्गीकुर्वते काणादाः । परम्यं
भिक्तु कवेधारीजगदहितकारी कणादसूत्रबलेनैव तन्नित्यतां साधयति
तद्द्वचनादाम्नायस्य प्राभाषणमिति । विवेचयन्तु सुधियश्च कथमिदं सूत्रसुक्ता-
र्थसाधकम् । शङ्करमिश्रास्तूपस्कारे— “तद्द्वचनादिति । तदित्यनुपक्रान्त-
मपि प्रसिद्धिसिद्धतयेश्वरं परामृशति, यथा ‘तदप्राभाषणमनृतव्याघात-
पुनरुक्तदोषेभ्यः’ इतिगीतमीयसूत्रे तच्छब्देनानुपक्रान्तोऽपि वेदः परामृश्यते
तथाच तद्द्वचनात्तेनेश्वरेण प्रणयनादाम्नायस्यवेदस्य प्राभाषणम् । यद्वातदि-
तिसन्नित्तितं धर्ममेवपरामृशति । तथाच धर्मस्यवचनात् प्रतिगदनादाम्ना-
यस्य वेदस्यप्राभाषणम् । यद्विवाक्यं प्राभाषिकमर्थं प्रतिपादयति तत्प्रमाणमेव
यत् इत्यर्थः । ईश्वरस्तदाप्तत्वं च साधयिष्यते” । इत्योहुः । अत्र वेदनित्य-
त्वलेशोऽपि नोपलभ्यते । प्राभाषणत्ववश्यमीश्वरोक्तत्वाद्देदस्य साधितमेव ।
ननु प्राभाषणेनैव शब्दे नित्यत्वं स्यात्-शब्दो नित्यः प्राभाषयात् तथाच

तो भीतही लिया । विद्वानों की दृष्टिमें यह बात खिपी हुई नहीं है कि कणाद
मतानुयायी शब्दके नित्यत्वको स्वीकार नहीं करते पर संन्यासी रूपधारीयह
दयानन्द कणाद मुनिके सूत्रबल सेही शब्द के नित्यत्व को सिद्ध करता है ।
“तद्द्वचनादाम्नायस्य प्राभाषणम्, विद्वान् लोग इसपर विचार करें कि भला
यह सूत्र किस प्रकार शब्दके नित्यत्व को सिद्ध करने वाला है ? शङ्कर मिश्रने
उपस्कार नामक ग्रन्थ में— “तद्द्वचनादिति—‘तत्’ यह शब्द स्पष्टरूपेण कथन
नकिया हुए भी प्रसिद्धसे सिद्ध होने के कारण ईश्वरसे सम्बन्ध रखता है अर्थात्
तत् शब्दसे ईश्वर हीका बोधहोता है जैसेकि— “अस्त्य व्याघात और पुन-
रुक्त दोषोंसे वहप्राभाषिक नहीं” इस गीतमीयसूत्रमें ‘तत्, शब्दसे खोलकर न
कहा हुआभी जैसे वेदका ग्रहण किया जाता है । जैसेही यहांपर ‘तत्’ शब्दसे
ईश्वर जानना चाहिए । तत्र इसका स्पष्ट अर्थ यह होता हैकि-ईश्वरोक्त होने
सेवेद प्राभाषिक है । अथवा प्रसंगवश वहां ‘तत्’ शब्द धर्मको जतलाता है ।
अर्थात् धर्मका प्रतिपादन करनेवाला होनेसे वेद प्राभाषिक है क्योंकि जोवाक्य
प्राभाषिक अर्थ को प्रतिपादन करता है वही प्रमाण होता है । ईश्वर और
उसका आस्त्य अर्थात् यथायं वक्तव्य हीना सिद्ध किया जायगा ” इस प्रकार
कथन किया है । इसमें वेदके नित्य होने का कुछभी अंश मतीत नहीं होता ।

शब्दात्मकत्व वेदस्यापि भगवदुक्तत्वात्प्रानाशयेन नित्यत्वं सिध्येदिति चेन्न । त्वन्नयेन विप्रलम्भकवाच्यं हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात् । पक्षे हेत्वभावश्च स्वरूपसिद्धिः । पञ्चकवाच्यस्याप्रमाणात्वेन तद्विरोधिप्रमाणात्त्वं तत्र न सम्भवति । कशाभुगभिभ्रायानुसारिणास्तु शब्दस्य नित्यत्वं नाङ्गीकुर्वन् एव । तथाहि— जयनारायणमहाचार्यः स्वीये शास्त्रार्थसंग्रह'नामके प्रबन्धे 'कः उत्पन्नः को विनष्टः इत्युत्पादविनाशप्रतीतिः शब्दस्यानित्यत्वात्' इति स्पष्टमेव शब्दनिरूपणावसरे वैशेषिकनयमनुसृत्या नित्यतां शब्दस्य साधयति । किंच भगवता कशादेनापि साक्षात्कथितः शब्दस्यानित्यत्वेनके हेत्वस्तत्र तत्र प्रदर्शिताः । द्वितीयाध्ययान्तर्गतद्वितीयान्हिकस्य कानिचित्सूत्राणीहापि समुल्लिख्यन्ते । व्याख्यानं तु तेषां विस्तरमिमां न विधास्यते । तदधिक-जिज्ञासुभिः शङ्करोपस्कारादयो ग्रन्था अवलोकनीयाः । कशादसूत्राणि पुनः—

हो ईश्वरोक्त होनेसे वेदका प्रामाण्य अवश्य सिद्धकिया है यदि यह कहोकि प्रामाण्य होने से ही शब्द में नित्यत्व सिद्ध हो जायगा क्योंकि 'शब्द नित्य है प्रामाण्य होने से' जैसे ही शब्दात्मक वेद ईश्वरोक्त है अतएव प्रामाण्य होने से उसका नित्यत्व सिद्ध हो जायगा । यह कथन सचीचीन इस लिए नहीं कि आपकी नीति से प्रतिज्ञात अर्थ को सम्पादन न करने वाले वाक्य में हेतुस्वरूपासिद्धि दोष है । पक्ष में हेतुका अभाव ही सिद्धि कहलाती है वस्वक (ठग) का वाक्य प्रमाण नहीं हुआ करता अतएव उस में प्रामाण्यत्व नहीं होता । कशाद मुनि के मतको मानने वाले शब्द को नित्यत्व स्वीकार ही नहीं करते । और जयनारायण महाचार्य भी अपने 'शास्त्रार्थसंग्रह' नामक ग्रन्थ में- 'क' उत्पन्न हुआ, 'क' नष्ट हुआ इस प्रकार अक्षरों के उत्पन्न और नष्ट होने की प्रतीति होने से सिद्ध होता है कि शब्द अनित्य है, शब्दनिरूपण के प्रकरण में वैशेषिक मत को मान कर वह स्पष्ट रूप से शब्द के अनित्यत्व को सिद्ध करते हैं । और भगवान् कशाद मुनि ने भी शब्द के अनित्य होने में वहाँ अनेक हेतु दिखलाये हैं । द्वितीयाध्यय, द्वितीय आन्हिक के कुल्लेक सूत्र यहाँ पर भी लिखते हैं; पर उनकी व्याख्या हमने यहाँ विस्तर भयसे नहीं की है, जो अधिक जानना चाहें वे 'शङ्करोपस्कारादि' ग्रन्थों में देखलें । वे कशाद सूत्र ये हैं :- 'सतो लिङ्गाभावात् । नित्य वैशम्पात' इत्यादि ऊपर सूत्र में देखिए । इत्यादि सूत्रों से जबकि शब्द का

सत्तोत्तिङ्गाभावात् । नित्यवैधर्म्यात् । अनित्यश्रवायं कारणता । नद्योसिद्धं
 विकारात् । अभिव्यक्ती दोषात् । संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्चशब्दनिष्पत्तिः
 लिङ्गाच्चानित्यः शब्दः । अ० २, आ० २, सू० २६-२२ । इमानि, इति । तथापि
 दयानन्दो वैशेषिकमतनेन शब्दात्मकस्यवेदस्य नित्यत्वसाधयन् निरुक्तै तत्सा-
 हसकृतेऽनेकसाधुवादे स्तोत्रणीयएव, यतस्तेनाऽपूर्वनिदमाचरितम् । अथवा
 प्रष्टव्यास्तदनुपायिना सामाजिकाः क्विसिद् विनयां निपीय प्रललाप सर्वधा-
 ऽसंबद्भुसिबभवतामृपिवर इति । बुधियएवाये विभावयन्तु । न्यायनयेनाप्यधुना
 वेदनित्यतां प्रतिपादयति- "तथास्वकीये न्यायशास्त्रे गौतममुनिरप्यत्राह
 मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्येवच्चतत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यतात् । अ० २, आ० १ सू०
 ६१ । अस्यायमर्थः-तेपावेदानानित्यानामीश्वरोक्तानां प्रामाण्यसर्वैःस्वीकार्यम्
 वेदनित्यत्वसाधनाय प्रयत्नमानोऽप्ययमत्र निरुक्तधाक्ये तन्नित्यतां सिद्ध-
 तयैव निर्दिशतीति नियतमुपहारीकृता सतिर्दयानन्देन क्वचिदितिनये ।

अनित्य होना स्पष्ट सिद्ध है तोभी दयानन्द वैशेषिक मुनिकेमतसे शब्दात्मकवेद
 कानित्यत्व सिद्धकरता है, अतःइस साहस केलिएइसे अनेक धन्यवाद प्रदान
 करने चाहिये क्योंकि इसनेयह अपूर्व कामकिया है । इनके मतपर चलनेवाले
 सामाजिक लोगोंसे पूछना चाहिए कि आप को इस ऋषिवच्यं जीने क्या भाग
 पीकर यहअप्रवच्यं बफा है ? अस्तु, अबविद्वान् लोगकुछ आगेभी विचारकरे
 क्योंकि अबये न्यायके मतसे भीवेदके नित्यत्व कोसिद्ध करतेहैं-वैरेही न्याय
 शास्त्रपर गौतम मुनिभी शब्द कोनिरय कहते हैं (मन्त्रायु०) वेदां कोनित्य ही
 मानना चाहिए क्योंकि सृष्टिके आरम्भ सेलेकर आज पर्यन्त ब्रह्मादिजितने
 प्राप्त होते आयेहैं वेसब वेदोंको नित्यहीमानते आये हैं उनआप्तों काअवश्य
 हीप्रमाण मानना चाहिये, इस प्रकार वेदका नित्यत्व सिद्ध करनेमें प्रयत्न
 करता हुआयह (स्वा०द०न०) इस पूर्वोक्त वाक्यमें उस (वेद) केनित्यत्व का
 सिद्धता से ही निर्देश करता है । इसके नालून होताहै कि स्वा० दयानन्दने
 अपनी बुद्धि तो निश्चय कहीं किसी कोभेदमें हीदेदी । अच्छा आगे चलिये
 -"कुतश्चिन्त्यां किं आसलोग वे होते हैं जो धर्मात्मा कपट बलादि दोषोंसे
 रहित सबविद्याओं से युक्त महायोगी और सब मनुष्यों केसुख होनेके लिये
 सत्यका उपदेश करने वाले है जिनमें लेशमात्र भी पक्षपात वा मिथ्याचार
 नहीं होता उन्होंने धर्माका यथावत् नित्य गुणोंसे प्रसाध किया है स्वामी-

॥भूतः आप्तप्रामाण्यात्, यथात्मभिः कपटव्यलादिदोषरहितं दयालुभिः सत्यां-
पदेष्वभि विद्यापारंगै र्महायोगिभिः सर्वैर्ब्रह्मादिभिराप्तीर्वेदानां प्रामाण्यं
स्वीकृतमत् ॥” इतिपदुक्तं तन्न युक्तम्, आप्तप्रामाण्ययादित्यस्य आप्तोक्त-
प्रामाण्यवादित्यर्थभावात् । नञवेदानां प्रामाण्यं पुराणैरङ्गीकृतमतएव अपितु
आप्तोपदेशत्वादेव प्रामाण्यं सर्वत्र सम्भवति । आप्तोपदेशभूताश्च वेदा-
स्तस्माद् वेदाः प्रामाण्यं, आप्तोक्तत्वात् नन्त्रायुर्वेदवत् इत्यनुमानमेव तत्र
यानम् । एवञ्च सूत्रे आप्तपदेन आप्तोपदेशएव गृह्यतेतदेव दर्शयतिभगवान्
भाष्यकारो वात्स्यायनमुनिरपिः—“ आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्माः ” ।
“ हन्त वयमेभ्यो यथादर्शनं यथाभूतमुपदिशामस्त इमे श्रुत्वा प्रतिपद्यमाना हेयं
हास्यन्त्यचिगन्तव्यमेवाधिगमिष्यन्तीति एवमाप्तोपदेशः; एतेन त्रिविधेनाप्त-
प्रामाण्येन परिगृहीतोऽनुष्ठीयमानोऽर्थस्य साधको भवति । एवमाप्तोपदेशः
प्रामाण्यं, एवमाप्ताः प्रमाणाश्च, इतिभूत्रगतोदाहरणपदव्याख्यानंतुसर्वथा-

जीका यहकथन ठीक नहीं, क्यों कि 'आप्तप्रामाण्यात्, इसका भावार्थ यह है
किवेद प्रमाण इस्लिये हैं किवेद आप्त (यथार्थवक्ता अर्थात् परमात्मा)के
कथन किये हुए हैं। कुद्इस लिये नहीं कि वे सत्यवक्ताओं के प्रमाण किये
वा माने हुए हैं और नवेदोंका प्रामाण्य इसहेतुसे है किवेद बहुत पुराने अथवा
पुराणों सेउनका प्रामाण्य प्रमाणित होना स्वीकारकिया गया है, क्योंकि आप्तो-
क्त होनेसे ही सबत्रगह प्रामाण्य होता है। क्योंकि वेद ईश्वरोपदिष्ट हैं और
ईश्वर आप्त (यथार्थ वक्ता) है अतः वे प्रमाण है जैसे कि आप्तोक्त होनेसे
नन्त्र और वैद्यकशास्त्र । वसपही अनुमान उसमें प्रमाण है। इसी प्रकार इस
पूर्वोक्त सूत्र में 'आप्त, पदसे आप्तोपदेश ग्रहण किया जाता है। वही
भावधार भगवान् वात्स्यायन मुनि भी प्रतिपादन करते हैं यथा—
“ आप्त पुरुष वे होते हैं कि जिन्होंने अपनी ज्ञान दृष्टि से सब यदार्थों को
साक्षात् ज्यों की त्यों ठीक २ जान लिया हो ”—“इम इम साधारण बुद्धि
मनुष्यों के लिये ठीक २ शास्त्र के कथनानुसार वही उपदेश करें कि जिसे सुन
और धारण करके ये त्याज्य कर्म को त्याग दें और शास्त्र को ग्रहण कर लेंगे ।
ऐसे बुद्धि, विचार से किया हुआ सत्यवक्ताओं का उपदेश आप्तोपदेश कहलाता
है और जिसकी प्रकृति के आप्तप्रामाण्यसे ग्रहण किया हुआ और तदनुसार
वर्तान करने से कार्य साधक होता है, अतएव आप्त पुरुष और उनका उपदेश

अलं सुखिहिनो वैदुषीख्यापनाय । तथाहि—“ किं वन्मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत् । यथा सत्यपदार्थविद्याप्रकाशकानां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाण्यं भवति” इत्यस्य ‘तथैव वेदानामपि प्रामाण्यं स्वीकार्यं नित्येषोपसंहारः सम्भवति, तथा च सत्यत्वेन हेतुना वेदानां प्रामाण्यनित्यापत्तितम् ; सत्यत्वसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसिद्धौ सत्यानित्यन्योन्याश्रयापत्तिः । किञ्च वेदनित्यत्वसाधनाय प्रवृत्तस्तत्प्रामाण्यसाधन एव निमग्न इति प्रकरण-विरोधोऽपि । किञ्च सत्यत्वेन वेदप्रामाण्यसिद्धौ ब्रह्मादिभिः स्वीकृतत्वादेव वेदानां प्रामाण्यनित्युपक्रमोपसंहारयोर्निधो विरोधस्तत्रैव । मन्त्रपदस्य विचाराण्यता लुचिन्त्यैव, भाष्यादिविरोधादिति, अथच “एतत्सूत्रस्योपरि भाष्य-कारेण वात्स्यायनमुनिनाप्येवं प्रतिपादितम् ” इत्यत्रवाक्ये ‘एतत्सूत्रस्योपरि’ इत्यस्योशयस्तु योग्यार्थविशेषसहायेन महापुनिना महाविद्या महाविदुषा सहाशयेन दयानन्देन सनाधिस्थेन यथाकथमप्यवगतः स्यादितिसम्भावयामि ।

प्रमाण होता है ।, अच्छा अथ आगे चलिए-पाठक गण ! स्वामी जी ने अपने आशय की पुष्टि के लिए जो सूत्र उद्धृत कर उसके पदों की व्याख्या की है वस इन का पाण्डित्य प्रकट करने के लिए वही काफी है । यथाच—“किं वन्मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत् । यथा सत्यत्वपदार्थविद्या-प्रकाशकानां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाण्यं भवति, इस वाक्यका—‘तथैव वेदानामपि प्रामाण्यं स्वीकार्यम्’, यही उपसंहार होना संभव है । अब आप के इस प्रकरण में यह बात आई कि—सत्यत्व हेतु से वेदों का प्रमाण होना आधा और सत्यत्व की सिद्धि उन (वेदों) के प्रमाण की सिद्धि होजाने पर सिद्ध है, सो इस प्रकार इन दोनों में यहाँ अन्यान्या-श्रय दोष आता है । एक दोष तो यह और दूसरी बात यह देखिए कि स्वामी जी महाराज तैयार तो हुए वेद का नित्यत्व साधने के लिए और “बुद्धकी खोने लगे उनके प्रमाण होने रूप साधन की खोज में । यह दूसरा प्रकरण विरोध दोष भी आन विराज । यही नहीं और भी देखिए-जब कि सत्य होने रूप हे, से ही वेदों का प्रमाण होना सिद्ध था तब ‘ब्रह्मादिकों ने वेदों का प्रमाण होना स्वीकार किया है अतः वेद प्रमाण हैं, यह दूसरा हेतु क्या तात्पर्य रखता है ? आप के उपक्रम और उपसंहार इन दोनों का आपस में विरोध है । और ‘मन्त्र, पद का ‘विचार, अर्थ भी चिन्तनीय है जो कि

अहो पदविन्यासचातुरीपरम्परा विहम्बयति मृदुबोधानां धालानां 'कपाटं ताडये'त्यादि नैजव्यावहारिकवार्तालापान् । किञ्च वात्स्यायनमुनिकृतिं सर्वथाप्यदानानौग्यं ज्ञानलवदुर्विदग्धो दग्धहृदयो 'नित्यत्वाद्देववाक्यानां प्रमाणत्वेत्तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यदित्ययुक्तम्' इतिवाक्यनासंपूर्वेषु संवधनाति । 'अयुक्तम्' इत्यस्यस्थानेच 'उक्तम्' इति पठति । अहो प्रतारकस्य पुसिहनः । किञ्च - नित्यत्वाद्देववाक्यानामित्यादिपूर्वपक्षवाक्यमुत्तरपक्षत्वेनाभिमन्यमानः सावष्टम्भमस्यायमभिप्राय इत्युद्घोषयन् वेदानां नित्यत्वनेत्रोपपादयति वात्स्यायनमतेनापीति महश्चित्रम् । निरुक्तवाक्यस्य पूर्वपक्षान्तु पूर्वोपर-ग्रन्थावलोकनेन स्पष्टैव । तथाहि-मीमांसकमतेन वेदवाक्यानां नित्यत्वादेव प्रामाण्यं नस्वाप्तप्रामाण्यदित्याशङ्क्य तस्य चायुक्तत्वं प्रतिपाद्य तत्रैवोत्तर-ग्रन्थेनोपपत्तिं प्रदर्शयति भाष्यकारः "शठदस्य वाचकस्वादर्शप्रतिपत्तौ प्रमा-ण्यत्वं न नित्यत्वात् नित्यत्वे हि सर्वस्य सर्वेषु वचनाच्छठदार्थव्यवस्थानुपप-

भाष्यादि से विरुद्ध है । और "एतत्सूत्रस्योपरि०, इस (सन्त्रायु०) सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनिने वेदों का नित्य होना स्पष्ट प्रतिपादन किया है, यहाँ पर "एतत्सूत्रस्योपरि०,, इस वाक्यका आशयतो योगशक्ति की सहायता से समाधिमें बैठे हुए ही महर्षि दयानन्दजीने ही जैसे-तैसे, जाना होगा । धन्य है इनकी पदविन्यास चातुर्य की जो कि कोमलनति वालकों में 'कपाटं ताडय' अर्थात् किवाड़ खटखटाओ । इत्यादि अपने व्यावहारिक वार्ताला-पों से विहम्बना कराता है । और देखिये कि वात्स्यायन मुनि के कथनाभि-प्राय को न जानते तथा लवमात्र ज्ञान के अभिमान से फुके हुए ये स्वामी जी 'नित्यत्वाद्देववाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यनाप्तप्रामाण्यदित्ययुक्तम्' इस वाक्य को पहले वाक्य के साथ ही जोड़ते और 'अयुक्तम्' इसके स्थान में 'उक्तम्' यह पढ़ते वा लिखते हैं । आश्चर्य है इनकी इस कपट चातुरी पर । कुछ और भी अवलोकन कीजिये- 'वेद वाक्योंको नित्य होनेसे' इत्यादि पूर्व पक्ष वाक्य को उत्तरपक्ष मान कर " इसका प्रह अभिप्राय है ?" बड़े बल के साथ यह घोषणा करते हुए वात्स्यायन मुनि के मत से भी वेदों का नित्य-त्व प्रतिपादन करते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है । इस उपर्युक्त वाक्य की पूर्वपक्षता तो पूर्वोपर-ग्रन्थ के अवलोकन से स्पष्ट ही है । और मीमां-साशास्त्र के मत से वेद वाक्यों का प्रमाण नित्य होने से ही आप्तोक्त होने

तिः । नानित्यत्वे वाचकत्वमिति चेन्न लौकिकेणैव दर्शनात् । तेषामित्या इति चेन्न न अनाप्तोपदेशादर्थविसंवादीषु नुपपन्नः नित्यत्वादि शब्दः प्रमाणा- मिति । अनित्यः स इति चेद् अविशेषवचनम् । अनाप्तोपदेशो लौकिको न नित्य इति कारणं वाच्यमिति । यथा निधोगङ्गार्थस्य पत्यायनात्प्रानामधेय- शब्दानां लोके प्रानाययं नित्यत्वात्प्रानाययानुपपत्तिः । सत्रार्थं नानामधेयशब्दो नियुष्यते लोके तस्य नियोगसामर्थ्यात् प्रयायको भवति न नित्यत्वादिति एवमाप्तोक्तत्वाच्छब्दस्य प्रानाययम्; तत्त्वादेव वेदानामपि प्रमाणातां । वेदा- नां नित्यत्वं तु सम्प्रदायप्रयोगाभ्यासाविच्छेदादेव, न शब्दस्य नित्यत्वा- दिति । अत्रोद्योतकारोऽपि भगवान् न्यायवातिके - "पौरुषेयत्वमसिद्धं नित्य- त्वादिति चेद् ? - अथ नन्यसे नित्यानि वेदवाक्यानि नित्यत्वाच्चेपां प्राणाययं तस्मात् पौरुषेयत्वमसिद्धम् ? न असिद्धत्वात्सिद्धे नित्यत्वे एतद्युक्तम्, तत्तु न सिद्धमती न युक्तमेतत् । यदि न नित्यानि कथं प्रमाणां ? प्रमेयप्रतिपाद-

के कारण से नहीं, यह आशङ्का करके और उसका अयुक्तत्व प्रतिपादन कर वहीं पर अग्नि वाक्य से भाष्यकार उसकी सिद्धि दिखलाते हैं :- इस प्रकार आप्तोक्त होने से शब्द प्रमाण है वैसे ही आप्तोक्त होने के कारण वेद भी जैसे प्रमाण हैं । वेदों का नित्यत्व तो सम्प्रदायप्रयोगाभ्यासके न टूटने से है कुछ शब्द के नित्य होने से नहीं । इस विषय में भगवान् उद्योतकार ने भी न्यायवातिक में - "वेदों का पुरुषों (मनुष्यों) से रचित होना असिद्ध है नित्य होने से । यदि यह बात है तो क्या आप यह मानते हैं कि वेदवाक्य नित्य हैं, और निय होते से ही इनका प्रमाण है; इस लिए इनका पुरुषों से रचा जाना असिद्ध है ? यह बात नहीं है, क्योंकि सिद्ध न होने से । यदि इनका नित्य होना सिद्ध होता तब तो यह ठीक था परन्तु वह (नित्यत्व) सिद्ध नहीं, अतः यह कथन भी युक्त नहीं । यदि वेद वाक्य नित्य नहीं तो इनका प्रमाण क्यों माना जाता है ? यथार्थ (ठीक र) ज्ञान के प्रति- पादक होने से वेदवचन प्रमाण हैं नित्य होने से नहीं" यह कह कर फिर उपसंहार में - "गुरुपरंपरागत सदा से इसके सहुपदेश का पथी विच्छेद (नाश) न होने से इस में नित्यत्व धर्म का उपचार किया जाता है" यह अच्छे प्रकार निरूपण किया है । सब स्वा० दयानन्द के अयुक्त संसृष्ट में पतञ्जलि मुनि का प्रवेश देखिए - "अत्र विषय इति० इस विषय में योगशास्त्र

कषवात्प्रमाणं न नित्यत्वाद्" इत्युक्त्वा पुनरुपसंहारे "सम्भदायाविच्छेदान् नित्यत्वोपधारः" इति निरूपयामासिति दिक् ॥ इदानीं दयानन्दस्यास्थान-
नरुद्धे पतञ्जलिमुनेः प्रवेशः । तथाहि—“अत्र विषये योगशास्त्रं पतञ्जलिमु-
निरप्याह—‘त एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्’ अ० १ पा० २ सू० २६ ।
इति सूत्रमुल्लिख्य ‘यः पूर्वेषां सृष्ट्यादासुःपन्नानामित्यादिना, तदुक्तत्वा-
द्देवानामपि सत्यार्थवत्त्वनित्यत्वे वेद्ये इतीत्यन्तेन ग्रन्थेनास्यैव योगसूत्रस्य
योगी व्याख्यातं धितवान्, परं तन्नास्मभ्यं रोचते । वेदनित्यत्वसाधनप्रक्रमे
ईश्वरनित्यत्वप्रतिपादनस्य प्रकरणविरुद्धत्वात् । पातञ्जलेहि ‘क्लेशकर्मवि-
पाकाशयैरपरसृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः’ इति सूत्रेणैश्वरस्वरूपनपस्थाप्य
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञतां च प्रसाध्य ‘पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदाद्’
इति सूत्रेण परमेश्वरस्य सार्वकालिकत्वात् ब्रह्मादिभ्यो गरीयस्त्वं तस्य सा-
धयति । तेऽपि गुरुः, ते कालेनावच्छेद्यन्ते, अयं तु नावच्छेद्यते; अतस्तेपा-

के कर्ता पतञ्जलि मुनि भी वेदों को नित्य मानते हैं—‘स एषः इत्यादि’ अ०
१, पा० १ सूत्र २६ को लिख कर ‘जो कि प्राचीन, सृष्टिकी आदि में उत्पन्न
अग्नि आदि हैं उनका भी गुरु है’ यहां से लेकर “उसी के रचे वेदों का
भी स-यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है ऐसा ही सब मनुष्यों
को जानना चाहिये” यहां तक के ग्रन्थ के इसी (स एष० इत्यादि) योगसूत्र
की व्याख्या इस योगी (८० न०) ने की है जो कि हमें बिरकुल रुचि है
नहीं है क्योंकि वेदों के नित्यत्व साधन प्रकरण में ईश्वर के नित्यत्व का
प्रतिपादन करना सर्वथा प्रकरण विरुद्ध है । पतञ्जलि मुनि प्रोक्त योगशास्त्र
में “अविद्या आदि क्लेश, कर्मफल और उनकी वासनाजन्य भोगों से रहित
जो पुरुष है वह ‘ईश्वर’ है” इस सूत्र से ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन
कर और वहां उसकी सर्वज्ञता को सिद्ध करके ‘पूर्वेषामपि गुरुः’ इत्यादि सूत्र
से परमेश्वर का सब काल में विद्यमान होना और ब्रह्मादि से अधिक उसका
महत्त्व सिद्ध किया है, यथा वे ब्रह्मा आदि भी गुरु हैं, परन्तु वे काल (अपने
नियमित समय) से तिरोहित होजाते हैं पर यह (परमेश्वर) कभी दूर
नहीं होता अर्थात् सर्वदा एक रस बना रहता है इस लिए ‘यह उन ब्रह्मा-
दिकों का भी गुरु है । जैसे इस वर्तमान सृष्टिके आदि में यह विद्यमान था
वैसे ही इससेपूर्वकी सृष्टियोंमें भी और इसी प्रकार आगे भी सर्वदा विद्यमान
रहेगा । यहां पर सूत्रभाष्यकारों ने कहीं भी वेदों का नित्यत्व नहीं दिख-

नप्ययं गुरुः । यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथाऽतिक्रान्तसर्गोद्विष-
 पि भवत्येवेति भावः । अत्र वेदान्तित्वं कापि नोपदर्शितं सूत्रभाष्य
 कारैः । तथाच सर्वं मुधाप्रलपितं मुसिङ्गनः । यदि पातङ्गते काचिदुक्ति-
 वेदान्तित्वप्रतिपादिका उपादीयेत, तदा तत्र प्रस्तूयेताऽपि विचारः ।
 'स एषः' इति पदजातनपि न सूत्राङ्गं, अपि तु तस्यातनिका एवेति ॥
 अत्रैवार्थं 'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्' इति कापिलमपि सूत्र
 सुद्धरन् साहसिकएवायं सर्वथापियतो वेदानां स्वतः प्रामाण्यप्रतिपादकेन
 सूत्रेण तन्मित्यतां साधयितुं प्रयतते । विज्ञानभिन्नुणाभ्येतत्सूत्रपातनिकायां
 तथैवोपेन्यस्तम्:—'नन्वेव यथार्थं वाक्यार्थं ज्ञानपूर्वकस्वाच्छब्दवाक्यस्यैव
 वेदानां अपि प्रामाण्यं न स्यात्, तत्राह' 'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्
 प्रामाण्यशाङ्कार्या सूत्रस्योत्थानम्, अतस्तत्प्रतिपादन एव सूत्रस्य साधकं न
 नित्यत्वप्रतिपादने वेदानान्तित्वप्रतिपादकं किञ्चिदप्युपनिबन्धितम्

लाया । इस लिए स्वामी जी का यह मन्त्र कथन व्यर्थ का प्रमाण मात्र ही
 समझना चाहिए । क्योंकि पातङ्गल योगसूत्र में वेदों के नित्यत्व की प्रति-
 पादन करने वाला कोई वचन यदि होता तब तो वहाँ एतद्विषयक इनका
 विचार सङ्गत होना सम्भव था अन्यथा व्यर्थ ही है । और 'स एषः' यह
 पदसमूह भी सूत्रका अङ्ग नहीं, किन्तु उस (सूत्र) की पातनिका ही है ।
 इसी विषय में 'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्' इस कपिल सूत्र
 का उद्धृत करना केवल इन का साहस मात्र ही है, क्योंकि जो सूत्र
 वेदों का स्वतः प्रमाण होना सिद्ध करता है उस से वेदों के नित्यत्व साधन
 का यत्न करते हैं । विज्ञान भिन्नु ने भी इस सूत्र की पातनिका.....
 में वही प्रतिपादन किया है—वहाँ पर कहा है—'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः
 प्रामाण्यम्, वेदके प्रामाण्य होने की आशङ्का में यह सूत्र उठाया गया है इसलिए
 उनके प्रामाण्यत्व प्रतिपादन में ही सूत्र की साधकता है नकि उनके नित्यत्वकी
 सिद्धि में । वेदों का नित्यत्व प्रतिपादन करनेवाला कोईपद भी इसमें नहीं
 दीख पड़ता । वहाँ स्पष्ट रूपसे जो इसकी व्याख्या की है वह यह है—'वेदों
 की अपनी स्वभाविकी यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करने वाली जो शक्ति है उस
 का मन्त्र और वैश्वानरादि में प्रकट होना दीखने से सब वेदों का स्वतः
 ही प्रमाण होना सिद्ध होता है नकि वक्ता के यथार्थ ज्ञानादि हेतुसे । जैसा

‘वेदानां विचारवाभाविक्ती या यथार्थज्ञानजननशक्तिस्तस्या मन्त्रायुर्वेदा-
दात्रभिव्यक्तैरुपलम्भादखिलवेदानामेवं स्वत एव प्रामाण्यं सिध्यति न वयत्-
यथार्थज्ञानमूलत्वादिनेत्यर्थः । तथाच न्यायसूत्रम्—मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यञ्च
तत्प्रामाण्यमिति” इत्यादि सांख्यप्रवचनभाष्येऽपि प्रामाण्यमेव वेदस्य संस्था-
पितम्, न निरयत्वम् । किञ्च “नापीरुषेयत्वान्निरयत्वमङ्कुरादिवत्” इति
कापिलसूत्रेण स्पष्टमेवानित्यत्वं वेदानामुक्तम् । तथाऽप्यं भाष्यभूमिकाकादी न
त्रपते प्रतारयन् प्राकृतजनान्नयथार्थविवर्शनेनेति । भगवतोव्यासस्यापि वेद-
मित्यत्वप्रतिपादकं सूत्रमुदाहरति— ‘शास्त्रयोनित्वात्’ इति । विचारयन्तु
विद्वांसः, कथमनेन सूत्रेण वेदानां नित्यत्वं सिध्यति ? प्रत्युततस्यानित्यत्व-
मेवानेन सूच्यते । शास्त्रस्य ऋग्वेदादेः प्रदीपवत्सर्वाथर्वद्यौलिनः सर्वज्ञ-
कल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । इत्ययमेव निरुक्तसूत्रस्य स्पष्टोर्थः । तथाच का-
रणाद्ब्रह्मणः सकं शास्त्रेदस्योत्पत्ती स्वीकृतायां कथं तस्य नित्यत्वं सम्भवति

किं न्यायसूत्र में वर्णित है— “मन्त्र और वैद्यकशास्त्र के प्रमाण होने के
समान वेद प्रमाण हैं” । इत्यादि सांख्यप्रवचन भाष्य में भी वेदों का प्रमा-
णात्वं ही प्रतिपादन किया है, नित्यत्व नहीं । और भी देखिये कि— “नापीर-
रुषेयत्वान्नित्यत्वमङ्कुरादिवत्” इस कापिल मुनि के सूत्र से स्पष्ट ही वेदों
का अनित्यत्व प्रतिपादन किया है तो भी— यह भाष्यभूमिकाकार स्वा० दयो-
नन्द अपने अस्त्यतापूर्वक वचनों से साधारण बुद्धिजनों को ठगते हुए लज्जित
नहीं होते यह बड़े शोक की बात है । भगवान् व्यासजी के भी सूत्रकी वेदों
के नित्यत्व प्रतिपादनार्थ स्वामी जी उदाहरण में देते हैं— “शास्त्रयोनित्वात्”
विद्वान् लोग विचारें कि इस सूत्र से वेदों का नित्यत्व क्योंकर सिद्ध होता है ?
बल्कि इससे तो उस (वेद) का अनित्य होना सूचित होता है । ‘दीपक
वा सूर्य के समान सब अर्थों को प्रकाशित करने वाले ऋग्वेदादि वेदों के
रचने का कारण ब्रह्म है’ इस पूर्वोक्त सूत्र का यह अर्थ स्पष्ट ही है । और यह
तो बतलाइये कि कारण ब्रह्म से वेदों ही उत्पत्ति स्वीकार कर लेने पर
उनका नित्यत्व कैसे सम्भव है ? क्योंकि उत्पन्न होने वाले पदार्थ का नि-
त्यत्व किसी को भी अभिमत नहीं है । इस लिए यह सब कथन निस्तार
ही है । और इसके अतिरिक्त स्वामी जी ने जो यह कहा है— “जैसे शास्त्रों
के प्रमाणां से वेद नित्य हैं वैसे ही युक्ति से भी उनका नित्यपन सिद्ध

ननु न्यपत्तिमतो भावस्य नित्यत्वं कस्याप्यभिमतम् । तस्माद्यत्किञ्चिदेत-
त्सर्वमिति । यच्चोक्तं— यथा शालप्रमाणेन वेदानित्याः सन्तीति निश्चयो-
रिति । तथा युक्त्यापि । तद्यथा नासत् आत्मसाधो नसत्आत्महानम्, यो-
स्ति स भविष्यति, इति न्यायेनवेदानां नित्यत्वं स्वीकार्यम्” इति तन्नयुक्तं
भाति । निरुक्तसत्कार्यवादमादाय घटपटादेरपि नित्यत्वप्रसंगात् तथाच
तवैव वृद्धिमभिलषतो मूलोत्पादनमिति सहदनिष्ठमापद्येत । किञ्च घटादेरि-
ववेदस्यापि नित्यत्वं स्वीक्रियते चेत् किमिति तार्किकप्रमाणाधुत्थापनम्
सक्तन्यायस्य कार्यमात्रे समत्वात् । यच्चप्रलपितं— “यन्नित्यं वस्तु वर्तते तस्य
नामगुणकर्माद्यपि नित्यानि भवन्ति” तत्सर्वथाप्यस्य ब्रालिशत्वह्यापने-
ऽलम् । नित्यस्याप्यात्मनो ज्ञानादयो गुणा अनित्या एव । नित्येष्वपि पा-
थिष्वपरमाणुषु अनित्याएव गन्धादयो गुणाः एव बहुषु नित्यद्रव्येष्वनित्या
गुणाः स्वीक्रियन्ते दार्शनिकैः । किञ्च कर्मणां नित्यत्वसम्भाभिर्दयानन्दमुखे-

होता है क्योंकि असत्से सत् का होना अर्थात् अभाव से भावका हीना कभी-
नहीं हो सकता तथासत् का अभाव भी नहीं हो सकता । जोसत्य हैउसीसे
आगे प्रवृत्ति भीहो सकती है और जोवस्तु हीनहीं हैउससे दूसरी वस्तु किसी
प्रकारसे नहीं होसकती । इस न्यायसे भी वेदोंका नित्य ही मानना ठीक है”
यह कथनयुक्त नहीं मालूमहोता । इसकथनकिये हुएसत्कार्यवाद कोलेकर घट
(घड़ा) और पटवस्त्र आदि पदार्थों केभी नित्य होनेका प्रसंग होगा । धन्य
हैस्वामी जी ऐसा मानने परतो वृद्धि चाहता हुआ मूलधन की भी हानि
करबैठ सकने वालेके समान आपको हीबड़ा अनिष्ट आन पड़ेगा । औरघट
पटादि केसमान ही यदिआप वेद कानित्यत्व स्वीकार करतेहैंतो फिरसर्कना
पूर्वा प्रमाणादि के उठाने का परिश्रम व्यर्थ क्यों किया? और स्वामी जीनेजो
यह कहा है— “ जो नित्य वस्तु है उसके नामगुण औरकर्मभी नित्य हीहोते
हैं” इनके अनभिज्ञत्व केप्रकट करने में सबप्रकार सेबस यहकथन ही पर्याप्त
है । भगवन् ! आत्मा नित्य है परउसके ज्ञानादि गुणअनित्यही हैं । घृपवी
केपरमाणु नित्य होनेपर भीउसके गन्धादि गुणअनित्य हैं । इसी प्रकारदर्शन
शास्त्र केविद्वान् बहुतसे द्रव्यों केनित्य होते हुएभीउनके गुणोंको अनित्य ही
मानते हैं । पर हमने कर्मों का नित्यत्व स्वा० दयानन्द जीके हीश्रीगुरुसे
सुना है । क्रिया कानित्यपनकिसी विद्वान् नेभी स्वीकार नहीं किया और

नैवाकारिणितम् । नक्रियाया नित्यत्व' केनापि विदुषाऽङ्गीकृतम्नाप्युपपद्यते
किं बहुना- यथा यथाऽयनर्थो ऽन्तः प्रविश्य विचार्यते, तथातथा सिकता-
कूपवत्सर्वथापि विदीयंतएव । तदेवमपारतरतर्कसंहृदयत्वात् श्रुतिविरो-
ध्यर्थप्रतिपादकत्वात् शिष्टिर्विद्वद्भिरपरिगृहीतत्वाच्चात्यन्तमेधानपेक्षाऽस्ति
दयानन्दप्रलापे कार्यो श्रेयोर्षिभिरित्यलं परन्वितेनेति ।

इति वेदानां नित्यत्वविचारः ।

वेदविषयविचारविषयः ।

अथ तावदिदमपि विचारमर्हति, यदिदमुच्यते "वेदविषयविचारविषय
इति" तदपि कीदृश्यर्थं पर्यवस्यति । वेदानां विषयो वेदविषयः, वेदप्रति-
पाद्योऽर्थः इत्यर्थः । वेदविषयस्य विचारो विषयो यस्य स इति वा, वेदविषय-
विचारस्य विषय इति पठ्यतेत्पुरुषो वा । आद्येऽपि सोऽन्यपदार्थः कः स्यात् ?

न यह घटता है । बहुत क्याकहे' -कैसेर इसअर्थ परविचार किया जाता है
वैसेर बालु केकूप (कुए) के समान सबप्रकार सेटूटता ही जाता है । इसलिए
अत्यन्त निस्सार (थोथी) तर्कोंसे रचित वेदविरोधी अर्थके प्रतिपादन करने
वाले अतएव विद्वानों से अग्राह्य स्वाऽ दयानन्द की केइन अनर्थक वचनोंमें
कास्याशापी विद्वान्लोकोको अत्यन्त हीउपेक्षा करनीचाहिए । किंवहुनेतिदिक्
इति वेदानां नित्यत्वविचारः ।

वेदविषयविचारविषयः ।

अथ प्रथम यह भी विचारणीय है-स्वामी जी ने जो यह कहा है कि-
"वेदविषयविचारविषयः" इस वाक्य की कौन से वा किस प्रकार के अर्थ में
स्थिति वा समाप्ति होती है यह सामाजिकों से प्रपुण्य है । "वेदों का विषय
वेद विषय, वेद विषयक विचार जिसका विषय है" यहांपर यह 'बहुव्रीहि'
समास अभिसत है अथवा 'वेद विषय के विचार का विषय' यह 'पठ्यतेत्पु-
रुष' ? । यदि पहला 'बहुव्रीहि' समास पद नामों जिस में कि अन्य पदार्थ
प्रधान होता है तो यह बतलाइये कि वह अन्य पदार्थ कौन होगा ? समग्र
ग्रन्थ, ग्रन्थ का भाग अथवा उपक्रम ? । इनमें से पहला व्याहृतार्थ ()
हीने से ठीक नहीं, सम्पूर्ण ग्रन्थ वेद विषयक विचार का ही विषय नहीं है

ग्रन्थो वा ग्रन्थभागो वा, उपक्रमो वा इति । नाद्यः, व्याहृताप्यत्वात्, नहि समग्रोऽपि ग्रन्थो वेदविषयविचारमेव विषयीकरोति, तत्र तत्र तदतिरिक्त-विषयप्रतिपादनस्यापि दर्शनात् । किन्तु आद्यविकल्पाङ्गीकारे “ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिकायां वेदत्रिषयविचारविषय ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाग्रन्थः” इत्ये-योऽर्थः सम्पद्यते; तद्यथा सुधियएव विभावयन्तु कीदृशयो बुद्धिमारोहतीति । कश्चात्र सप्तम्यर्थः ? सर्वस्यापि सप्तम्यर्थस्य भेदघटितत्वान्नात्ननि स्वस्या-वस्थितिर्भवेत्तुं शक्या, नहि निपुणतरोऽपि नटवरः स्वस्वकथमारोहति इति ॥ न द्वितीयः, ग्रन्थभागस्य विचारविषयत्वाभावात् । ग्रन्थो हि नाम सार्थको वाक्यसन्दर्भः । तदेकदेशोऽपि तदात्मक एव । तथाच प्रतिपाद्यार्थालिखितो न कश्चन विषयो वाक्यसन्दर्भस्य सम्भवी । विचारो हि नाम जानसी क्रिया, तत्र सा एतावती ग्रन्थैकदेशस्य विषयः । तथाच सर्वथा व्याहृतपुच्यते विचा-रश्च ग्रन्थैकदेशविषयश्चेति । न तृतीयः, उपक्रमस्यैव तद्विषयत्वे उपसंहारे-

स्वोक्तिं उस में जहाँ तहाँ उसके अतिरिक्त और विषय का प्रतिपादन भी देखा जा रहा है । और पहले विकल्प के अङ्गीकार में “ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेद विषयक विचार का विषय अर्थात् ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका ग्रन्थ” यही अर्थ होता है । उसे विद्वान् लोग ही विचारें कि इनमें से कौनसा अर्थ समीचीन रूप से बुद्धि में आरूढ़ होता है । यहाँ पर सप्तम्यर्थ कौन है ? क्योंकि सबको ही सप्तम्यर्थ के भेदघटित होने से अपने में अपनी अवस्थि-ति नहीं होसकती जैसे कि चतुर से चतुर भी नट अपने कर्भ पर नहीं चढ़ सकता । दूसरा (ग्रन्थभाग) पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि ग्रन्थका भाग विचार विषयक नहीं होता । सार्थक वाक्य रचनाका नाम ग्रन्थ है । उस (ग्रन्थ) का एकदेश भी तद्रूप अर्थात् ग्रन्थात्मक ही होता है ! और प्रतिपादनीय अर्थ को छोड़ कर कीड़े दूसरा विषय वाक्यरचना का संभव नहीं । मनकी क्रिया का नाम विचार है वह इतने ग्रन्थके एकदेशका विषय नहीं होसकती ।…… तीसरा (उपक्रम) पक्ष भी ठीक नहीं उपक्रम ही को उसका विषय जानलेने पर उपसंहारमें अनैकान्तिक दोष आता है और प्रकरणादि के ग्रहण में दूसरे विकल्पमें कहा दोष क्योंका त्यों विद्यमान है । और दूसरा अर्थात् पृष्ठीतत्पु-रुष सेनास पक्षभी समीचीन नहीं क्योंकि तत्पुरुष ससाच स्वीकार कर लेने पर दूसरे ‘विषय’ पदका ग्रहण सर्वथा व्यर्थ इस लिये है कि पहले ‘विषय’

जैकान्तिकत्वापत्तिः, प्रकरणाद्युपन्यासे तु द्वितीयविकल्पोक्तद्वीयस्तदवस्थ एवेति । नापि द्वितीयः, तत्पुरुषपाङ्गीकर्तृमते व्यर्थएव द्वितीयविषयपदविन्यासश्चनः स्यात्, शिष्टेनैव गतार्थत्वात् । तथाहि वेदविषयो विचार्यते, वेदविषयविचारो वा प्रस्तूयते, उपदर्श्यते चेति सुसमञ्जस एवार्थः प्रतिपादितो भवतीति ।

किं बहुनाऽप्रासङ्गिकेन, प्रकृतमेवानुसरातः । “ चत्वारो वेदविषयाः सन्ति । विज्ञानकर्मेरुपासनाज्ञानकारणभेदात् । वेदविषयाः— वेदप्रतिपाद्याविषया इत्यर्थः । काण्डपदस्य प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तथाच विज्ञानकारणं कर्मकारणद्वयुपासनाकारणं ज्ञानकारणमित्यर्थो लभ्यते, अत्र वदानः न विज्ञानकारणं वेदप्रतिपाद्योविषयः, प्रकरणात्मकत्वात्कारणस्य, नहि विज्ञानप्रकरणं वेदेन प्रतिपाद्यते, अपितु विज्ञानविषयकमेव तत्प्रकाशम् । इत्थनत्र काण्डपदस्य व्यर्थत्वात् “विज्ञानकर्मेरुपासना ज्ञानभेदात्” इत्येव उचितम् सुवचम् ।

पदसे ही उसके अर्थ की पूर्ति होजाती है । इस लिये “ वेदविषयविचारविषयः ” इस वाक्य के स्थान में— ‘वेदविषयो विचार्यते’ यह पाठ अथवा ‘वेदविषयविचारः प्रस्तूयते, उपदर्श्यते’ यह कथन उत्तम प्रतीत होता है । इत्यादि अप्रासङ्गिक कथन को छोड़ कर अब हम प्रकरणा ही को आरम्भ करते हैं :-

“चत्वारो वेदविषयाः— वेदों में अवयव रूप विषय तो अनेक हैं परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं (१) विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना (२) दूसरा कर्म (३) तीसरा उपासना और चौथा ज्ञान है” । स्वामी जी के उपर्युक्त कथन में जो ‘ वेदविषयाः ’ यह वाक्य है उसका यह अर्थ है कि वेद में प्रतिपादनीय विषय । और ‘विज्ञानकर्मेरुपासनाज्ञानकारणभेदात्’ इस में जो ‘काण्ड’ पद है उसका प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है इस लिए इस का अर्थ हुआ— विज्ञानकारण, कर्मकारण, उपासनाकारण और ज्ञानकारण ! इस विषय में हमें यह वक्तव्य है कि विज्ञानकारण वेदका प्रतिपादनीय विषय नहीं क्योंकि काण्ड नाम प्रकरण का है सो विज्ञान प्रकरण वेद से प्रतिपादन नहीं किया जाता किन्तु वह प्रकरण ही विज्ञान विषयक है, इसप्रकार यहाँ पर काण्ड पद व्यर्थ होने से उपर्युक्त वाक्य के स्थान में “विज्ञानकर्मेरुपासनाज्ञानभेदात्” यह वाक्य उचित है । स्वामी जी के इस कथन पर

अत्र विचार्यते - योऽयं "दुदोह यज्ञसिद्ध्यम् ऋग्यजुःसामलक्ष्णम्" अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः "यस्नाहथो अपातज्ञन् यजुर्वेदां दपाकयन् । सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्" इत्यादि श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धीवैदार्ता क्रमस्तमनुसृत्य यथासंख्यमेव विज्ञानादिविषयप्रतिपादकत्वस्य गदीनाम्, उतान्ध-विधया तत्र विनिगमनाविरहमादायाथर्वणश्चत्वारो विषया उत्तरोत्तरमपोह्यान्वेपां पूर्वपागुतर्चां चत्वारो विषयाः पूर्वं पूर्वं मपोह्यान्वेषा सुत्तरेपामित्यादिप्रकारा-न्तरासम्भवात् यथासंख्यविषयनियोगः स्यादथ सर्वैसर्वत्रेति सन्देहे चतुष्टयान्यथा नुपपत्तैर्यथासंख्यमेव विषयविभागो भवति। अन्यथा सर्वत्र सर्वविषयप्रतिपाद्यत्वाङ्गी-कारे, सति सङ्गदेकत्रार्थप्रतिपादने पुनस्तदर्थप्रतिपादनं पुनरुक्तिरेव स्यात्, तद्विधावाचतुष्ट्वं नोपपद्येति। तथाच विज्ञानमृषां विषयाः कर्म यजुषा-मुपासना सामन्मानथर्वणश्चज्ञानमित्येकैकविषयप्रतिपादनेन चतुष्ट्वमप्यु-पपन्नम्, क्रमश्चाभिरक्षित इति। इदन्त्वत्र विचार्यते कोऽस्ति ज्ञानविज्ञानयो-

विचार किया जाता है कि- "दुदोह यज्ञसिद्ध्यम्, ऋग्यजुःसामलक्षणम्" इत्यादि स्मृतियों और- "अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः" इत्यादि श्रुतियों में वेदों का जो क्रम प्रसिद्ध है तदनुसार ही यथाक्रम से ऋगादि वेदों का विज्ञानादि विषय के प्रतिपादन का प्रकार आप को अभि-पत्त है अथवा किसी अन्य रीति से ?.....

किसी अन्य प्रकारसे चार वेदों के चार विषय की सिद्धि न होने से यथाक्रम ही विषय विभाग प्रतीत होता है। इसके प्रतिकूल ऋगादि चारों वेदों में पूर्वोक्त चारों विषयों का प्रतिपादन स्वीकार कर लेने पर एक वेद में एक, स्थान पर एक अर्थ का प्रतिपादन हो जाने से फिर उसी विषय का दूसरे तीसरे और चौथे वेद में प्रतिपादन मानना पड़ेगा और ऐसा होने वा मानने से 'पुनरुक्त' दोष होगा। इस भय से चार का क्रम ठीक २ नहीं घट सकेगा, इस लिए ऋग्वेद का विज्ञान, यजुर्वेद का कर्म सामवेद की उपासना और अथर्व वेद का विषय ज्ञान है इस प्रकार एक वेद का एक विषय प्रति-पादन करने का मानने से चार विषय का कथन युक्तियुक्त प्रतीत होता है और क्रम संगति भी ठीक बैठ जाती है। अब इस विषयमें यह विचार किया जाता और स्वामी जी वा उनके अनुयायियों से यह पूछा जाता है कि ज्ञान और विज्ञान में भेद क्या है ? "नोक्तो धीज्ञानमित्याहुः विज्ञानं शिल्प-

भेद इति ? यदि " मोक्षे धीर्ज्ञानमित्याहुर्विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः " इत्य-
भिधानबलात् कोशस्य शक्तिग्रहप्रतिकारणत्वात् मोक्षविषया धीरेवज्ञानं
शिल्पविषया शास्त्रान्तरविषया धीश्च विज्ञानमुच्यते; तदा " तत्रादिभो
विज्ञानविषयोहि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति । तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्त-
पदार्थेषु साक्षाद्बोधोऽन्वयत्वात् । तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति । कुतः ?
अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यसस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात् "।
इत्यादि सकलग्रन्थस्य स्वोक्तेर्नैवविरोधः स्यात् । तथाहि निरुक्तवाक्यसन्दर्भः
परमेश्वरस्यैव सर्ववेदतात्पर्यविषयतया गाधान्यं प्रतिपादयन् तद्विद्योगेऽपि
प्राधान्यं बोधयति । युक्तिसिद्धञ्च धियाः प्राधान्यं तद्विषयस्य प्रधानत्वात् ।
सा च धी मोक्षविषयत्वान्न विज्ञानरूपा । मोक्षता त्पीश्वरस्य निर्विन्शदैव ।
तथाच कथमिदमुच्यते, " तत्रादिभो विज्ञानविषयोहि सर्वेभ्यो मुख्यो-
ऽस्तीति । ज्ञानविज्ञानभेदप्रतिपादकोऽन्यः कल्पस्तु न सन्भवत्येव प्रमा-

शास्त्रयोः " अर्थात् 'मोक्षविषयक बुद्धि को ज्ञान और शिल्प (कारीगरी)
तथा अन्यान्य शास्त्र विषयिणी बुद्धि को विज्ञान कहते हैं, कोश के इस प्रमा-
णानुसार यदि आप ज्ञान और विज्ञानमें यह भेद जानते हैं तो—'(तत्रादिभ
इति) विज्ञान उसको कहते हैं कि जो कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनों से
यथावत् उपयोग लेना और परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त
पदार्थों के साक्षाद् बोध का होना उनसे यथावत् उपयोग का
करना, इससे यह विषय इन चारों में भी प्रधान है क्योंकि इसी
में वेदों का मुख्य तात्पर्य है सो भी दो प्रकार का है एक तो परमेश्वर का
यथावत् ज्ञान और उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना और दूसरा यह
है कि उसके रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत् विचारके उनसे कार्य
सिद्ध करना अर्थात् ईश्वर ने कौन २ पदार्थ किस २ प्रयोजन के लिये रचे हैं
और इन दोनों में से भी ईश्वर का जो प्रतिपादन है सो ही प्रधान है " ।
इत्यादि सब कथन का आपके ही कथन से विरोध होगा । यह कथित वाक्य
समूह सब वेदों के तात्पर्य की विशेषता होने के कारण परमेश्वर ही की-
प्रधानता को प्रतिपादन करता हुआ उस (परमात्मा) की बुद्धि के प्राधान्य
को भी जतुलाता है । बुद्धिकी प्रधानता तो उसके विषय की प्रधानता होने
से युक्ति सिद्ध ही है । पर वह बुद्धिमोक्षविषयक होने से विज्ञानरूपा नहीं

शाभावात् । किञ्च "तत्रादिम् इत्यादिः प्रधानत्वादित्यन्तः पदवाक्यतदन्वयबोधार्थविन्यासोऽपि नशिष्टजनमनस्तोषीभाति । तथाहि विज्ञानविषयस्य मुख्यत्वे" विज्ञानस्य परमेश्वरादारभ्यतृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयत्वात्" इति प्रतिपादितो हेतुः कथन्तरां साध्यस्य साधने क्षम इति भगवान् दयानन्द एव जानाति । सूक्ष्मक्षिकयाच पश्यन्तु सुधियोऽपि-कुतो विज्ञानस्येश्वरविषयता सम्भवति, ननुमर्थादेव पञ्चम्यर्थ इति चेत्, तथा सति तत्रापीश्वरानुभवः—ईश्वरविषयकानुभवो मुख्योऽस्तीत्युक्तिर्वदतोमेजिहा नास्तीतिवत्सर्वथापिस्वोक्तविरोधिनी एवस्यात् । पूर्वोक्तदोषस्तु तदवस्थ एव । "साक्षाद्बोधान्वयत्वात्" इत्यत्रापि दीयतां दृष्टिः । साक्षाद्बोधोहि नाम प्रत्यक्षं, तदन्वयत्वात्, तद्धेतुत्वाद्वा स्यात्तत्सम्बन्धिचत्वाद्वा, सर्वथापि न सम्भवति, नहि तदेष विज्ञानं सम्बन्धिता च विषयतयैव स्यात् । स्वस्यैव हेतुर्भवितुं शक्यः, नच सर्वान्पदार्थान् साक्षाद्बोधो विषयीकरोति, इन्द्रिय-

और जब कि ईश्वर की मोक्षता निर्विवाद सिद्ध ही है तब आप यह किस प्रकार करते हैं कि—“उनमें पहला विज्ञान विषय सबसे मुख्य है” । ज्ञान और विज्ञानमें भेद जतलाने वाला पूर्वोक्तप्रकारके अतिरिक्त कोई और प्रकार प्रमाण न होनेसे इतना ही नहीं । और स्वामी जीकी वाक्य रचनामें “तत्रादिम्”, यहाँ सेलिकर “प्रधानत्वात्, यहाँतक केपद, वाक्य औरइतनेके अन्वय एवं अर्थादि का क्रमविद्वानोंके लिए मनोरञ्जक नहीं । इसके अतिरिक्त यहतो कहिएकि विज्ञानविषयके मुख्य होनेमें “विज्ञानस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयात्”, यहदिया हुआ आपका हेतु साध्य केसाधन में क्यों कर समर्थ हो सकता है यह तो स्वामी दयानन्दजी ही जानें । विद्वान् लोग भी सूक्ष्मदृष्टि से देखें कि विज्ञान की ईश्वरकी विषयता क्योंकर संभव है । यदि यहकहो कि सर्वादा ही पञ्चमी विभक्ति काअर्थ है तो फिर—तत्रापीश्वरानुभवः, अर्थात् ईश्वर विषयक अनुभवही मुख्य है, स्वामीजी का यह कथन ‘मेरे मुख में जिहवा नहीं है, इस प्रकार कहने वाले के समान अपने ही कथनका विरोधीहोगा औरपहले कहांदोषउत्तमेंविद्यमानहीहैइसके अतिरिक्त, ‘साक्षाद्बोधान्वयात्’ इस वाक्यपरभी विद्वानों की तनिक दृष्टि देनी चाहिए साक्षाद् बोध, का अर्थ है ‘प्रत्यक्ष, तदन्वयात्, उस (प्रत्यक्ष ज्ञान) का हेतु अथवा सम्बन्धी होने से । इस पूर्वोक्त वाक्य का यह अर्थ होता है जो

वृत्तमतिक्रान्त' नामपि पदार्थानां सत्वात् । एकत्वादेव न विषयतापि, तथा-
 चायं वाक्यसमूहः "दशदाहिमानि, षड्पूपाः, कुण्डनजागिनः" नित्यादिवत्स-
 र्वथाप्यपार्थक्य एवेत्यलं चिकितानिष्पीडनेन तैलप्रत्याशयेति । ईश्वरविषय-
 कानुभवस्य मुख्यत्वं श्रुतिरपि साक्षादाह— "यस्मिन्विज्ञाने सर्वमिदं विज्ञानं
 स्यात् वाचारम्भणं विकारे नोमथेयं नृत्तिकेत्येव सत्यम्" इति । श्रुतेर्वार्थं
 द्रढयितुं प्रधानभूतपरमेश्वरप्रतिपादन एव सकलवेदतात्पर्यमिति प्रमाणा-
 न्तरनिरूपणद्वारा दर्शयति— अत्रेत्यादिना । अत्रैवार्थं प्रमाणभूतां काठकश्रु-
 तिमाह— "सर्ववेदा यत्पदमाननन्ति तर्पांसि सर्वाणि च यद्ददन्ति । यदि-
 च्छन्तो ब्रह्मचर्यं धरन्ति तत्तं पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्" इति । श्रुति-
 ति पदं दृष्ट्वा तस्येश्वरवाचकत्वे प्रमाणात्माह— "तस्य वाचकः प्रणवः, ओम् इ-
 त् ब्रह्म, ओमिति ब्रह्म" इति । एषामर्थः— (सर्ववेदाः०) यत्परमं पदं मो-
 क्षारुषं परब्रह्मप्राप्तिजननसर्वानन्दनयं सर्वदुःखेतरदस्ति तदेवोकारवाच्य-

कि किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है, क्योंकि सम्बन्धिता विषयता से होती
 है। वही विज्ञान अपना ही हेतु नहीं होसकता और न साक्षाद्बोध सब
 पदार्थों को विषयभूत कर सकता है क्यों कि ऐसे भी अनेक पदार्थ हैं जो
 इन्द्रियों को पङ्कच से दूर हैं। और एक होने से भी विषयता नहीं हुआ
 करती। इसलिए यह वाक्यसमूह "दश अनार, षड् पूपा, कुण्ड और संग्रहमें
 इत्यादि वाक्यों के समान ही निस्सार एवं सर्वथा व्यर्थ है यह जान कर ही
 हम इस विषय में कुछ अधिक कहना नहीं चाहते क्यों कि वह तैल प्राप्ति
 की आशा से बालू रेत के निष्पीडन के समान व्यर्थ ही प्रतीत होता है।
 ईश्वर विषयक अनुभव के मुख्यत्व को साक्षात् नगवती श्रुति ही कहती है—
 "यस्मिन्विज्ञाने" जिसके जान लेने पर संसार की सब वस्तुमात्र जान ली
 जाती है। मृत्तिका से बने घटादि पदार्थों का नाम केवल उच्चारणमात्र ही
 है सत्य तो मृत्तिका ही है" इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए प्रधानभूत
 परमेश्वर के ही प्रतिपादन में सब वेदों का तात्पर्य है यह और प्रमाणां
 के द्वारा निरूपण करते हुए स्वामी दयानन्द जी अपने 'अत्रेत्यादि' लेख
 से दिखलाते हैं और इसी विषय में उन्होंने ने प्रमाणभूत 'कठोपनिषद्' की
 श्रुति उद्धृत की है, यथा— "(सर्वे वेदाः०)" इस मन्त्र में 'ओम्' इस पद
 को देखकर उस (ओम्) को ईश्वरवाचक होने में प्रमाण कहा है— "तस्य

'नस्ति (तस्य०) तस्यैश्वरस्य प्रणवश्रींकारो वाचकोऽस्ति वाच्यश्चेश्वरः (ओम्०)
 ओमिति परमेश्वरस्य नामास्तितदेवपरं ब्रह्मसर्ववेदा आननन्ति ! आंसंमन्ता-
 दभ्य स्यन्ति मुख्यतया प्रतिपादयन्ति (तर्पांसि) सत्यधर्मानुष्ठानानि तर्पांस्यपि
 तदभ्यासपरायणैव सन्ति (यदिच्छन्तो०) ब्रह्मचर्यब्रह्ममुपलक्षणार्थं ब्रह्मचर्य-
 गृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाधर्माचरणानि सर्वाणि तदेवाननन्ति ब्रह्मप्राप्त्यभ्यास-
 पराणि सन्ति । यद्ब्रह्मोच्छन्तो विद्वांस रतस्मिन्नभ्यासमाना वदन्त्युपविशन्ति
 च । हेनपिकेतः ! अहं यतो यदीदृशं पदमस्ति तदेतत्तेतुभ्यं संप्रहेण वंही पैण
 प्रवीमि । इति ॥ श्रीमत्परब्रह्मपतिपादितोऽर्थः । अत्र वदामः- व्याख्यानतया
 मोक्षाख्यं यत्पदं तदेवाकारवाच्यमस्ति ओकारश्चेश्वरवाचकस्तथा मोक्षेश्व-
 रयोरभेदश्च, तदेव ब्रह्मपदं सर्ववेदा आननन्ति आभीक्ष्येण प्रतिपादयन्ति
 सर्वाणि च धर्मानुष्ठानानि । इत्येवाद्यालम्बते यद्यपि साधुरेवायमर्थः । तथापि
 "यद्ब्रह्मोच्छन्तो विद्वांसस्तस्मिन्नभ्यासमाना वदन्ति उपविशन्ति च इत्यादि

वाचकः प्रणवः, ओम् संप्रह्म, ओमिति ब्रह्म ॥ । अच्छा, स्वामीजीने इनका
 जो अर्थ किया है, वह अवलोकन कीजिए— (सर्ववेदाः०) परमपद अर्थात्
 जिसका नाम मोक्ष है जिसमें परब्रह्म को प्राप्त होके उदा सुखमें हीरहनाजो
 सब आनन्दों से युक्त सब दुःखों से रहित और सर्वशक्तिमान् परब्रह्म ही
 जिसके नाम (ओम्) आदि हैं उसी में सब वेदोंका मुख्यतारण्य है इसमें योगसूत्र
 का भी प्रमाण है (तस्य०) परमेश्वर काही ओंकार नाम है— (ओम्०) तथा
 (ओमिति) ओम् और खम्ये दोनों ब्रह्मके नाम हैं और उसीकी प्राप्ति कराने
 में सबवेद प्रवृत्त हो रहे हैं उसकी प्राप्ति के आगे किसी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम
 नहीं है क्योंकि जगत्का वशीन दृष्टान्त और उपयोगादि का करने या सबपर
 ब्रह्म हीको प्रकाशित करते हैं तथास. यधर्म के अनुष्ठान निश्चो तपकहते
 हैं वेभी परमेश्वर कीही प्राप्ति के लिए हैं तथा ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ और
 संन्यास आश्रमके सत्याचरण रूपजोकार्म हैं वेभी परमेश्वरकीही प्राप्तिराने
 के लिये हैं जिस ब्रह्मकी प्राप्तिकी इच्छाकारके विद्वान् लोग मयत्न और उसीका उप-
 देशगी करते हैं निश्चिंता और यमइन दोनों का परस्पर यहसंवाद है कि हेनचिकैतः
 ना अवश्यप्राप्त करने योग्य वृत्त है उसीकार्यैतरे लिये सक्षोपसे उपदेशकरता हूँ ।
 यहस्वामी जीकृतअर्थ है इसविषयमें हम कहते हैं कि इस व्याख्यानसे मोक्षनामकजो
 पद है वही ओंकारपदवाच्य है और ओंकार ईश्वर का वाचक है । मोक्ष और ईश्वर

पदज्ञातं ग्रन्थकृतं व्याकृतितन्त्रप्रवीणताननुबद्धदुनोत्पेष सहृदयहृदय-
निति । ब्रह्मस्येववेदानां तात्पर्यमित्यत्रार्थं प्रमाणांतरमपिदर्शयति । तत्रापरे-
ति । "तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणां
निरुक्तं छन्दोऽथोतिपनिषि । अथपरा यया तदक्षरमधिगम्यते" इति मुगड-
कोपनिषदि । श्रुतिरियं प्रकृतोपयोगिनी नवेति तावद् विचार्यम् प्रकरणां
स्यत्र सर्ववेदानां ब्रह्मस्येव तात्पर्यमित्येव । नचानया श्रुत्यावेदानांब्रह्मणिता-
त्पर्यमुद्दिश्यते । तथाच कथमत्र स्वामिभिरुद्धृत्यैः श्रुतिरिति समाधिगद्युद्धि-
वेद्यमेवैतत् । इति । अर्थोऽप्यस्या स्तावदालोक्यताम्- (तत्रापरा०)॥ वेदेषु
द्वे विधे वर्त्तते अपरा परायेति, । अत्रवेदपदं कुतोऽप्याहृतं स्वामिभिरिति
नजानीमोवयम् । सुशुद्धकोपनिषदितुनहर्षे रङ्गिरसो ब्रह्मविद्याप्राप्तिपरम्प-
रानुक्ता, तासकाशाद् ब्रह्मविद्यामधिगमिषुर्माशाः श्रौतकोविधिव-
दुपसन्नस्त्वंपच्छ, भगवन् ! कस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातमभवतीतिप्रक्रान्त-

में कोई भेदनही अनएव उसीब्रह्म पदको समस्त वेदऔर सबधर्मानुष्ठान
निरन्तर प्रतिपादन करते हैं । यहीअर्थ अवगत होता है । यद्यपि यहअर्थ
समीचीन है तोभी "यद् ब्रह्मैकवन्तो विद्वांसः०" इत्यादि पदसमूह ग्रन्थकर्ता
स्वा०दधानन्द जीके व्याकरण विषयक चातुर्थ कोप्रकट करता हुआ अवश्य ही
विद्वज्जनों के दयार्द्र हृदय को सन्तप्त करता है । "ब्रह्ममें ही वेदोंका तात्पर्य
है, इसअर्थ में स्वामीजी सहाराज दूसरा प्रमाण दिखलाते हैं-" तत्रापरेति"
पाठकगण ! "तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः" इत्यादिमुगडकोपनिषद्की यह श्रुति
प्रकरणीपयोगिनी भी है अथवा नहीं, प्रथम तोयही विचारना उचित है ।
यहां पर प्रकरण यहहै सही कि वेदों का ब्रह्म में तात्पर्य है पर इस श्रुतिको
यह बदेश्य नहीं किवेदों का ब्रह्ममें तात्पर्य है । न मालूम स्वामी जीने यह
श्रुति यहां पर उद्धृत कीभी क्यों ठीकहै योगी ठहरे न । यहउन्हे समाधि
में ही सूझा होगा अच्छा अब इसकी अर्थ की भी आलोचना कीजिए
"(तत्रापरा०) वेदोंमें दो विधा हैं एक अपरा दूसरी परा " । हम नहीं
जानते कि स्वामी जी ने यहां पर वेदपद का अध्याहार कहा से किया ।
मुगडकोपनिषद् में तो सर्ववि अङ्गिरा की ब्रह्मविद्या प्राप्ति का वर्णन करके
उनके पांच ब्रह्मविद्या पढ़नेकी इच्छासे महाशाल अर्थात् परमगृहस्थ श्रौतक
ऋषिपहुंदा और उसने उनसे विधिपूर्वक प्रश्न किया कि भगवन् ! किस

मस्ति, अगिरसश्च शौनकं प्रति परापररूपे ब्रह्मविद्धिः प्रदर्शिते द्वेविद्ये वेदि-
 त्वये, इत्येवोत्तरं तथाचप्रकरणाबलमादायतत्र-परापरविद्ययोर्नध्येतावदपरा
 उच्यते इत्येवार्थस्तत्रापरेतिपदस्य साधीषान् भाति, अग्रेच सैवापरा 'ऋग्वेदो
 इत्यादिनावेदवेदाङ्गरूपा प्रतिपादिता । किञ्च यदि दुर्जनतोषन्यायेन, यद्वा
 न सर्वत्र सर्वनाम्ना प्रकृतमेव परासृश्यते, " तद्भानात्तयमनूनव्याघात-
 पुनरुक्तदोषेभ्यः तद्बचनादान्नायस्य प्रामोक्ष्यम् " इत्यादिस्थलेषु तदिति
 सर्वनाम्नाऽप्रकृतयोरेव वेदेश्वरयोः परामर्शदर्शनात्, तथैवेहापितत्रेत्यनेना-
 प्रकृतमपि वेदग्रंथानं न दोषावहमित्पभिमत्तम्, तदा ' वेदेषु अपराविद्या'
 इत्यभिधीयमाने कथमर्थबोधः सम्भवेत्, यतोहि अपराविद्या वेदवेदाङ्गारि-
 का एव, तथाच वेदेषु वेदा वेदाङ्गानि वेति सर्वथापि युक्तिविरुद्धोपमर्थो न
 सुविचक्षणैरादरणीयः । किञ्च ' वेदेषु द्वेविद्ये वर्तते ' इतीदं वाक्यं ऐहित्य-
 मुणित्कार्यविषयकज्ञानं व्यापारीकृत्य द्वावेव विषयौ निखिलवेदप्रतिपाद्या-

वस्तु के जान लेने पर यह सब जान लिया जाता है । वहां यह प्रकरण है ।
 इसके उत्तर में अङ्गिरा ऋषि ने शौनक से यही कहा कि— " परा और अपरा
 ये दो विद्या जो कि वेदवेत्ताओं के द्वारा प्रदर्शित की गई हैं जाननी चाहिए " ।
 इसमें स्वा० दयानन्दप्रोक्त आशय का नाम तक नहीं है । किञ्च यदि प्रकरण
 बल को लेकर यह नों तो भी वहां पर 'परा' और अपरा विद्याओं में
 प्रथम अपरा विद्या कथन की जाती है, यही अपरा पद का सरलार्थ
 प्रतीत होता है और आगे वही अपरा विद्या 'ऋग्वेदो' इत्यादि नन्त्र
 के द्वारा वेद वेदाङ्गरूप से प्रतिपादन की गई है । और यदि दुर्जनतोष
 न्याय से अथवा सब जगह 'तत्, इस सर्व नाम से प्रकरणगत का ही
 ग्रहण नहीं किया जाता इस वचन बल से— "अनृत" (निश्चया), व्याघात
 और पुनरुक्त दोषों से 'वह, प्रामाणिक नहीं, ईश्वरीय वचन होनेसे वेद
 प्रमाण है " इत्यादि अनेक स्थानों में 'तत्, इस सर्वनाम से प्रकरणगत न
 होते हुए भी जैसे वेद और ईश्वरका ही ग्रहण किया जाता है वैसे ही यहां
 पर भी 'तत्र, इस पद से प्रकरण में न होते हुए भी वेद का ग्रहण दोषो-
 त्पादक नहीं' । यदि ऐसा मानोगे तो ' वेदेषु अपरा विद्या, अर्थात् वेदों में
 अपरा विद्या ऐसा कथन करनेपर किस प्रकार अर्थ बोध हो सकेगा ? क्योंकि
 अपरा विद्या वेद तथा । वेदाङ्गरूपा ही है सब वेदों में वेद तथा वेदाङ्ग

प्रित्यर्थपरमेव प्रतीतः, तथा सति 'चत्वारो वेदविषयाः सन्तीत्यादि-
 वाक्यैर्निष्पादितस्य विषयचतुष्टयस्य प्रकृतेन विरोध एव, प्रागुक्तस्यैव म्ना-
 यो धा सुसहकश्रुत्यर्थविलोपगतकिरित्युभयतः पाशाराज्जुः । किञ्चहुना यथा
 यथायसयो विचार्यते तथा तथा चिकताकूपवद्विदीर्यत एवेत्यल्लसप्रकृतेनेति।
 प्रकृतमेवानुसरान। अथ स्वमनोऽनुरोधेन तावदपरां, लक्षयति । तत्रमयेति ।
 'तत्र यथा पृथिवीतृणभारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां छानेन यथा-
 वदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोक्षपते ॥' इति । अत्रेदं तावद्वि चार्थसू-क्तनः
 श्रुतिभागोऽपराविद्या स्वरूपाप्रतिपादको भगवताऽत्र व्याख्यायते । सर्वेषां
 पिब्यमुदत्तारथ एव । सोऽपि साधीयान्नवेतीदानीं विचार्यताम्, - 'पृथिवी-
 तृणभारभ्ये' त्यत्र पृथिवीतृणोभयोपादानप्रयोजनन्तु किञ्चिदनिर्वचनीय-
 रूपं स्वानिभिरेवाधिगतस्यात् व्यनन्तु यदि आस्यूलादाचसूत्राद्दस्तुज्ञान-
 सन्निवतं स्यात् तदा 'पृथिवीभारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानामितिवा, अथ अकि

यह अर्थ सर्वथा युक्ति विरुद्ध है अतः विद्वानों के लिए माननीय नहीं;
 और 'वेदों में दो विद्याएँ, यह वाक्य इस लोक और पर लोक विषयक ज्ञान
 को व्यापार में रख कर सनस्त वेद प्रतिपादनीय-वेद ही विषय हैं; इसी, अर्थ
 का कथन करने वाला मतीत होता है ऐसा होने पर 'चत्वारो वेदविषयाः
 सन्ति, अर्थात् वेदों में चार विषय हैं। इत्यादि वाक्यों से, स्वामी जी ने
 जिन चार विषयों का प्रतिपादन किया है उनका प्रकृत के साथ पूर्ण विरोध
 ही है और पूर्वोक्त वाक्य को प्रायोगिक मान लेने पर इस मुसहकोपनिषद्
 की श्रुति के अर्थ लण्ड होने का प्रसंग आता है। अब इस प्रकार दोनों और
 से, स्वामी जी के लिये पाश रज्जु बन्धन सप्रवस्थित है। बहुत क्या कहें जैसे
 २ इस अर्थ पर विचार किया जाता है तब २-ही यह (अर्थ) बाहुनिर्मित
 कूप को खनान गिरता जा रहा है अतः इस विषय को छोड़ अब हम प्रकरण
 की आरम्भ करते हैं— अब स्वामी जी अपने मन माने मतानुसार प्रथम
 'तत्र यथा इत्यादि वाक्य द्वारा 'अपरा' विद्या का वर्णन करते हैं—
 "एन में से अपरा यह है कि जिस से, पृथिवी और तृण से लेके प्रकृतिपर्यन्त
 पदार्थों के श्रुतों के ज्ञान से, ठीक २ कार्य सिद्ध करना होता है"। प्रथम इस
 में यही विचारणीय है कि इस श्रुति में अपराविद्या के स्वरूप का प्रतिपादन
 करने वाला वह कौन सा भाग है जिसकी अप्र व्याख्या करते हैं यह सब

सुन यस्मिन्निद्वन्द्वस्त्ववधीकृत्येष्टापत्तौ तु तृणनारभ्य सर्वमूलमूलमकृतिपर्य-
न्तानानित्येवोचितमिति वदामः । 'ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणमिति ।
ज्ञानापरपर्यायोहि ग्रहणशब्दः, तथाच ज्ञानेन उपकारज्ञानमित्यर्थ-
निष्पद्यमाने तदज्ञानं ज्ञानाकरणकरवाभावेन न प्रत्यक्षात्मकमित्यनुनि-
तिर्वा स्यात्, शब्दबोधो वा ? नाद्या। व्याप्तिज्ञानादेरभावात् न द्वि-
तीयः, नोपकारज्ञाने पृथिव्यादिप्रकृत्यन्तपदार्थज्ञानमुपयोगि, येन
सद्वहारीकृत्य पदज्ञानं शब्दबोधं सम्पादयेत् । यथावदिति पदं तु ग्रहण-
विशेषणः सत्तत्प्रमात्त्वव्यवस्थापकमित्येषामिति । किञ्च 'यस्मिन् विज्ञाने सर्व-
निन्दं विज्ञातं स्यादित्यादि श्रुतिवचनादायप्रायश्चिद्या प्रयोद्यात्मज्ञाने सत्येव
सर्वज्ञानसम्भवः, नापराविद्याकनित्वात्मातिरिक्तवस्तुज्ञाने, तथाचोक्त-
सप्तशतस्य विशेषाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावमोदाय-लक्ष्यमात्रावृत्तित्वे गौरिकश-
फरवादिलक्षणवदसम्भवदीपदुष्टत्वात्, सर्वथापि वरं तहानभेवदुष्टप्रयोग्यभि-

खीकृतानी और ऊपर से जोड़ा हुआ आपका जल माना ही अर्थ है और
वहभी समीचीन है-या नहीं अब तनिक यहभी विचारिए 'पृथिवीतृणनारभ्य'
यहां पर पृथिवी और तृणइनदोनों शब्दोंकेगृहण काप्रयोजनतो कुछअक्षणीय
है जोकि स्वामी जीने ही जान पाया हीगा । स्थूलसे स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्म
किन्नी वस्तुका ज्ञान यदि हमें अभिलषित हो तबहुन ठी यही कहते हैं कि
ऐसी दशार्थ-पृथिवी से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के अथवा तृणसे लेकर
सब की मूल मूल प्रकृति पर्यन्तों के इस प्रकार कहना उचित है ।

'ज्ञानेन यथावत्' इस वाक्य में ग्रहण शब्द ज्ञानका दूसरा पर्यायवाची है,
इस अवस्था में उसका—'ज्ञान से उपकार ज्ञान' यह अर्थ होने पर ज्ञानकी
करणकारक होने के कारण वह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक नहीं होसकता तब आप
उसे अनुज्ञान मानियेगा अथवा शब्दबोध ? पहला (अनुज्ञान) तो व्याप्ति-
ज्ञानादि का अभाव होने से नहीं माना जासकता और न दूसरा (शब्द-
बोध) ही क्योंकि पृथिवी आदि प्रकृति पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान उपकार-
ज्ञान में उपयोगी नहीं, जिस से कि उसकी द्वारा पदज्ञान का शब्दबोध
सम्पादन कर सकें । और 'यथावत्' यह पद ग्रहण शब्द का विशेषण होता
हुआ उसकी यथार्थ ज्ञान का व्यवस्थापक ही प्रतीत होता है । और 'जिसके
ज्ञान लेने पर यह सब कुछ जानने योग्य ज्ञान लिया जाता है' इत्यादि

रिति । अथ “सा परार्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टास्तीति वैद्यम्” इति । यद्यपि नास्त्यत्र सन्देहलक्षणोऽपि सुखडकोपनिषद्यपि अनुपपद्येव “प्लवाञ्छेते अहदायज्ञरूपाः अष्टादशोक्तप्रवरं येषु कर्म इत्यादिवाक्यैरपरायास्तज्जनितफलस्य चास्थिरतां प्रतिपाद्य “सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्दुरिष्ठं प्रजानाम्” इत्यादिना ब्रह्मपरतया पराया एव प्रशंसनेनात्युत्कृष्टत्वबोधनात् । तथापि स्वोक्तविरोधोऽपरिहार्य एव । तथाहि— तावद्विज्ञानस्य मुख्यत्वं प्रतिपाद्यानुपपदेवेश्वरविषयकानुभवतात्मकस्य ज्ञानस्य मुख्यत्वमुक्तम्, तत्रच ‘सर्वेषां वेदानामत्रैवतात्पर्यं नि’ति वाक्यं हेतुत्वेनोपन्यस्तम् । ब्रह्मिणि “ईश्वरस्य खलु सर्वैभ्यः पदार्थैभ्यः प्रधानत्वादि”ति हेतुरभिहितः । अत्रो हेतुपरम्परा, नहि केवलं पञ्चमीनिर्देशो हेतुतापादकः । अन्यथा सदसद्वेतुनियमव्यवहारविलोपः पस्येत । तस्मात्सर्ववेदतात्पर्यत्वं हेतुरीश्वरविषयकानुभवस्य मुख्यत्वं साधयितुं ज्ञानोन्नेत्यत्र दीयतां दृष्टिः । यथाद्यः— तदा किमिति “चत्वारो

श्रुति के बल से पराविद्याजन्य आत्मज्ञान के होजाने पर ही सब वस्तुओं का ज्ञान होना सम्भव है न कि अपराविद्या से हुए आत्मज्ञान के अतिरिक्त और वस्तुओं के ज्ञान से । आपका-कहाँ हुआ यह लक्षण विशेषण के अभाव से प्रयुक्त विशेष्य के अभाव को लेकर लक्ष्यमात्र में वृत्ति न होने से गरी के एक खुर होने रूप लक्षण के समान असंभव दोष से दूषित होने के कारण सब प्रकार से त्याज्य है । और स्वामी जी ने जो यह कहा है कि— “दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है, यह पराविद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है” यद्यपि इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है और ‘सुखडकोपनिषद्’ में भी पद २ पर ही—“निश्चय ये अग्निहोत्रादि षष्ठ जिनमें कि सोलह ऋत्विज्, यजनान और उसकी पत्नी, इन १८ व्यक्तियों के द्वारा किया हुआ निकृष्टकर्म अवस्थित है स्थिर न रहने वाले और नाशवान् हैं” इत्यादि वचनों से अपरा विद्या और उससे उत्पन्न फल की अस्थिरता कथन करके—“जो स्थूल और सूक्ष्म समस्त पदार्थों से ग्रहण करने योग्य, सब में श्रेष्ठ, और सनुषों के विज्ञान से परे अर्थात् दूर है” इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म के प्रतिपादन करने वाली परा विद्या की प्रशंसा से सब (पराविद्या) का उत्तम होना स्पष्ट सिद्ध किया है तो भी स्वामी जी का अपने कथन से जो विरोध है, वह दूर नहीं होसकता । और वह विरोध यह है कि स्वामी

वेदविषयाः" इति लोपने निनीत्य प्रतिपादितम् । ननु "सर्वे वेदा तत्पद-
मामनन्ति" इति श्रुतिसंगत एवावमर्थ इति चेन्न, श्रुत्यर्थस्यानुपदं वक्ष्य-
माणात्वात् । यदि चत्वारो वेदविषया इति प्रागुक्तएवार्थोऽङ्गीक्रियते, तदा
हेत्वसिद्धिः; एवञ्च कश्चित् 'पर्वतनिष्ठवन्दिज्ञानुभवो सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति अत्रैव
सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमिति वदेत्स त्वया कथं नियोक्यथः स्यादिति । तस्मा-
द्द्वितीय एव पक्षो जग्यायानिति । तथाच साधकाभावे न साध्यसिद्धिः ।
साध्यसिद्धौ च मूल एव कुटारापातः, अङ्कुरा एव तुयारवर्षा, इति उत्थायो-
त्सपानहृत्तलीनदरिद्रमनोरथवत्सर्वापीयं व्यवस्थितिपरम्परा पन्थामनपश्य-

की ने प्रथम विज्ञान का मुख्य होना प्रतिपादन करके फिर पद २ पर ईश्वर
के अनुभव विषयक ज्ञान को मुख्यत्व कथन किया है और आगे चल कर
वहाँ पर 'सर्वेषां वेदानामत्रैव तात्पर्यम्' यह वाक्य हेतुरूप से प्रदान किया है
और यहाँ भी 'ईश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः०' यह हेतुत्वेन दिखलाया है । धन्य है
इस हेतुओं की परम्परा की । स्वामिन् ! केवल पञ्चमी विभक्ति का निर्देश
ही हेतुत्व का निर्वाहक नहीं हुआ करता । यदि ऐसा ही माना जाय तो
सदसद् हेतु के नियम भङ्ग होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । इस लिए सब
बदों का तात्पर्यरूप हेतु ईश्वर विषयक अनुभव की मुख्यत्व सिद्धि में समर्थ
है या नहीं इस पर दृष्टि दीजिए । यदि पूर्वपक्ष स्वीकृत है तो फिर आप
ने—'चत्वारो वेदविषयाः' यह आखें सींच कर क्यों लिखा ? यदि यह कही
कि 'सर्वे वेदा तत्पद०' इत्यादि श्रुति के अनुसार ही हमने यह अर्थ किया
है तो यह कथन समीचीन नहीं, क्यों कि इस श्रुति के पद २ का अर्थ आगे
चलकर स्पष्ट रूप से किया जायगा । यदि 'वेदमें चार विषय हैं' इस पहले
कहे हुए ही अपने अर्थ को आप अङ्गीकार करते हैं तो हेतु की असिद्धि
स्पष्ट है । स्वामी जी ! इसी प्रकार यदि कोई यह कहे कि—'पर्वतस्य
अग्नि विषयक अनुभव ही सब से मुख्य है क्योंकि इस में ही सब वेदों का
तात्पर्य है' तो आप उस से फिर प्रकट क्या पूछें वा कहें ? इस लिए दूसरा
ही पक्ष उक्त है । और यह भी तो तनिक विचार कीजिए कि साधक के
असार में साध्य की सिद्धि नहीं हुआ करती और साध्य की असिद्धि होने
पर मूल में ही कुटारापात और अङ्कुर के लगते ही उस पर हिसवर्षा होने से
उनकी जो दशा होती है, ठीक वही आप अपने इस लेखकी समझिए । सो इस

स्ती पुरः संकुचिता भीता कुररीव प्रलिखादिभट्टशयोवसात्कीक्य विलीनप्राय-
 धेत्यलं पल्लवितेनेति । दिग्दर्शनमात्रमस्माकं, विमतिपत्तिजातसन्नयदपि प्रति-
 पदं रत्नमेव ह्यपीमिरूहनीयम् । अथेदानीं काठकमुपलक्षकोपनिषद्वाक्ययोस्तन्मयो
 रपि पूर्वमभिलिखितयोः शङ्करभगवत्पादाचार्यप्रतिपादितो ऽप्यर्थो विदुषां
 सौकर्योयं समुद्भिष्यते । “यत्तत्पश्यसि तद्देव” इत्येवं पूर्वोक्तमन्त्रगतवाक्येन
 “पृष्ठवस्ते नचिकेतसे, सृत्युस्तवाच-पृष्ठं वस्तु विशेषणान्तरं च विवक्षन्- सर्व
 वेदा यत्पदमिति, - सर्वे वेदा यत्पदं पदनीयं गमनीयमविभागेनाऽऽमनन्ति
 प्रतिपादयन्ति, तर्पसि सर्वोक्ति च यद्देवन्ति यत्प्राप्त्यर्थानीत्यर्थः । यदि-
 च्छक्तो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासलक्षणमन्त्रद्वाराऽपि प्राप्त्यर्थं चरन्ति तत्ते तुभ्यं
 पदं यत्प्राप्तुमिच्छसि संग्रहेण संक्षेपतो ब्रवीमि, श्रोतव्येतत् । तदेतत्पदं यद्
 बुभुत्सि त्वया । यदेतदो निरर्थोऽशब्दवाच्यसोऽशब्दप्रतीकं च ॥ आनन्दगिरि

प्रकार उठर कर हृदयमें छिप जानेवाले दरिद्रजनो के समोरयके समानही यह
 क्षीपकी सब व्यवस्था अपने बचाव का मार्ग न देखती हुई, सम्मुख आये
 आल को देख भयभीत तथा संकुचित कुररी पक्षी के समान ही विलीनप्राय
 है । इस विषय में अधिक क्या कहें । यह हमने दिग्दर्शन मात्र लिख दिया है
 धूर्धरपर विरोध से परिपूर्णा इनके प्रत्येक पदको विद्वान् लोग स्वयं जान लेंगे ।
 अथं काठ और मुग्धकोपनिषद् के पूर्वलिखित दोनो वाक्यों के भगवान् शङ्करा-
 चार्यकृत अर्थ को विद्वानों की सुगमता के लिये उद्धृत करते हैं । “यत्तत्प-
 श्यसि तद्देव” अर्थात् धर्माधर्मादि से पृथक् जिस को तुम देखते हो उसको
 कहो । इस प्रकार पूर्वोक्त मन्त्रके वाक्य से पूछते हुए नचिकेता से पूछी हुई
 वस्तु को और विशेषण से कहते हुए सृत्यु ने कहा कि- ‘सर्वे वेदा यत्पदं’
 सब वेद जिस पदका वारम्बार वर्णन करते हैं, सब तप और नियमादि भी
 जिसका कथन करते हैं अर्थात् उसी की प्राप्ति के लिए हैं, जिस पदकी इच्छा
 करते हुए गुरुकुल में रहने आदि ब्रह्मचर्य का यही नहीं किन्तु उस (ब्रह्म)
 की प्राप्ति के लिए अन्यान्य भी आचरण करते हैं उसे तैरे लिये जिसे कि
 तू जानना चाहता है संक्षेप से कहता हूँ कि यह ‘ओम्’ है । आनन्दगिरि
 और गोपालयतीन्द्र कृत दोनो टीकाओं के भागको भी यहाँ उपयोगी जान
 कर लिखते हैं । “सर्वे वेदा इति-उपनिषद् वेद के एकदेश ही हैं । इस हेतु
 से ज्ञानको साधन होनेके कारण उपनिषदों का साक्षाद् विनियोग किया है ।

गोपालयतीन्द्रधिरवितटीकाह्यभागोऽनुत्तरीगिरिकृत्तपोऽत्राभिलिख्यते । “सर्वे वेदाश्चित्तेवेदकदेशा उपनिषद्ः । अनेनोपनिषदां ज्ञानसाधनत्वेन सोऽत्राद्विनि-
युक्ता स्तपांसि तेषां कर्माणि शुद्धिद्वारेणावगतिसाधनानि” इत्यानन्द-
गिरिः । “उत्तरमदत्तारयति-एवमिति । विशेषणान्तरं” चेति । श्रीह्यारोपासन-
मित्यर्थः । सर्वे वेदा इति तदेकदेशा उपनिषद् उच्यन्ते तं त्वौपनिषदमित्यादि-
श्रुत्या साक्षात्ज्ञानसाधनत्वेन विनियुक्ताः । ” इति गोपालयतीन्द्रः ॥ “तत्रा-
परेति। तत्रकाऽपरेत्युच्यते । ऋग्वेदोयजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इत्येते चत्वारो वेदाः ॥
शिक्षाफलपोष्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमित्यङ्गानि षडेषाऽपरा विद्या ।
अपेदानीमित्यपराविद्योच्यते ययात्तद्दयमाशुविशेषणमक्षरमधिगम्यते प्राप्यते ।
अधिपूर्वस्यगमेः प्रायशः प्राप्त्यर्थत्वात् । नचपरप्राप्तेरवगमार्थस्य भेदोऽस्ति ।
अविद्याया अपायएवहि परप्राप्तिगोर्थान्तरम् । ननुऋग्वेदादि बाह्या तर्हि सा
कथंपराविद्या स्यान्मोक्षसाधनं च । ” यावेदाह्याः स्मृतया” इति हिस्मरन्ति ।

अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति है, यह इस में अर्थभेद नहीं है । इस में यह आशङ्का
आनन्दगिरिकृत अर्थ है ।— ‘सर्वे वेदाश्चित्तेवेदो का एक देश ही उपनिषद्
कहे जाते हैं । अर्थात् उपनिषद् वेद के एक देश ही हैं कौसाकि “तं त्वौपनि-
षदम्” अर्थात् उस उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म की । इत्यादि
श्रुति के कथन से साक्षाद् ज्ञान का साधन होने से उपनिषदों का ग्रहण किया
गया है ” यह गोपालयतीन्द्र कृत अर्थ है “ तत्रापरेति-उन दोनों में अपरा
विद्या कौनसी है, यह वर्णन करते हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और
अथर्ववेद ये चारों वेद । शिक्षा, (जिसमें वर्ण और स्वरों के उच्चारण
का प्रकार वर्णित है), कल्प (यथाविधि ननु उच्चारणपूर्वक जिस में कर्म-
कारण का विधान विहित है), व्याकरण—(शब्दशास्त्र), निरुक्त—(वहग्रन्थ
जिस में वैदिक शब्दों का निर्वचन है), छन्दः—(पिङ्गलादि छन्दः शास्त्र)
और ज्योतिष (जिसमें कि ग्रह आदि का विधान समवस्थित है) ये छः
वेद के अङ्ग अपरा विद्या कहलाती है । और वह परा विद्या है कि जिसके
द्वारा अविनाशी पर ब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति होती है । ‘अधिः उपसर्ग
पूर्वक ‘ गम्, धातु का बहुधा प्राप्ति अर्थ होता है अतः परप्राप्ति.....
.....प-स्पर कुछ भेद नहीं है । अविद्या का नाश ही पर
तपअर्थात् उन के कर्म शुद्धि के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति के साधन हैं ” यह

कुहृष्टित्वाग्निष्फलत्वाद्नादेयास्यात् । उपनिषदां च ऋग्वेदादिवाच्यात्वं स्यात् । ऋग्वेदादित्वेत्तु पृथक्करणस्यार्थकम् । अथकथं परेति, न, वेद्यद्विषयविज्ञानस्य विवक्षितत्वात् । उपनिषद्देद्याक्षरविषयं हि विज्ञाननिह पराविद्येति प्राधान्येन विवक्षितं नोपनिषच्छब्दराशिः । वेदशब्देन तु सर्वत्र शब्दराशि विवक्षितः । शब्दशयधिगमेपि यत्नान्तरान्तरेण गुर्वभिगमनादिलक्षणं वैराग्यं च नोक्ष-
राधिगमः सम्भवतीति पृथक्करणं ब्रह्मविद्यायाः पराविद्येति कथनं चेति ॥
अत्रोभयत्रापि प्रतिपन्नाप्रतिपन्नविचारचर्चा त्वस्माभिर्न विधीयते। विद्वांसो
त्रिवेदिनः स्वयमेवाधिगमिष्यन्ति । इदन्तवन्न वक्तव्यम्—यदि तु श्रुतौ ब्रह्मचर्य-
पदोपादानमुपलक्षणार्थतया प्रतिपादितं स्वानिभिस्तन्न युक्तिसहं प्रतीयते ।
यतोहि ब्रह्मचर्यपदेन वशिष्ठमैवान्न मकरणे उपपाद्यते, वशिष्ठवृद्धेन्द्रियनिग्रह-
एव सम्भवति, इन्द्रियनिग्रहश्च सतृणस्य विषयोपलिप्तस्य पुरुषस्यासम्भवो,
तथाचोपलक्षणप्राप्तस्य गृहस्थाश्रमादेर्न साक्षादुपयोगित्वसात्तन्नात्वे, विषय-

हीती है कि जब परा विद्या ऋग्वेदादि से वाच्या (बाहिर) है तब वह मोक्ष का साधन कैसे हो सकती है ? क्योंकि " जो स्मृतियों (धर्मशास्त्र) वेद से वाच्या हैं वे मानाशिक नहीं,, यह कथन स्पष्ट है । ऐसी दशा में वह (परा) निष्फल होने के कारण अयाच्या होगी और उपनिषदों को ऋग्वेदादि से बाहिर होने का दोष उपस्थित होगा । और यदि उन्हें ऋग्वेदादि से भिन्न न मानकर तत्स्वरूप ही समझा जाय तो उनका पृथक्करण अनर्थक है । इत्यादि कारण से पराविद्या मोक्षका साधन कैसे ? यह आशङ्का ठीक नहीं है क्योंकि यहां ज्ञातव्य विषय विज्ञान का विवक्षित है । उपनिषदोंके द्वारा जानने योग्य परब्रह्म विषय ही विज्ञान है, जो कि मुख्यतयापराविद्या का विषय है, अतएव परा विद्या यहां प्रधान रूप से विवक्षित है, उपनिषच्छब्दस्वरूप नहीं ऋग्वेदादि वेदों में यथास्थान सब विषयों का वर्णन है, परन्तु उपनिषदों में पर ब्रह्मका ही । अतएव ऋग्वेदादि वेदों की अपेक्षा उपनिषदों को ब्रह्म की प्राप्ति में अधिक उपयोगी जान उन्हें पराविद्यात्वेन कथन किया है, इस लिए उनके विषय में ऋग्वेदादि से वाच्या होने के रूप शङ्का को यहां आवश्यक प्राप्त नहीं है । वेद शब्द से सब जगह शब्द समूह विवक्षित है । शब्द समूह वेदके जानलेने परभी नदुःख केसमीप जाने और वैराग्य आदि दूसरे प्रयत्न के बिना ब्रह्मकी प्राप्ति सम्भव नहीं, इसलिए ऋग्वेदादिसे उपनिषदों का पृथक्करण और ब्रह्म-

वितृष्णस्यैव शमदमादिसाधनसम्पत्तिवतरतत्राधिकारात् । अतएव ब्रह्म-
विद्याप्राप्त्यर्थमागतानां गुरुसन्निधाविन्दूविरोचनादीना साहयायिकाश्च
ब्रह्मचर्यानुष्ठानं ब्रह्मविद्याङ्गतया श्रूयते । अतएव च देहाद्यति-
रिक्तात्मप्रतिपादनप्रकरणे “शरीरदाहेपातकाभावात्” इति गौतमीय-
सूत्रप्रवाह्यानावसरेभाष्यकृता वात्स्यायनेन मुनिना यद्येकदेहापाये
देहान्तरप्राप्तौ सम्बन्धोद्गीक्रियतेतदाकृतहानसकृताभ्यागमः प्रसज्येत । सति
तुसत्त्वोत्पादे सत्त्वनिरोधे चाकर्मनिमित्तं नचसर्गं प्राप्नोति । इति देहाद्य-
तिरिक्तान्दानङ्गीकर्तुं सतेदोषमुद्गाह्यं तत्रमुत्त्वर्थो ब्रह्मचर्यवाचोऽपिचस्या-
दित्यादिग्रन्थेनब्रह्मचर्यस्य प्रतिपादिता मुक्तिप्रयोगनताऽपि संगच्छतेअपिच
पातञ्जलशास्त्रे योगाङ्गतयाप्रतिपादितानां यनादीनां सध्मे यमान्तर्गतत्वेन
ब्रह्मचर्यस्यैव उपादानं कृतं न गृहस्पादे रितितत्रतत्र सुधीभिरालोचनीयमिति ।
किञ्चात्र वेदपदेन वेदैकदेशा उपनिषद् एव ग्राह्याः । तास्मानपि वेदान्तर्गतत्वा-

विद्या की'पराविद्या, इसनामसे कथनकिया है” । इनदोनों पक्षोंमें युक्तयुक्त
अथवा ग्राह्याग्राह्यके विचारकी चर्चा चलाना हमेंअभीष्ट नहीं है । विचार
शील विद्वज्जन स्वयमेव जानलेंगे । परन्तु यहां पर यह अवश्य ज्ञातव्य है
कि स्वाधीनीने इस श्रुति में ब्रह्मचर्यपद के ग्रहणका जो उपलक्षण रूप से
कथन किया है वहयुक्तियुक्त मतीतनहीं होता । क्योंकि इस प्रकरणमें ब्रह्मचर्य
पदसे वशित्व (वशमें रखना) ही कथन किया जाता है । वशित्व इन्द्रियदमन
ही होसकता है और इन्द्रियों का वशमें होना तृष्णा से दवेऔर विषयभोगोंमें
अंशेहुए पुरुषके लिए सर्वथा असम्भव है । और उपलक्षण से प्राप्त गृहस्थादि
आश्रम आत्मज्ञान में साक्षात् उपयोगी नहीं क्योंकिउस (आत्मज्ञान) मेंविषय
भोगों की तृष्णा के रहितऔर शमदमादि साधनवाले ही पुरुष का अधिकार
है । अतएव ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए गुरुके समीप आये हुए इन्द्र और
विरोचन की कथाओं में ब्रह्मचर्य का धारण करना ही ब्रह्म विद्या का अङ्ग
सुना जाता है । इस लिए आत्मा देह से भिन्न है, इसके प्रतिपादन के
प्रकरण में- “शरीरदाहे पातकाभावात्” अर्थात् शरीरके जलाने में जब कि
वह जीव रहित होजाता है कोई पातक नहीं । इस गौतमीय सूत्र कीव्याख्या
करते हुए वात्स्यायन मुनिने यदि एकशरीरकेनाश होजाने परदूसरे कीप्राप्ति
में जीव भेद अङ्गीकार किया जावे तो किये हुएका नाश और न किये कर्म

त् । अतएव 'तत्रापरा, इत्युक्त्वा ऋग्वेदोदेरेवापराविद्यात्वमुद्दिश्य अथपरेति पराविद्याप्रतिपादनायसरेण्यतस्य वेदस्य ग्रन्थान्तरस्य बोधादानमङ्गावैव' यथा तदन्तरमधिगम्यते, इत्युक्त्या ब्रह्मप्राप्तिसाधनभूताया एवपरा विद्यात्वमुद्दिष्टसूत्राच्च तत्र तत्र अग्नादिवेदेष्वेवप्रतिपादितास्तियोऽयं वेदेष्वध्यात्मनिरूपणपरोभागः स उपनिषद्भूष एव । तथाच यजुषां चत्वारिंशत्तमोऽध्याय- एवेशावास्योपनिषदिति सर्वत्र पोष्यम् । अतएवनिरुक्तं वैतकण्ठे भगवान् यास्कीोपि तास्त्रिविधा ऋचःपरोक्षकृताः मत्पक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च॥ इत्युक्त्वाः परोक्षकृताः मत्पक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठा अल्पश्राध्यात्मिकाः॥ इत्यनेनच ग्रन्थेनवेदान्तःपातिनामेव फेयास्त्रिनन्त्राणा मध्यात्मप्रतिपादकानामध्यात्मिकत्वमित्याह । स एवच वेदभानः साक्षात्कृतधर्मभिः परावरज्ञैर्महर्षिभिः सचित्य द्यार्द्रभावापन्नैः लोकोपकाराय उपनिषदात्मतथाव्यवस्थापित- इति । उपनिषत्स्वयं ब्रह्मात्मकगूढार्थप्रतिपादकत्वेन उपनिषोदन्त्यस्मिन्निति

की प्राप्ति के दोषका प्रसङ्ग आकाशे वा जीवकी उत्पत्ति त्तीरनाश हीने पर अकर्म के निमित्त जीवचरणा का प्रसंग प्राप्त होता है । सोइस प्रकार देहसे निम्न आत्मा को न मानने वालों के मतमें दोष दिखलाकर वहाँ सुक्तिका साधन ब्रह्मचर्य वासभी न हीगा, इत्यादि कथनसे ब्रह्मचर्य को सुकित की प्रयोजनता भी सिद्ध होनी है । और पतञ्जलि सुनिकृत योग शास्त्र में योग का अङ्ग होनेके कारण कथनकिये हुए यमादिकों में यमके अन्तर्गत ब्रह्मचर्य का हीग्रहण किया है न कि गृहस्थादि आश्रमका यह विद्वान् लोग वहाँ २ स्वयं देखलेगे । इसके अतिरिक्त यहाँ पर वेदपद से वेदके एकदेश उपनिषदों काही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि वे (उनिषद्) वेदके अन्तर्गत ही हैं इसी लिए 'तत्रापरा' अर्थात् उनमें अपरा विद्या यह है यह कहकर ऋग्वेदादि को ही अपरा विद्यां रूप से निर्देश करके अथपरा, अथ परा विद्या का वर्णन करते हैं, इस प्रकार परा विद्या का वर्णन करते समय वेदों में से किसी एक वेद का अथवा किसी गन्धका नाम न लेकर केवल 'किससे परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति होती है यह कहकर ब्रह्म प्राप्ति की साधन भूता कोही परा विद्या रूपसे कथन किया है, और वहउन २ ऋगादि वेदों में ही प्रतिपादन की हुई है वेदों में अध्यात्म के निरूपण करने वाला जो यह भाग है वह उपनिषद् रूपही है किन्तु यजुर्वेद का चालीसवा अध्याय ही

व्युत्पत्त्या वा ब्रह्मरूपमवेति । एवञ्च वेदानां विषयवत्तुम्हपि उपपन्नम्कारणक-
श्रुतेरर्थश्च सङ्गत इति सर्वै सुस्थमितिदिक् ॥ उक्तार्थ एव प्रमाणांतरं प्रति-
पिपादयिषन्नाह—अन्यच्चेति । तदेवमनाशान्तरं दर्शयति “तद्विष्णोः परम-
पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीश्च चक्षुरासतम्” । अस्याथमर्थः—यत् (विष्णोः)
व्यापकस्य परमेश्वरस्य (परमं) प्रकृतानन्दस्वरूपं (पदम्) पदनीयं सर्वोत्तमोपा-
यै र्मनुष्यैः प्रापणीयं मोक्षाख्यमस्ति सत् सूरयः विद्वांसः सदा सर्वेषु कालेषु पश्य-
न्ति कीदृशं तत् (आततं) आसन्नतात्तत् चिस्तत् यद्देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितम-
स्ति । अतः सर्वै सर्वत्र बहुपलभ्यते तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुरथात् । कस्यां किमिव ?
(दिवीश्चक्षुरासतम्) दिवि मार्तण्डप्रकाशे नेत्रदृष्टेर्व्यामिर्यथामवति । तथैव
तत्पदं ब्रह्मापि वर्तते नोक्षस्य च सर्वैस्मादधिकोत्कृष्टत्वात् । तदेव द्रष्टुं प्राप्नु-
मिच्छन्ति” । इति । तावद्दिग्मेवात्र विचार्यम् । कथमियं श्रुतिः “वेदानां
ब्रह्मणि तात्पर्यमित्यर्थप्रतिपादनेन प्रकृतोपयोगिनी स्यात् । नञ्च तादृशं

‘ईशावास्योपनिषद्’ है, इसी प्रकार सब उपनिषदों के विषय में ज्ञान लेना
चाहिए, अतएव ‘निरुक्त’ के देवतकाण्ड में भगवान् यस्क मुनि ने भी—“वे
ऋचायैः तीन प्रकार की हैं— परोक्षकृता, प्रत्यक्षकृता और आध्यात्मिकी ।”
यह कह कर “परोक्षकृत और प्रत्यक्षकृत मन्त्र बहुत हैं, आध्यात्मिक थोड़े
हैं” । इस वचन से वेदान्तगत ही आध्यात्म के प्रतिपादन करने वाले किन्हीं
मन्त्रों की आध्यात्मिक रूप से वर्णन किया है । वही वेद का भाग धर्मकी
संज्ञात् रूप से जानने वाले स्थूल सूक्ष्म के ज्ञानी और दयार्द्रचित्त सहर्षियों
ने लोकोपकारार्थं त्रिचार कर उपनिषद् रूप से व्यवस्थापित किया है । और
उगका उपनिषद्वत् ब्रह्मविषयक बृह अर्थ के प्रतिपादन से अथवा जिस के
द्वारा ब्रह्मके सनीय पहुँच जाय इस व्युत्पत्तिसे ब्रह्मरूप होनेके कारण ही है ।
सो इस प्रकार जानने से वेदों के चतुष्टय विषयों की और कठोपनिषद् के
मन्त्रार्थ की संगति ठीक २ बैठ जाती है । अपने इस उक्तार्थ की पुष्टि के
लिए स्वामी जी ने और प्रमाण देते हुए जो कथन किया है वे अपने सभी
प्रमाणान्तर को दिखलाते हैं—“अन्यच्च— और भी इस विषय में ऋग्वेद का
प्रमाण है कि (तद्विष्णुः) (विष्णुः) अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है उक्तका
(परमं) अत्यन्त उत्तम आनन्दस्वरूप (पदं) जो प्राप्त होने योग्य अर्थात्
जिसका नाम मोक्ष है उसको (सूरयः) विद्वान् लोग (सदा पश्यन्ति) सब

कश्चिदप्युपलभ्यते शब्दो येनोक्तार्थप्रतीतिः सम्भवेदिति (नापि च तथाऽर्थो-
 ध्वन्यते । अध्यात्मविद्वेषव तत्साक्षाद्ब्रह्माहितुं ज्ञाना इत्यत्रैव श्रुतेस्तात्पर्यात्
 इत्यहो प्रकरणाच्चत्वं त्रिकालदर्शिनां स्वामिनामिति । अप्य श्रुतेस्तत्तदर्थप्रतिपा-
 दनाद्योपर्यापितेषु तेषुतेषु पदेषु क्रमग्रामं 'आततम्' इति पदमुपस्थापयति
 'कीदृशं तत् (आततं) आत्मसन्तात्तत् विस्तृतं यद्देशकालवस्तुपरिच्छेदरहि-
 तनस्ति । अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात्" इति
 यदुच्यते तत्र ब्रूमः— देशकालवस्तिवत्यत्र 'वस्तु' इति पदं किं प्रयोजनमिति
 सर्वथापि निष्प्रयोजनमित्येवोत्तरम् । किञ्च 'आतत' इत्युक्ते क्षुत् इत्याकाङ्क्षा
 भावते, साच हेतुस्वरूपनिरूपण एव पर्यवसिता भवति । कारणकलेत्थरं च
 प्रकरणबलाद् देशकालपरिच्छेदराहित्यमेव । तथाच "देशाद्यपरिच्छन्तत्वा-
 त्तत्पदं ब्रह्म सर्वैः सर्वत्रोपलभ्यते" इत्येष एव वाच्यार्थः सम्पद्यते । उपलब्धि-
 प्रदान प्रत्यक्षात्मिका वास्यात्, प्रत्यक्षाद्यन्यतमरूपा वा ? नाद्यः—अतीन्द्रिय-

काल में देखते हैं वह कैसा है कि सब में व्याप्त होरहा है और उस में देश
 काल और वस्तु का भेद नहीं है अर्थात् उस देश में है इस देश में नहीं तथा
 उस काल में था इस काल में नहीं, उस वस्तु में है इस वस्तु में नहीं, इसी
 कारण से वह पद सब जगह में सबको प्राप्त होता है क्योंकि वह ब्रह्म सब
 दिक्काने परिपूर्ण है इस में यह दृष्टान्त है कि (दिवीच चक्षुराततम्) जैसे
 सूर्यका प्रकाश आवरणरहित आकाश में व्याप्त होता है और जैसे उस प्रकाश
 में नेत्रकी दृष्टि व्याप्त होती है इसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयं प्रकाश सर्वत्र
 व्याप्त हो रहा है उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है" ।
 प्रथम तो इस में यही विचारणीय है कि यह श्रुति 'वेदों का ब्रह्म में तात्पर्य
 है' इस अर्थ के प्रतिपादन से प्रकरणोपयोगिनी कैसे हो सकती है ? इस में
 कोई भी ऐसा पद देखने में नहीं आता जिस से उक्तार्थ का उपादान संभव
 हो और न उस प्रकार के अर्थ की इसमें ध्वनि है । अध्यात्मज्ञानी ही उस
 ब्रह्म का साक्षात् अवगाहन कर सकते हैं यही इस श्रुति का तात्पर्य है ।
 धन्य है त्रिकालदर्शी स्वामी जी के इस प्रकरणज्ञान को । और श्रुति के उत्तर
 अर्थ की प्रतिपादन करने के लिए उपस्थापित किये हुए उन २ पदों में क्रम
 प्राप्त 'आततम्' इस पदकी व्याख्या करते हुए स्वामी जी ने कहा है कि—
 "कीदृशं तत्० वह कैसा है, कि सब में व्याप्त होरहा है और उसमें देशकाल

त्वाद्ब्रह्मस्वरूपस्य । ननु बाह्येन्द्रियायाश्चत्वाद्दीन्द्रियत्वमस्तु मनसाऽऽन्तर-
 रेण तु तत्प्रत्यक्षं भवत्येवेति चेन् न । मनसोऽपि तद्द्रव्यहृष्टेऽशक्तत्वात् ।
 अतएव "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न द्विषो न विज्ञा-
 नीनः" इत्यादि श्रुतिशतप्रतिपादितीभयविधेन्द्रियाग्राह्यत्वमपि सङ्गच्छते ।
 केचित्त्वान्तरस्य मनस इन्द्रियत्वमेव तारतीत्याहुः । तथाच सर्वथाप्यतीन्द्रि-
 मेव ब्रह्म । न द्वितीयः । तथा सति नास्तिकाद्यभाव एव प्रकृष्टेत् । तथाहि-
 उपलब्धस्तरया अनुमितित्वाङ्गीकारे, व्याप्त्यादिज्ञानबलादेव सा स्यात् । कि-
 नारिपकाच साऽनुमितिरिति भवति जिज्ञासा । "अरित दृश्यमानजगद्विलक्षणं
 ब्रह्म, देशाद्यपरिच्छिन्नत्वादि"त्येष मूलोक्त एव हेतुः स्याद्यदि, तदा दूरा-
 पास्तमेव व्याप्तिलक्षाणादिकम्, तदभावे च कुतोऽनुमितिप्रत्याशा । इति सर्वं
 व्यानोहितमिव । वस्तुतस्तु कालाद्यपरिच्छिन्नत्वं ब्रह्मणः स्वरूपमेव । हेतुवन्तर-
 कथने तु मूलोक्तविरोध एवापद्येत । अत्रापि च हेतुसाध्ययोः कीदृशीर्ज्यं व्या-

और वस्तु का भेद नहीं है क्यों कि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है" इस
 विषय में हमें यह बताना है कि देश, काल और वस्तु यहाँ पर 'वस्तु' यह
 पद क्या प्रयोजन रखता है ? यह सर्वथा निष्प्रयोजन ही प्रतीत होता है,
 इसके अतिरिक्त आपने जो यह कहा है कि 'अतः' अर्थात् 'इससे' ऐसा कहने
 पर 'कुतः' अर्थात् 'किससे' यह आकांक्षा उत्पन्न होती है और वह (आकांक्षा)
 हेतु के स्वरूप निरूपण में ही चरितार्थ होती है । और हेतुस्वरूप प्रकरण
 बल से देश-काल के परिच्छेद से रहित ही है । तब ऐसी दशा में 'देशादि-
 के परिच्छेद अर्थात् इयत्ता आदि की अवधि से रहित होने के कारण वह
 ब्रह्म सबको सब जगह मिल सकता है" यही वाक्यार्थ संघटित होता है ।
 और यह तो कहिये कि ब्रह्म की उपलब्धि (प्राप्ति) यहाँ प्रत्यक्षरूपा है
 अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणाँ में से किसी अन्य प्रमाण स्वरूपा है ? यदि प्रत्यक्ष-
 रूपा कही तो इस लिये ठीक नहीं कि ब्रह्म का स्वरूप इन्द्रियजन्य ज्ञान से
 दूर है । इस में यदि यह कहो कि बाह्येन्द्रिय ज्ञान से ग्रहण न हो सकने के
 कारण ब्रह्म इन्द्रियों की पहुँच से दूर रहो सही पर भीतरी मन से तो उभ
 का प्रत्यक्ष होता ही है । यह कथन भी उचित नहीं, क्योंकि उसके ग्रहण में
 मनकी भी शक्ति नहीं है । अतएव— "न तत्र चक्षुः० अर्थात् उभ ब्रह्म में
 नेत्र नहीं जोसकता, बायी नहीं पहुँच सकती और न मनही पहुँच सकता

प्यव्यापकभावः इति न विदुषां मनसि निविशते । तदभावेपि तत्स्वीकारे सर्वज्ञानुमानप्रमाणभङ्गप्रसङ्गएव स्यादिति । दुर्जनतोपन्यायेनाभ्युपगम्याप्यानुमानिकं ज्ञानं न नास्तिकाद्यभावप्रसक्तौत्तः । तेषामपि व्याप्तिज्ञानादिना जायमानस्यानुमित्यात्मकस्य ज्ञानस्य स्रवादिति । अतएव न शाब्द-बोधोत्पत्तिका तदुपलब्धिः । सर्वैः सर्वत्र च तदुपलब्धौ मुक्तसंसारस्थयोः की विशेषा स्यात् ? किञ्च 'अताः' इ-युक्त्वापि पुनः 'तस्य ब्रह्म स्वरूपस्य विभुत्वात्' इत्युक्त्या बहुपाशिद्धयं प्रकटितमेव । तथाहि- हेत्वन्तरमिदं स्यात्, नवा ?

है, इसी लिए हम उसकी नहीं जानते और न विशेष कर जान सकते हैं" इत्यादि अनेक श्रुतिर्ये दोनों प्रकारकी इन्द्रियों से उसका ग्रहण न होसकना वर्णन करती हैं । किसी २ आचार्य वा मुनियों ने तो मनकी इन्द्रिय ही नहीं माना है । इत्यादि अनेक प्रकार से ब्रह्म इन्द्रियों की पहुँच से दूर है, यह निर्विवाद सिद्ध है । दूसरा पक्ष भी सचित नहीं है क्योंकि वैसा जाने वा मानने पर नास्तिकादि अभाव का प्रसङ्ग आयेगा । और उस उपलब्धि का अनुमानत्व अङ्गीकार करने में व्याप्ति आदि ज्ञान के बल से ही वह होगी और उस अनुमिति का स्वरूप क्या है फिर उसके विषय में यह जिज्ञासा होती है । 'देश-काल आदि से परिच्छिन्न न होने के कारण ब्रह्मदृश्यमान जगत् से विलक्षण है" यदि यह मूलोक्त ही हेतु होगा तो बस व्याप्ति-ज्ञानादिक दूरहुआ । और उसके अभावमें अनुमानके विषयमें फिर क्याआशा अधिक क्या, स्वामी जी का यह सब कथन अज्ञान विलसित ही है । वास्तव में तो कालादिसे अपरिच्छिन्नही ब्रह्मका स्वरूप है । दूसरा हेतु कथन करने में मूलोक्त से विरोध ही उपस्थित होगा । यहाँ पर भी हेतु और साध्य का यह कैसा व्याप्य और व्यापकभाव सम्बन्ध है ? किसी प्रकार भी यह विद्व-ज्जनों के लिए मनोरञ्जक नहीं है । उसका अभाव होते हुए भी स्वीकार कर लेने में सब जगह अनुमान प्रमाण के भङ्ग होने का प्रसङ्ग होगा । दुर्जन तीर्थ न्याय से आनुगानिक ज्ञानको स्वीकार कर लेने पर भी नास्तिकाद्यभाव के प्रसङ्ग वा आपत्ति से छुटकारा नहीं हो सकता । क्योंकि उनका भी व्याप्ति-ज्ञानादि से होने वाले अनुमान से ही ज्ञान होता है; इसी लिए शाब्दज्ञान से उस (ब्रह्म) की उपलब्धि (प्राप्ति) नहीं हो सकती । यदि सबको सब जगह उसकी प्राप्ति होनाय तो मुक्त और संसार के बन्धन में फँसे हुए

नचेत् पौनरुक्त्यतापद्यो । प्रथममपि प्रदं हेतुविशेषाःसमुच्चययोः ? ताद्यः
पूर्वोक्तस्वहेतुव्याघातापत्तेः । नहि यः— एतेनैवहेतुनासाध्यहेत्वन्तरकथन-
मधिकनामकं निग्रहस्यानन्वेव । यथा पर्वतो वनिहसान् भूनाशालीकादिति
हेतुद्वयप्रतिपादको वादी निग्रह्यत इति । किंहुना सर्ववापीदं व्याख्यान-
मुद्वारं निरर्थकं चेत्यरुचिकरमेव विदुषामित्यलं काकदन्तपरीक्षयति । प्रकृत-
मनुसराभः—'कस्यां किमिवेति, अत्रसादृश्यं, उपलब्धिर्वा, व्याप्तिर्वा ? यथा
चन्द्रवन्नमुखनित्यत्र चन्द्रगतारहादकत्वादिसादृश्यं मुखे प्रतिपाद्यते, इति
विशिष्टं मुखं चन्द्रश्च विशेषणं, तथा प्रकृतकथं स्यादिति । उभयञ्चैतत्प्रकरणा-
देवलयते । " अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात् ।
कस्यां किमिव ? (दिवीवचक्षुरात्तम्) इत्येतावान् हि तत्रत्योवाक्यसन्दर्भः । तथा
चाद्यपदाङ्गीकारे 'यथादिविस्तृतं च तदुपलभ्यते, तथासर्वैः विस्तृतं सर्वत्र
सर्वत्र उपलभ्यते' इत्येतेषां सम्पद्यते । तथाऽयं सम्भवति । इन्द्रियस्य चक्षुरादे-

मनुष्य में फिर से वही रहेगा और अतः, यह कहकर भी फिर तस्यब्रह्म-
स्वरूपस्य विभुत्वात्, इत्युक्त्यनन्वे स्वामी जीने अपनी सबही पाणिहृत्य प्रकट
कर दिया । यह 'तस्य, इत्यादि दूसरा हेतु होगा अथवा नहीं ? यदि नहीं
कहो तो पुनरुक्ति दोष आयेगा । पहले भी पक्ष में यह हेतु विकल्प है अथवा
समुच्चय ? पहला तो इसलिए ठीक नहीं कि पूर्वोक्त अपने हेतुके व्याघात
की आपत्ति आती है और दूसरा इसलिए नहीं कि एक ही हेतुसे साध्यके
विषय में दूसरा हेतु कथन करना—अधिक, नामक निग्रह (पराजय) स्थान-
आता है । जैसे 'पर्वत अग्निवाला है, धुवांसे और मकाशसे इस प्रकार इन दो
हेतुओंको कथन करता हुआ वादी निग्रहस्थान में पड़ जाता है, वही दशा यहां
श्रीस्वामीजी की सीसमक्ति ! बहुत क्या कहें सब प्रकार निरर्थक और विद्वानों के
लिए रुचिकर न होने से इस विषय को यहाँ छोड़, मकरण को आरम्भ करते
हैं— स्वामीजीने जो यह कहा है कि "कस्यां किमिव, यहाँ सादृश्य उपलब्धि
है अथवा व्याप्ति ? जैसे कि 'चन्द्रवन्नमुखम्, अर्थात् चन्द्रना केतुल्य मुख यहाँ
पर चन्द्रनाके अन्तर्गत जो आरहादकत्व आदि धर्म है उसका सादृश्य मुखमें
प्रतिपादन किया जाता है, इस-लिये 'मुख, विशेष्य और 'चन्द्र, विशेषण है-
जैसे इस प्रकरण में यह नियम क्यों कर घट सकेगा क्योंकि दोनों इस प्रकरण
से ही मिलते हैं । और वहाँ पर अतः सर्वैः यहांसे लेकर— 'दिवीव चक्षु-

रतीन्द्रियत्वात् । अन्यथा चक्षुरादिग्रहणायैन्द्रियान्तरत्वकल्पने तत्राप्यन्यत्र-
 आप्यन्यदित्यनवस्थापाताः । शास्त्रविरोधश्च । द्वितीयपक्षे यथादिविषय-
 द्वैतत्वं भवति तथा ब्रह्मापि सर्वत्र विस्तृत व्यापकमित्यर्थः, इत्येयोऽर्थः सम्पद्यते
 तथा चायमपि पक्षो नगरीयान्ताभाति । इन्द्रियस्य व्यापकत्वासम्भवात्
 व्यापकत्वमिह नूतं वावद्रव्यसंयोगित्वात्, नचादिन्द्रिये सम्भवति । मनः-
 परमाणुवादीनामपि प्रत्यक्षत्वापातात् । किञ्च एतदर्थक एवायं दृष्टान्तः सर्व-
 मते ब्रह्मणि समन्वेति नवा इति तु स्वयमेव सुखी भिरीक्षणीयमिति । व्यस्तुपूर्वापर-
 ग्रन्थालोचनयानैकतरापि विधाऽत्र समुल्लसतीति वदामः दिविभातं सह प्रकाशे
 नेत्रहृदं व्यापित्यर्था भवति । तथैव तत्पदं ब्रह्मापि वस्तुते मोक्षस्य सर्वस्मा-
 दपि कोटिगुणत्वात् । तदेव द्रष्टुं प्राप्नुमिच्छन्ति इत्येष एव तत्रत्यपूर्वा-
 परग्रन्थः अनेन वाक्यसदृशप्रकेन योर्थः प्रस्रवति, नास्मद्बुद्धिविषयः च इति
 अत्रैव विररूपते । प्रयत्नतां सुधियोऽप्यत्रार्थान्वेषणे नेत्रहृदं रित्यत्र दृष्टिपद-

राततम्, असद्वतना ही स्वान्नी जीकृत वाक्यसमूह है । तथात्र पहले (उपलब्धि)
 पक्षके स्वीकार में जैसे आकाश में विस्तृत अर्थात् व्याप्तनेत्र प्राप्त होता है,
 वैसेही सबजगह व्याप्त ब्रह्म सबको प्राप्त हो सकता है, यही अर्थ हो सकेगा
 पर यह अर्थ चक्षुआदि इन्द्रियों को इन्द्रियजन्यज्ञान से दूर होने के कारण
 संभव नहीं है नहीं तो चक्षुआदि इन्द्रियों के ग्रहणके लिए दूसरी इन्द्रिय की
 कल्पना करनी पड़ेगी, उसके लिए औरकी और फिर उसके ग्रहण के लिए अन्य
 तीसरे चीथे आदिकी । इसप्रकार व्यवस्थाठीक २ न बैठनेके कारण अनवस्था
 दोष और शास्त्रसे विरोध होगा । दूसरे पक्षमें "जैसे आकाश में चक्षु व्यापक
 होता है वैसेही ब्रह्मभी सबजगह व्यापक है" यही अर्थ होता है । परन्तु
 यह पक्षभी उत्तम प्रतीत नहीं होता क्योंकि इन्द्रिय में व्यापकत्व धर्मका
 अभाव है । व्यापकत्व धर्म उसी में होता है जिसका संसार की वास्तविक
 वस्तुओं के साथ संयोगही और वह इन्द्रियमें संभव नहीं । ऐसा माननेसे मन
 और परमाणु आदिकों के भी प्रत्यक्ष होनेकी आपत्ति उपस्थित होगी । और
 पूर्वोक्त अर्थ वाला यह दृष्टान्त सर्वव्यापक ब्रह्मके विषय में संघटित होता है
 या नहीं इसपर विद्वान् लोग स्वयं विचार करें, हमतो इस विषय में चही
 कहते हैं कि पूर्वापर ग्रन्थ की आलोचना से कोई प्रकार भी यहाँ सम्यक्
 रूपसे संघटित नहीं होता । "दिविभातं सह" यहाँ से तदेव द्रष्टुं प्राप्नुमिच्छन्ति

प्रयोजनं वाक्यार्थां चेषां निष्पत्तिः साकाङ्क्षत्वं सन्निवृत्तत्वं वा समाहितो भगवान्
 दयानन्द एव जानाति । तथाहि- 'नेत्रहृष्टेर्व्याप्तियथा भवति, तथैव तत्पदं
 ब्रह्मापिवर्तते' इति केयं वाक्यरचना ? अपूर्वोऽयं वाक्यसन्निवेशः किमिति
 न त्रपायितं एवंभूतान्यक्षराण्युपन्यसता भगवता दयानन्देन । सर्वथा व्यक्तवृद्धि-
 सम्भोहनसंभेदितदिति पश्यामः । कश्चायं " नोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वा-
 दिति " हेतूपन्यासः । कोऽस्यार्थः ? किं तात्पर्यम् ? कस्मिन्सत्ताद्ये चायं प्रयोगः ?
 कीदृशज्ञप्रकरणव्यवहारादायास्य सामर्थ्यम् । किमिदमर्थं वान्यत्रापि दीलायित-
 ततयो वराका वक्षिता एव दयनीया जिज्ञासव इति ? किमहूनापरकीपीनविचर-
 ष्येन, तच्छीर्षाव एवात्र सम्प्रतं श्रेयानिति प्रकृतमेवानुसर्षते । विदुषां प्रति-
 पत्तिशैक्याय तद्विष्णोरित्यादिकायाञ्चः सायणीयमतिभाष्यसन्निवेशः
 सनुदधियते " सूर्योविद्वासः ऋरिवनादयः विष्णोः सम्बन्धिपरमुत्कृष्टतच्छा-
 खप्रसिद्धं पदं स्वर्गस्थानं शास्त्रहृष्टया सर्वदा परयन्ति । तत्र हृष्टान्तः-

यहाँ तक सब यही वहाँ स्वामी जी कृत पूर्वापर वाक्य रचना है । सो इस
 वाक्य समूह से जो अर्थ निकलता है वह हमारी बुद्धि में नहीं समाता,
 इस लिए यहाँ इस विषय को छोड़ते हैं । अन्य विद्वान् लोग भी इस
 के अर्थ की खोज में यत्न करें । " नेत्रहृष्टेः " यहाँ पर 'हृष्टि' पद के
 प्रयोजन, इन वाक्यों की आपस में साकाङ्क्षता और इन के सन्न्वय-को
 सब भगवान् दयानन्द ही जानते हैं । यही नहीं किन्तु कुछ और भी
 पाठकगण स्वामी जी का रहस्य अवलोकन करें और उन से पूछें कि
 भगवन् । 'नेत्रहृष्टेर्व्याप्तियथा भवति, तथैव तत्पदं ब्रह्मापिवर्तते'
 यह क्या वाक्य रचना है ? यह तो अपूर्व एवं अतिविधित्र ही वाक्य
 विन्यास है । न मालूम इस प्रकार की वाक्य रचना करते हुए स्वामी दयानन्द
 जी को लज्जा क्यों न आई ? हम देखते हैं कि यह सब उन के बुद्धिभ्रम
 का ही विलास है । और यह भी देखिए " नोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्ट-
 त्वात् " इत्यादि अनाप सनाप हेतु देने का इन की यह व्यवसन कैसा पढ़
 गया है इस का अर्थ एवं तात्पर्य क्या है ? किस साध्य में आपने यह
 प्रयोग किया है ? और किस प्रकार के प्रकरणवत्त को लेकर इस का सामर्थ्य
 क्या है ? क्या इसी प्रकार अन्यत्र भी आप से ठगे हुए सरल प्रकृति जिज्ञासु
 जन दया करने योग्य नहीं है ? दूसरे के अधिक भेद डोलने से क्या लाभ

दिवीव आकाशे यथाप्रातलं सर्वतः प्रसृतं चक्षुर्निरोधाभावेन विशदंपश्यति तद्वत् " इति । अत्र युक्तायुक्तविचारचर्चा शास्त्रावलोकनपटुधियां विदुषामेव कृत्यनितिदिक् । सकलवेदस्येश्वर एव मुख्यः प्रतिपाद्यो विषय इत्यत्रार्थं यत्पुरपि किञ्चित्प्रमाणाभूत्साह— " यस्मान्न जातः " इत्यादि । अत्र मन्त्रे किं तत्पदं, येन वेदानानीश्वरएव मुख्यः प्रतिपाद्यो विषय इत्यर्थो लभ्येत । यद्यपि ब्रह्मणः सर्वो त्कृष्टतानुर्वजगत्प्रकाशकता सुष्टिस्थितिसंहारकारिता चेत्यादि लोकोत्तरगुणविशिष्टता प्रतिपाद्यते, तथापि नैतावता परेशएवपरमोऽथो वेदानानित्यर्थोऽधिगन्तुं शक्यते । तथाच सर्वथापि प्रकृतनिरुद्ध एवात्रैतन्मन्त्रनिवेशः । किञ्च वेदभाष्यावसरेऽन्यएवार्थोऽनिहितोऽत्रैव न्यएवेति विचित्रोऽयं चित्रव्यासोहः । तदुभयत्रप्रतिपादितोः शंखत्र तत्र स्वयमेव सुधीभिरवलोकनीय इतिदिक् ।

किन्तु इस विषय में अथ मौनावलम्बन ही अयस्कृत् है यह जान कर प्रकरण को ही अनुसरण करते हैं । विद्वानों को सुगमता से जानने के लिए 'तद्विष्णोः, इत्यादि ऋचाके साधणकृत भाष्यकी अन्तरशः व्योका त्यो उद्धृत करते हैं:- " ऋत्विगादि विद्वान् लोग विष्णु सम्बन्धिअत्यन्तउत्कृष्ट अर्थात् अत्युत्तम और शास्त्रोंमें प्रसिद्धसंस्वर्गस्थानको शास्त्रकी दृष्टिसे सर्वदा क्षवलो-कनकरतेहैं । उसमें यहदृष्टान्तहै कि जैसे आकाशमें फैला हुआ नेत्र किसी प्रकार की कोईकावट न होनेसे स्पष्ट रूपसे धस्तुको देखताहै, वैसेहीवे उस (स्वर्ग लोक) को ,, । यहां पर युक्तायुक्त के विचार की चर्चा करना शास्त्र विचार में निपुणसति विद्वानों का ही काम है, और अधिक क्या कहें । स्वामी जी ने 'सर्व वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ईश्वर ही है, जो यह कहा है और इसमें प्रमाणाके लिए यजुर्वेद का-- " यस्मान्नजातः " इत्यादि मन्त्र उद्धृत किया है तो उन से इस विषय में यह प्रष्टव्य है कि इस मन्त्र में यह कौन सा पद है कि जिससे वेदों का ईश्वर ही मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, यह अर्थ लब्ध हो सकेगा । यद्यपि ब्रह्म की सब से बड़ कर उच्चता, जगत् की प्रकाशित करना, संसार की रचना, पालना और संहार करना आदि दिव्य गुणों की विशिष्टता (उत्तमता) प्रतिपादन की जाती है तो भी इतने से वेदों का मुख्य विषय ईश्वर ही है, यह अर्थ प्राप्त नहीं हो सकता और इस अर्थ की पुष्टि के लिए इस मन्त्र का सन्निवेश भी

किञ्च नागद्वयोरपनियदप्यत्र प्रमाणात्वेनोपस्थापिता "ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपस्थापनम्" इति । अस्यायमर्थः—इति प्रतीकं दस्ताद्योपस्थितिः, तथाहि— "ओमित्येतदस्यनास्ति तदक्षरम् । यन्न ज्ञायते कदाचित् यच्चाक्षरं जगदश्नुते । व्याप्नोति तद्ब्रह्मैवास्तीति विद्विष्यत् अथैव सर्वैर्वेदादिभिः शास्त्रैः सधत्तेन जगतावोपगतं व्याख्यानं मुख्यतया क्रियतेऽस्ती ज्यं प्रधानविषयोऽस्तीत्यवधार्यम्" । आः—अविज्ञातमिदानीम्, योगिनां हि चराक्षरं कारामलकवज्जगदवभासत इति । अतएव सर्वथाऽनुकीर्णपिश्रुत्याऽयमर्थो-व्याख्यारीतिः सनातनी'ति प्रतिज्ञातार्थमनुल्लङ्घ्यैव स्वामिचरखरमिहितः । इयमेव पुरातनी व्याख्याशैलीति योगदृष्ट्या स्वामिचरैव कदाचित्साक्षात्कृता स्यात् ? बुधिय एवात्र विचारयन्तु— "ओमित्येतदक्षरमित्यत्र 'यस्यनास्ति' इति कुत आपादितम् ? नूले तु "ओम् इत्येतत्, अक्षरम्, इत्येवोच्यते, ओमित्येतस्य चाक्षरत्वं प्रतिपाद्यते । किञ्च 'यच्चराक्षरं जगदश्नुते,

यहां सर्वथा प्रकरणविरुद्ध है । पाठक गण ! स्वामीजी की एक विचित्र लीला और यह देखिए कि वेदभाष्य करते समय वहां पर इसका कुछ और अर्थ किया है और यहां कुछ और ही । यह इनके चित्त का कैसा विचित्र व्यापनोह है । दोनों जगह भिन्न २ प्रकार से किये इन के अर्थको निहृज्जन स्वयमेव ही वहां २ देख लेंगे, अतः इस विषय में अब हम विशेष क्या लिखें ?

स्वामीजी ने अपने इस विषयके प्रतिपादनार्थ 'नागद्वयोरपनिषद्' भी यहां प्रमाणात् रूप से स्थापित की है, यथा— "ओम् यह जिसका नाम है वह अक्षर जिसका कि क्षभी नाश नहीं होता और जो चराक्षर सब जगत् में व्यापक है वह ब्रह्म ही है, यह जानो । वेदादि सब शास्त्रों अथवा सब जगत् से उपगत इसका ही व्याख्यान-मुख्य रूप से किया जाता है अतः यही प्रधान विषय है यह तुम्हें जानना चाहिए" । ओं ही ! अब हमने जान लिया कि चराक्षर सब जगत् योगिजनों को हस्तामलकवत् भासने लगता है, इनी लिए श्रुति से सर्वथा कथन न किया हुआ भी यह अर्थ श्री स्वामी जी ने 'व्याख्यारीतिः सनातनी' अर्थात् सदा से जो व्याख्या रीति चली आती है तदनुसार ही हम व्याख्या करेंगे । अपने इस प्रतिज्ञात अर्थ को उल्लंघन न कर ही किया है । ठीक यही पुरानी व्याख्याशैली है, जिसे स्वामी जी भी सों भी योग-दृष्टि से ही जैसे जैसे जान सके होंगे । विद्वान् लोग तनिक इस पर विचार कर

इत्यादि, "अस्यैव सर्वैर्देवादिभिः शास्त्रैः सकलेन जगताया, इत्यादि च व्याख्यानं कृत उपलब्धं स्मार्तिभिः । सम्भाव्यते, कदाचित् " इदं सर्वं " इति पदचयस्यैव व्याख्याकृतः स्यात् । यतोहि पुरातनीयं व्याख्याकृतौ । अहो, पाण्डितं नः-दृष्टिनमत्र त्वारिभिः । व्याकृतितत्रै स्वरूपोऽपि यस्य प्रवेगं, सोऽपि नेतादृशमर्थं कथञ्चिदप्यभिधातुमुत्कृते । परमत्र नापेक्षते व्याकरण-शास्त्रनपि-निर्द्देशगुण्ये पथि विपरतां को विधिः को निषेधः" इति । तत्तु-यागिव्यतिरिक्तजनापेक्षमेव । यदि श्रुतेरस्या उत्तरोपिभागः स्वामिभिरवलोकितः स्वाचदानमन्ये न तादृशाद्यप्रतिपादने समुत्सर्गो भवेत् । नैतदपि विचारितं "इदं सर्वं" इत्यत्र कस्येदमा निर्देशः क्रियते । प्रकृतञ्चास्याः श्रुतेरपि तथाहि-अभिधेयस्याभिधानाभेदनवञ्चोपयन्तस्यैवाभिधानस्याद्यस्य इदं सर्वं सुपव्याख्यानं ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वाद् ब्रह्मसमीपतया विस्पष्टं व्याख्या-मित्यर्थः । किं तत्सर्वं कस्येदमानिर्देशः क्रियते ? तदेवाह- "सूतं भव्यं मन्विष्य-

देखें कि- "ओ नित्ये तदज्ञासू" यहां पर 'यस्य नामास्ति' यह कहाँ से ग्रहण किया है- क्योंकि जब मूल में तो 'ओम्, इत्येतत्, अक्षरम्" इतना ही पाठ पठित है और 'ओम्' इसका अक्षर जोना सिद्ध किया है तब न मालूम स्वामी जी ने कस्येत्यादि पाठ जो कि असंगत है, अपनी ओर से क्यों मिलाया ? और यही नहीं किन्तु 'यच्चाराचरमित्यादि पाठ और 'अस्यैव सर्वैः' इत्यादि व्याख्यान न जाने स्वामीजी ने कहाँसे प्राप्त किया । सम्भव है कदाचित् "इदं सर्वम्" इसी पदकी यह व्याख्या की हों क्योंकि यह सनातनी व्याख्यारीति ठहरी न । वाहं स्वामी जी ! धन्य हैं, यहाँ पर तो आपने अपना खूब पाण्डित्य दिखलाया । व्याकरणशास्त्र में जिसका थोड़ा भी प्रवेश होगा वह भी इस प्रकारके धर्म करनेका कभी सहाह न करेगा । पर यहाँतो व्याकरणशास्त्र की कुछ अपेक्षा ही नहीं है क्यों कि- "त्रिगुण (सश्व, रजः और तमः) के बन्धन से रहित मार्ग में विचरने वालों के लिए कर्तव्य और निषेध ही क्या है" व्याकरणदिशास्त्रनितिमादितविधि-निषेध के विचार की अपेक्षा तो योगियों के अतिरिक्त अन्य जनों के लिए है । यदि इन श्रुति का उत्तरभाग स्वामी जी का देखें- हुआ होता तो हम मानते हैं वैसा अर्थ करने में कदाचित् भी हमका उत्सर्ग न होता । इन्होंने तो यह भी नहीं विचार कि 'इदं सर्वं' यहाँ पर 'इदम्' शब्द से किसे का निर्देश किया जाता है और

दिति" इत्येतत्सर्वं तस्यैवोपव्याख्यानं प्रस्तुतं बोध्यमिति शेषः । ननु 'ओमि-
त्येतद्व्याख्यानः साक्षात् इति व्याख्या कृत्वा 'ओमिः' यनेन तदर्थभूतः परमात्मन
एव कुतो न चक्षते, तथाच तस्यैवाक्षरत्वं, तस्यैवचोपासनं युक्तमिति चेन्न ।
मूलभूतायां श्रुताद्यनुपदमेव "सर्वमोकार एवेति प्रतिपादनात् । यदि 'ओमि-
त्येतदक्षरमित्यत्र ओमिति पदेन परमात्माऽर्थो गृह्येत, तदा 'सर्वमोकार'
इत्यत्र ओमिति पदात्कारप्रत्ययः सर्वथापि व्याकृतितन्त्रव्याहृतः स्यात् ।
वर्णादेवकारप्रत्ययो भवतीत्यनुशासनबलात् । एवमपूर्वनिर्दिष्टं चातुर्यं स्वा-
भिर्ना-यदित्यतः कुतोऽपि कानिचित्पदानि समुद्भूतय स्वमनोबुद्धौ सद्भा-
वो व्याख्यानं स्वमतसिद्धये क्रियत इति । किञ्च 'उपव्याख्यानमिति पद-
स्यापि सनातनीं व्याख्यारीतिगुरुरीकृत्यैव व्याख्यानं विहितम् । तदनु 'अतो
ऽयं प्रधानविषयोऽस्तीत्यवधार्यम्' इत्येवमुपसंहरियते चापि । सचोपसंहारः-
दश दाडिमानि षड्रूपाः, अद्भुतम्, खफळठयचटतम्, इत्यादिपदनिर्देशमनु-

द्भुत श्रुति का अर्थ स्पष्ट है, यथा च-अभिधेय का अभिधान के साथ भेदा-
भाव जतलाता हुआ उसी अभिधान अक्षर का यह सब उपव्याख्यान है
अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति का उपाय होने के कारण ब्रह्म के सामीप्य से यह उसीका
विस्पष्ट व्याख्यान है । वह सब क्या है जिसका 'इदम्' से निर्देश किया
जाता है ? उसी को कहते हैं कि वह- "भूत, वर्तमान और भविष्यत्का"।
यह सब उसी का उपव्याख्यान है यह जानना चाहिए । अर्थात् इन तीनों
कालोंके अन्तर्गत कार्यरूप से जो विद्यमान है वह सब ओङ्कार ही है । यदि
इस विषय में कोई यह आशङ्का करे कि- 'ओम् यह जिसका नाम है' ऐसी
व्याख्या करे 'ओम्' इस पद से उस (ओम्) का अर्थभूत परमात्मा ही
वर्षों न ग्रहण किया जाय ? क्यों कि उसी का अक्षर होना और जलों की
उपासना करना उचित है । यह कथन वा शङ्का इस लिए टीका नहीं कि
मूलभूत श्रुति में पद २ पर "सब ओङ्कार ही है" यह कथन किया है । यदि
'ओमित्येतदक्षरम्' यहाँ पर 'ओम्' पदसे 'परमात्मा' यह अर्थ अभीष्ट होता
तो 'सर्वमोङ्कारः' यहाँ पर 'ओम्' इस पद से 'कार' प्रत्यय व्याकरणशास्त्र के
नियमानुसार सर्वथा निषिद्ध हो जाता, क्यों कि- 'वर्षों से ही 'कार' प्रत्यय
होता है' यह व्याकरणशास्त्र का उपदेश है । जो इस प्रकार स्वामी जी का
विचित्र ही चातुर्य है कि जहाँ तहाँ से कुछेक पदों को उद्भूत का अपने मन

अतोऽयमनित्यः शब्दोऽस्तीत्यवधार्यम्' इत्यादितुल्यतया सर्वथा निरर्थक एवेति । अपिचानैवार्थे किञ्चिद्बहुपोढूलकनाह-किञ्चनैवेति । "नैवप्रधानस्या-ग्रोऽप्रधानस्य ग्रहणं भवितुमर्हति" । अत्रहि "अग्रे" इति पदं शब्दानुवादात्प्रधानमेव । कञ्चार्यमभिधत्ते पदमिदम् । 'पूर्वकालावच्छेदेन ताप्रधाने कार्यसंप्रत्ययः इत्येवोऽर्थः ? इति 'प्रधानसम्मुखीनेऽप्रधाने न कार्यसंप्रत्यय इति सतः वाच्यतां समयोतीतः स्पष्टमन्त्रे भविष्यति' इत्यादाविव परकालावच्छेदेन नकार्यसंप्रत्यय इति ? आद्यशब्देनानभूत् पूर्वकालावच्छेदेन कार्यसंप्रत्ययो युगपत्तुस्यादेव । तस्मिन्नेव वेदानामोश्वर एव तात्पर्यमिति भवतिष्ठं विलीयते । द्वितीयकल्पेऽपि स एव दोषः । सम्मुखीनेऽप्रधानेनाभूत्कार्यं, समस्थिते तु स्यादेव । अन्त्यशब्दे सर्वथा शिरसि कुठारपातः । प्रधाने पूर्वं कार्यं भवतीति साधितुं प्रवृत्तेऽप्रधान एव तत्साधितम् । एवञ्च बालप्रयुक्तप्राक्यवत् निर्दिष्टमिह 'अग्रे' इतिपदमनभिज्ञतामेव विशदयति शास्त्र इति । 'एवमेवेति' ।

के अनुकूल स्वमत की सिद्धि के लिये अच्छी हो या खुरी कट टपाख्या करही देते हैं । और 'उपव्याख्यान' इस प्रदकी व्याख्या भी स्वासी जी ने सनातन व्याख्या रीति के अनुसार ही की है । क्योंकि उसके पश्चात् ही- 'इस लिए यह प्रधान विषय है ऐसा जानना चाहिए' यह उपसंहार भी किया है, पर वह उपसंहार, - 'दश अनार, छः पूत्रा, अइउण्, खफळठथषटतत्' इत्यादि पदों के निर्देश के पश्चात् ही अतः यह शब्द अनित्य है, ऐसा जानो' इत्यादि के तुल्य होने के कारण सर्वथा निरर्थक ही है । स्वासी जी ने अपने इसी अर्थ के निश्चय (तसदीक) कराने के लिए कुछ और भी कहा है— " नैवप्रधानस्याग्रो अर्थात् प्रधान के आगे अप्रधान का ग्रहण नहीं हुआ करता" । यहाँ 'अग्रे' यह पद-शब्दानुवाद मात्र ही है । यह पद यहाँ किस अर्थ को कथन करता है ? 'पूर्वकालावच्छेदे से अप्रधान में कार्य नहीं हुआ करता । यह अर्थ है, अथवा प्रधान के समुत्पत् होने वाले अप्रधान में कार्य नहीं होता यह है, यहाँ "कहिप, समय बीत गया, आगे चल कर साफ हो जायगा" इत्यादि समान परकालावच्छेद से कार्यग्रहण नहीं होता, यह अर्थ है ? इस पक्षत्रय में से यदि पहला मानो तो पूर्वकालावच्छेद की अपेक्षा से न सही । पर धर्म कालावच्छेद में तो होगा ही । और ऐसा होने पर 'वेदों का ईश्वर में ही तात्पर्य है' आपका यह अभिलषित रफूचकर हो जायगा ।

अत्रोभयस्यापि मुख्यपदस्य न दयं लिङ्गिदपि प्रयोजनं पश्यामः । आद्यं मुख्य-
पदं तदैव समप्रयोजनं स्यात्, यदावेदानां गौणोऽपि कश्चिद्दीश्वरोऽर्थोऽन्यः स्वी-
क्रियेत । यदुदधावृत्या च मुख्यपदमिदं प्रथो जनपदमुपलभेत । तात्पर्यस्य मुख्या-
मुख्यत्वतुनास्नाकं श्रुतचरमपि । तथाच वेदानामीश्वरार्थे तात्पर्यनस्तीत्येव
पर्याप्तम् । उपसंहरति अतस्तदिति । अयमुपसंहारग्रन्थस्तु स्यादेव विदुषां मनो-
विनोदाय, इति मन्ये । दीयतामत्रापि दृष्टिः कथमस्य पदसंभ्रं स्यन्ति योऽन्वित-
त्वम्, तदिष्टार्थाभिधायित्वञ्च ? तदुपदेशपुरस्सरैरेव, इति कस्य विशेषणम् ?
नक्तुं नैकमर्थो न प्रयोजनस्य नापि क्रियाया भवितुमर्हति । आद्यत्रयाणां भिन्न-
विभक्तिकरत्वेन समग्रवाभावात् क्रियाविशेषणत्वे तु क्लीवतीकषचनतोपस्यात्
असंख्यत्वेन च नञाकथेऽर्पयता । किञ्च 'कर्त्तव्यानां ज्ञानकारणानामनुष्ठानं'
सर्वैर्ननुष्यैः कृतं त्यस्य' इत्यत्रासंभ्रं वि काण्डानाननुष्ठानं कित्पुपदिश्यते
स्वानिनाः किमात्सकं च काण्डानाननुष्ठानम् । अनुष्ठानं हि क्रिया, नहि सा

दूसरेपक्षमें भी वही दोष है । प्रधानके सम्मुखीन अप्रधान पैसतही काय समान
स्थिति में तो हो जायगाही । यदि अन्तिम पक्ष मानो तोसर्व प्रकारेण शिर
पर कुठारपात है । 'प्रधानमें पहले कार्य' होता है, स्वामीजी सि करने चले
ये यह पर सब आगा पीछा मूलअप्रधान मेंहीवह सिद्धकर बैठे । सोइसप्रकार
बालप्रयुक्त वाक्यके समान यहां कथन किया हुआ 'अर्थ', यहपद शास्त्रमें आप
की अनभिज्ञता कीही प्रकटकरता है । एवमेवेति, -स्वामीजी ने जोयह कहा है
कि 'मुख्यार्थमुख्यतात्पर्यम्, यहाँपर दोनों हीमुख्य पदोंका इसकुछप्रयोजन
नहीं देखते । पहला मुख्यपद तत्रही समप्रयोजन हो सकता है जबकि वेदोंका
ईश्वर विषयक कोई और दूसरा गौण अर्थभी स्वीकार किया जाये । जिस
केनिवारण से यहमुख्य पद प्रयोजन उपलब्ध करसके तात्पर्य का मुख्या-
मुख्यत्व तो हमने पहलेकैसी सुझाभीनहीं । इसनिष्प्रयोजनवाक्य समूहकेस्थान
में स्वामीजीको बखइतना हीकहदेना पर्याप्त याकि- वेदोंका ईश्वर विषयक
अर्थमेंही तात्पर्य है, और आप 'अतस्तदिति' से उपसंहार भी करते हैं । पर
यह उपसंहार, इन मानते हैं कि विद्वानों के मनोविनोद के लिए काफी
नसाला होगा । यहां परभी दृष्टिप्रदान कीजिए कि इसपद रचना की आपस
मेंअन्वय और उस इष्टार्थ सम्पादन की संगति किस प्रकार संघित होसकती
है ? यदभी बतलाइए कि 'तदुपदेशपुरस्सरैरेव, यहकिसका विशेषण है ?

कारण विषयी करोति । प्रयोजनज्ञाननुष्ठानस्य पारमार्थिक व्यावहारिकफलसिद्धियथायोग्योपकारश्च प्रदर्शितम् ।

अत्रापारमार्थिकव्यावहारिकफलसिद्धिव्यतिरिक्तः कीदृशीऽयं यथायोग्योपकार इति नास्मद्बुद्धिगम्यः । किञ्चहुन - सुदूरविचारितोऽयमर्थ-सर्वथोच्छिन्ननूल एवप्रतिभातीतिप्रुधियोऽपि प्रतिवाच्यं मतिपदं चसूक्ष्मेक्षिकयोऽवलोकयन्तु कीदृशीयमर्थ इतिविज्ञाननिरूपणसनीचा ।

अथ वेदेषुद्वितीयोविषयः कर्मकारणकार्यः त सर्वःक्रियामयोस्ति । इत्येव नकर्मकारणं प्रतिपादयितुं मुपक्रमतेतत्र कर्मकारणस्य महत्त्वापादनायह नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञानेऽपिपूर्णा भवतः, कुतः ? वाच्यमानसव्यवहारयोर्वाच्यान्तरं युक्तत्वात्"इति । अपूर्वोऽयंन्यायप्रयुक्तः सर्वथाऽवनाकलितन्यायप्रयोगस्यैवान्प्रयोगः । एतेनकर्मकारणेन विनाविद्याभ्यासज्ञानेऽपिपूर्णा नभवतः इति किन्दिदं विद्याभ्यासज्ञानं त्वं यस्यकर्मकारणमन्तरा

यहती कर्ताकर्म प्रयोजन और क्रिया इनमें से किसी कारी नहीं ही सकता पहले तीनों (कर्ता कर्म करण) का सिद्धि २ विभक्ति होने से इसकी साथ कोई सम्बन्ध नहीं और क्रिया विशेषण मानने में नपुंसकत्व और एकत्व न होगा । किसी के साथ सम्बन्ध न होनेसे वाक्य में इसकी साथकता नहीं है कुछऔर भी स्वामी जीका रहस्य देखिए--कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनों कारणों का अनुष्ठान सब अनुष्यों को करना चाहिये न मालूम इस असम्भव कारणों के अनुष्ठान का स्वामी जी क्यों उपदेश देते हैं ? इन कारणों के अनुष्ठान का स्वरूप क्या है ? अनुष्ठान नाम क्रिया का है, यह कारण को विषयभूत नहीं करती । अनुष्ठानका प्रयोजन पारमार्थिक व्यवहार की फलसिद्धि और यथायोग्य उपकार कहा है ।

यहाँ पर पारमार्थिक और व्यावहारिक फलसिद्धि के अतिरिक्त यह कैसा यथायोग्य उपकार है यह हमारी बुद्धिमें नहीं आता । अधिक क्या कहे बहुत प्रकार एवं सूक्ष्मदृष्टि द्वारा विचारा हुआ भी यह अपनेसर्वथा निमूल की प्रतीत होता है । विद्वान् लोगभी इसकी प्रत्येक पदऔर वाक्य की सूक्ष्म दृष्टि से विचार और देखें कि यहकिस प्रकार का अर्थ है यहस्वामी जी के विज्ञान निरूपणकी समीक्षा पूर्णहुई । अब कुछआगेऔर भीअवलोकनकीजिए "उनमें से दूसरा कर्मकारण विषय है जो सब क्रिया प्रधान ही होता

पूर्तिर्न सम्भवति । विद्यापदं ज्ञानमात्रपरं गुणानापरं वा ? नाद्यः ज्ञानमात्र-
परत्वे साक्षाद्भैव पठितं ज्ञानपदं सर्वथाप्यनर्थकमेव स्यात् । नान्त्य-स्त्वास्ति
भवतीव प्रतिपादितस्याग्निहोत्रमारभ्याश्रवमेधान्तकर्मकाण्डस्य क्रिया यस्यो-
पासनाया नुपयोगः ? अपिच किप्रयोजनमालम्ब्य विद्याभ्यासज्ञानधरेव कर्म-
काण्डपूरकत्वमुपदर्शितम् ? किंच विद्याभ्यासज्ञानपूर्णात्वं साध्यं कृत्वा यदिदं
'वाच्यमानसव्यवहारयोर्वाच्याभ्यन्तरे युक्तत्वात्' इति पदकदम्बकहेतुकरोपि ।
तत्र कीदृशः पारस्परिको व्याप्यव्यापकभाव इतिनाद्यापि विद्वद्भिरवगाहितम् ।
हेसासाधकतापक्षधर्मतावाग्भवश्रवकी नवेतिसर्वथाप्येतन्न्यायप्रयोक्त्रोपेक्षितमेव ।
कथमयं हेतुः साध्यविद्याभ्यासज्ञानपूर्णात्वं साधयतीति क्षुधिय पृथावधारयन्तु ।
एवंच बालाद्युत्प्रेक्षितनियसर्वनिदिनिति भर्माडम्बरं शिखण्डिनं विधाय यथेच्छ-
नभिलपता स्वयमनवयुध्यमानं जगद्भवञ्चितमेवेति ॥ कर्मकाण्डस्य भेदानभि-
धातुमाह— 'सचानेकविधोऽस्ति । परन्तु तस्यापि खलु द्वैभेदौ मुख्यौश्चता' ।

हे ,, । इस प्रकार स्वामी जी ने कर्मकाण्ड का प्रतिपादन आरम्भ किया है
और उसका महत्त्व दिखलाने के लिए—'जिसके बिना विद्याभ्यास और ज्ञान
पूर्ण नहीं हो सकते क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के
व्यवहार में सदा रहता है ,, । यह हेतु प्रदर्शित किया है । स्वामी जी ने
यह अपूर्व ही न्याय प्रयुक्त किया है क्योंकि यह प्रयोग न्याय की शैली
से सर्वथा असङ्गत है । आपने जो यह कहा है कि—' जिसके बिना विद्या-
भ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं होते , यह कौन सा वा कौसा विद्याभ्यास का
ज्ञान है कि जिसकी पूर्ति कर्मकाण्ड के बिना आप को असम्भव ज्ञान पड़ी ।
यहां पर ' विद्या , पद, ज्ञान मात्र परक है, अथवा उपासनापरक ? पहला
पक्ष इस लिए ठीक नहीं कि यदि विद्या पद को ज्ञानमात्रपरक मान
लिया जाय तो साक्षात् यहीं पर पढ़ा हुआ ' ज्ञान , पद सर्वथा अनर्थक
होगा । न अन्ततम (उपासनापरक) पक्ष ही ठीक है । आप ही के प्रति
पादन किये हुए अग्निहोत्रादि अश्रवमेप यत्र पर्यन्त कर्मकाण्ड की क्रिया-
को उपासना में उपयोग कहां है ? और यह तो कहिए कि आपने किस
प्रयोगन की लेकर विद्याभ्यास और ज्ञान को ही कर्मकाण्ड का पूर्ण
करने वाला कथन किया है ? और विद्याभ्यास तथा ज्ञान की पूर्णता को
साध्य बना कर 'वाच्य मानसव्यवहारयोर्वाच्याभ्यन्तरे युक्तत्वात्, अर्थात्

अहो सनातनी व्याख्यारीतिरियम् । अत्रतु शब्दोपशब्दश्च किं प्रयोजनीयविति-
नञ्जायते । कदाचित् स्वामिभि योग्यदृष्ट्यागतं किमप्यलौकिकं फलमुद्दिश्य
निर्दिष्टौस्याताम् । वस्तुतस्तु " सचानेकविधोऽस्ति, परं तत्र द्वौभेदौ मुख्यौ
स्तु " इत्येतावदेवपर्योक्तम् । तत्रैको भेदः " परमपुरुषार्थसिद्धयर्थोऽर्थाद्य
ईश्वरस्तु तिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं-
प्रवर्त्तते" इति उपदिशितः । अत्रैवं चिन्त्यते यदिदं 'प्रवर्त्तते' इति क्रियापदं
तस्य कः कर्त्ता ?, वाच्यनिर्दिष्टैरुपदोपासने एव तथाचैको भेदः प्रवर्त्तते
इत्यन्वयलाभे फलतः प्रवर्त्त विषयः ? मोक्षसिद्धिरिवेत्याह । एवंपैकोभेदः
सोक्षनेव साधयितुं प्रवर्त्तते, इतिवाक्यार्थलाभेन भेदस्य नोक्तमर्थकत्वं सिद्धम् ।
अथच अर्थादितिपदशिरस्कायाः " ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनध-
र्मानुष्ठानज्ञानेन" इत्यस्याः पङ्क्तेः कोर्यः ? इत्यन्तेऽप्युपमात्वात्तत्रानुपदिशित्ये-
कनभिसंरूप्यते ? - ईश्वरज्ञानंतरतुतिज्ञानंतरतुतिप्रार्थनाज्ञानं तदुपासनाज्ञानं तदा-

नन वा योग वाहर की मिथ्या और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है,
जो यह हेतुत्वेन आपने उपस्थापित किया है यहाँ आपस में कौसा व्याप्य
व्यापक भाव सम्बन्ध है । यह अब तक भी ठीक २ नहीं जाना जा सका ।
हेतु में साधकता एवं पक्षधर्मता का होना आवश्यक है आपका नहीं इस
विषय में न्याय प्रयोग प्रयोक्ता स्वामी जी ने सर्वथा उपेक्षा ही की है ।
यह हेतु विद्याभ्यास तथा ज्ञान के पूर्णत्व को जो कि साध्य है क्यों कर
विद्व कर्त्ता है यह विद्वान् लोग ही स्वयं विचारलें । बालादिकोंकी उपेक्षा
के समान ही यह सब धर्म का आच्छन्नरूप कर इच्छानुसार कथन करते
हुए स्वामी जी ने जगत् को बखाना ही की है । कर्मकाण्ड के भेदों को
कहते हुए आपने कहा है- " वह अनेक प्रकार का है परन्तु उप को दो
भेद मुख्य हैं, , । धन्य है स्वामी जी की रचना को ठीक है, यह आपकी
सनातन व्याख्यारीति है । न बालून स्वामी जी ने इस वाक्य में 'तु' और
'अपि' शब्द किम प्रयोजन से रक्खे हैं । कदाचित् योगबुद्धि से जाने हुए
किसी दिव्य मनके उद्देश्य से इनका निर्देश किया होमा । वास्तव में-
" सचानेकविधोऽस्ति, परं तत्र द्वौभेदौ मुख्यौस्तुः, ,, अथ, इतना ही कथन-
पर्योक्त है, उसमें ' तु, और ' अपि, सबथा निरर्थक हैं । उनमें से एक
भेद - एक परमार्थ अर्थात् जो परमपुरुषार्थ रूपकहा उसमें परमेश्वर की

ज्ञापालनज्ञानं धर्मज्ञानं तदनुष्ठानज्ञानं च तेन इत्यर्थः ? एत ईश्वरस्य ह्दहादौ
 श्रूयनाखत्वात्तस्यैव - प्रतिपदाभितरुञ्जयः ? तदा च ईश्वरस्तुतिस्तु प्रार्थना
 तदुपासना तदाज्ञापालनं तदनुष्ठानं तदज्ञानं चेत्यर्थः सम्भवति । उभयथा
 उपसन्नस्यैवैतत् - शास्त्रविरोधाननुगमस्वाश्रुपगमप्रसङ्गादीनामनुत्तरणीयत्व-
 प्रसक्तः । तृतीयार्थश्चात्र व्यापार एव सस्यते । तथाच ईश्वरज्ञानं व्यापारी-
 कृत्यभेदेन मोक्षसिद्धिरित्यहो दयानन्दस्य धारण्यम् । भेदस्यैवभीष्टं प्रत्यसा-
 धारणकारणत्वंश्रुवता स्वात्मिना - "तमेवविदित्वाऽतिसृष्ट्युमेति" 'अतज्ञानान्न
 मुक्तिः" इत्यादिनाश्रुतिस्मृतिप्रतिपादितोऽर्थः सर्वथाप्युपेक्षित एवेति स्पष्ट
 एवशास्त्रविरोधः । न च सत्स्तुतिप्रार्थनाज्ञाननाशं मोक्षसाधकत्वेन
 त्वयाभिसतमिति स्वस्यैवानुगमः, अश्रुपगमप्रसक्तिश्चेत्यादयो दोषा
 अप्रतिसमाधेया एवेति । अधिकं तु मुक्तिनिरूपणप्रकरणे प्रतिपादयिष्यामः ।
 द्वितीयभेदं दर्शयति - "अपरो लोकव्यवहारसिद्धये यो धर्मसाधकसाक्षी

(स्तुति) अर्थात् उसके सर्वशक्तिमत्त्वादि गुणों का कीर्तन, उपदेश और
 श्रवण करना (प्रार्थना) अर्थात् जिस करके ईश्वर से सहायता की इच्छा
 करनी (उपासना) अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न हो कर उसकी सत्य
 भाषणादि आज्ञा का यथावत् पालन करना, सो उपासना वेद और पातञ्जल
 योग शास्त्र की रीति से ही करनी चाहिये तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण
 है, न्यायाचारा उस को कहते हैं जो पक्षपात को छोड़ के सब प्रकार से सत्य
 का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना, इसी धर्म का जो ज्ञान और
 अनुष्ठान का यथावत् करना है सो ही कर्म काण्ड का प्रधान भाग है" । यह
 दिखलाया है । यहाँ यह विचारणीय है कि इस वाक्य में 'प्रवृत्ते' यह जो
 क्रियापद है इस का कर्ता कौन है ? वाक्य में कथित एक पद से ग्रहण किया
 हुआ क्या 'भेद' ही ? तब 'एको भेदः प्रवृत्ते' अर्थात् एक भेद प्रवृत्त होता
 है - ऐसा अन्वय होने पर उस प्रवृत्ति का विषय क्या है ? 'मोक्ष की सिद्धि'
 यह स्वामी जी ने कहा है । ऐसा मानने पर एक भेद मोक्ष ही को सिद्ध
 करने के लिए प्रवृत्त होता है । यह वाक्यार्थ होने से स्वामी जी के मत में मोक्ष
 का साधक भेद सिद्ध होता है । और यह तो कहिए कि 'अर्थात्' यह जिस
 का शीर्षक (हेतुिङ्ग) है उस - "ईश्वरस्तुतिप्रार्थनाज्ञापालनधर्मानु-
 ठानज्ञानेन" इस पंक्ति का अर्थ क्या है ? ह्दह समाप्त की अन्त में पठित

निर्वर्त्तयितुं संयोज्यते, दयानन्दनेतिशेष एव अत्र साधीयान् भाति ।
 नहितादृशं सामर्थ्यं प्राकृतग्रन्थेषु सम्भवि । यतीहि धर्मार्थकामैतत्त्रितय-
 सिद्धयात्र एवलोकोपवहारो नाथं कामनात्रंश तत्सिद्धिरिति । नच धर्मलौकार्य-
 कामसिद्धिरपि अभिचारयागादिना तत्सिद्धावपि स्वयंतस्थानर्थरूपत्वमेव ।
 अतएव तत्कलापुरुषः प्रायश्चित्तीयो भवति । एवमन्यदप्युहनीयम् । इत्थं
 देवलं द्वाविमी भेदो कर्मकाण्डस्येति व्युत्पादयता दयानन्देनाकाण्डे पारिडि-
 त्यं प्रकटितमिति । अयमपरो वैदुष्यप्रकाशः—“स यदा परमेश्वरस्यप्राप्तिमेव
 फलमुद्दिश्य क्रियते तदायं श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते” इति । अत्रैवं
 विचार्यते, कोऽयं प्राप्तिपदार्थ इति ? किं प्राप्तिः संयोगः ? उत ज्ञानम् ?
 आद्यश्चेत् स संयोग आत्मनएवैष्टव्यः तथाच परमात्मनो विभूत्वात् नित्य-
 एवाद्योभयोस्तत्संयोगस्यापि सनातनत्वे तत्फलोक्तिस्तु दयानन्दस्यैव शोभते ।
 फलं हि कार्यम्, संयोगस्य नित्यत्वं कार्यत्वञ्चेति व्याहृतम् । अन्त्यकत्पा-

होने के कारण ज्ञान शब्द का क्या प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है ? अर्थात्
 ईश्वर का ज्ञान, उस की स्तुति का ज्ञान, उस की प्रार्थना का ज्ञान, उस की
 उपासना का ज्ञान, उस की आज्ञा पालन का ज्ञान, धर्म का ज्ञान और उस
 के अनुष्ठान का ज्ञान, उस से । क्या यह अर्थ है ? अथवा हून् हूँ समास के
 आदि में श्रूयमाण 'ईश्वर' शब्द का ही प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है तब
 ईश्वर की स्तुति, ईश्वर की प्रार्थना, उस की उपासना, उस की आज्ञा का
 पालन, उस के धर्म का अनुष्ठान और उस का ज्ञान, यह अर्थ होना सम्भव
 है । कुछ भी हो, दोनों प्रकार से भी यह अर्थ असङ्गत है- शास्त्रविरोधादि
 प्रसङ्ग के कारण कुछ उत्तर न हो सकने से । और यहाँ तीसरा अर्थ व्यापार
 ही सम्भव है । ईश्वर के ज्ञान को व्यापार बनाकर अथवा वीक्ष में करके
 भेद से मोक्ष की सिद्धि होती है यह मानना इसविषयमें शोक है स्वाध्यायानन्द
 की श्री घुष्टता पर । भेद ही की मोक्ष परमि का मुख्य कारण बतलाते हुए
 स्वामी जी ने—“तमेवबिदित्वा” इत्यादि नाना श्रुतिप्रतिपादित अर्थ को
 छोड़ ही दिया । इस प्रकार स्पष्ट ही शास्त्र का विरोध है । और ईश्वर स्तुति
 प्रार्थना के ज्ञान मात्र की स्वयं स्वामी जी भी नहीं मानते यही “अननुगम”
 और और वादान्तर स्वीकारापत्ति दोष है । इत्यादि ऐसे दोष हैं जिन का
 कोई उत्तर नहीं हो सकता । विशेष, मुक्तिनिरूपण प्रकरण में लिखा जायगा ।

झीकारेऽपि परमेश्वरज्ञानस्य न फलत्वसिद्धिर्मुक्तिनिरूपणावसरे वक्ष्यामः । किञ्च फलोद्देशेन क्रियमाणास्य कर्मणाः कथं निष्कान्तत्वम् ? अत्रैव च हेतुमाह—
 “अस्य खल्वनन्तसुखेन योगात्” । अनन्तसुखयोगत्वे त्वदभिमता नुक्तेरावृत्ति-
 र्नाशः, इति स्पष्ट एव स्ववचनविधातः परमतप्रवेशश्च । एवं सचार्गिनहोत्रसार-
 भ्येत्यारभ्य सीधिकतया स्वसुखायैव भवतीत्यन्तोग्रन्थः, अग्निहोत्रादेश्वमे-
 धान्तवैदिककर्मणो वायुवृष्ट्यादिशुद्धिमात्रप्रयोजकत्वयैवोपयोगप्रतिपादकः,
 नीमांसादिनिरूपितार्थविरोध्यर्थकः अर्थोऽर्थिभिः सर्वथाऽपिहेयः । उक्तार्थ-
 दाह्याय सीमांसाप्रमाणमाह—“द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थत्वा-
 त्फलश्रुतिरर्थत्वाद् स्यात्” अ०४ पा०३ सू० १ ॥ “द्रव्याणां तु क्रियाधार्मात् संस्कारः
 क्रतुधर्मः स्यात्” अ०४ पा० २ सू० ॥ सूत्रयोरनयोरर्थप्रतिपादनेन परिहृतमन-
 न्यस्यास्य दयानन्दस्य पाण्डित्यं चापु विशदीभवति तथाहि—“अनयोरर्थः—
 द्रव्यं संस्कारः कर्म च तत्र त्रयं यज्ञकर्त्रा कर्तव्यम् ।” “द्रव्यसंस्कारः कर्मसु” इति

द्वितीय भेद की स्वामी जी बतलाते हैं “अपरीलोके” इति । “अर्थात् दूसरा लोकव्यवहार सिद्धि के लिये जो धर्म मात्र से अर्थ कानों को सिद्ध करने के लिये संयुक्त किया जाता है” यहाँ इस संस्कृत में “दयानन्देन” ऐसा शेष है—यह मालूम होता है । वैसे साधारण आचारण जनों में असम्भव है । क्योंकि धर्म, अर्थ, काम, इन तीनों के सहारेसेही लोकव्यवहार चलता है । केवल अर्थ, काम से नहीं । धर्म मात्र से अर्थ कानकी सिद्धि नहीं होती किन्तु अभिचारयोगादि से भी अर्थ सिद्धि होती है और अभिचारयोगादि धर्म में परिगणित नहीं । इसी लिये अभिचारयज्ञ (हिसार्थक यज्ञ) का कर्ता प्रायश्चित्त के योग्य होता है । इसी तरह अन्यवाते भी कल्पनीय हैं । पूर्वोक्तेरीति से कर्म का यह क्रोधी भेद बतलाकर स्वामी जी ने अकारणतासहव किया है । अस्तु । अब दूसरी पण्डिताई देखिये—“सद्यदेत्यादि”, “जब वह परमेश्वर की प्राप्ति रूप फलके सद्दृश्यसेही किया जाता है तब वह श्रेष्ठफलसेयुक्त होकर निष्काम संज्ञा कोलाभ करता है” यहाँ पर विचार कीजिये प्राप्ति, पदार्थ क्या है ? संयोग है या ज्ञान ? यदि पूर्व पक्ष माना जाय अर्थात् संयोगमाना जाय तो वह आत्मा का ही मानना होगा । तब परमात्मा को जिन होने से और जीवात्मा परमात्मा दोनों को नित्य

सूत्रगतपदस्य द्रव्यसंस्कारः कर्मवैतत्त्वयं चन्द्रत्रां कर्तव्यमित्यगर्षोऽश्लिनापिकर्तुं नशक्येत । कुतश्चात्रापं विधिभूषणव्यः स्वासिना ? सप्तदशर्षस्तु सर्वलोपं जित एव । ननेत्रलंघनपर्योऽपितु शास्त्रनयादीवोपेक्षिता, स्वजीवननपश्यन्ती दूरपराहताएव । अहो महदाश्चयं सदीहृशानामपि विदुषां अहापुरुषाणां दुर्निवारं व्यसनीपनिपातः । ननकंचन स्पृशन्ति सर्वेया सत्यं च नार्थं बुद्धि-विकाराः । नन्वनयैव योगिबुद्ध्या प्रेरितेन, वेदभाष्यसकारि । भुवनभास्कर-स्य भगवतः शङ्कराचार्यस्य च नास्तिस्तवनाप्रादि ? किं बहुना, भूयोऽपि प्रकृतनवलीक्यतासु- 'द्रव्याणिपूर्वोक्तानि चतुःसंख्याकानि सुगन्धादिगुणयुक्तान्येव यहीत्यां तेषां परस्परमुत्तमोत्तमगुणसम्पादनार्थं संस्कारः कर्तव्यः ॥ । अतुः संरुपाकानि सुगन्धिनिष्ठपुष्टरोगनाशकगुणै युक्तान्येव द्रव्याणि पूर्वमुक्तानि, तेषां नुत्तमोत्तमगुणसम्पादनार्थं परस्परं संस्कारः कर्तव्यः, इत्यर्थो भूमिकायाः । अत्र वदन्मः 'सुगन्धादिगुणयुक्तानि भवतैव हि तानिद्रव्या-

होने से उन दोनों का संयोग भी नित्यही मानना पड़ेगा । और नित्य-पदार्थ को फलरूपकहना असंगत है । क्योंकि फल-कार्यहोता है । संयोग, नित्यभी हो और कार्यभी-यह विरुद्ध बात है । यदि प्राप्ति-पदार्थ ज्ञान मानलिया जाय, तो परमेश्वर का ज्ञान फलरूप नहीं ही सकता-यह बात सुकृतनिरूपणावसर में कहेंगे । और जो फलोद्देशसे कर्त किया जाता है-उसे निष्कास कैसे कह सकते हैं । इसी विषय में स्वामी जी ने हेतु लिखा है "इस का अनन्तसुख के साथ योग होने से" । इस हेतु को लिखते-तु दे स्वामी जी यह भूल गये कि मेरी मानी हुई नुकित से पुनरावृत्ति नष्ट होजायगी । यही अपने वचनों का व्याघात कहलाता है, ऐसा मानने से दूसरों के मतमें प्रवेशकरना दोषभी है । इन सब बातों से सिद्ध है कि "लवाग्निहोत्रेत्यादि स्वसुखाद्यैव भवति, इत्यन्त ग्रन्थ, जो सब वैदिककर्मों को वायुहृष्टि आदि का शोधक मात्र बताता है, और मीनांसादि से विरुद्ध है, वह धर्मजिज्ञासुओं को छोड़ देना चाहिये । अपने अर्थकी दृढता के लिये पूर्व सीमांसाके दो सूत्र-दिष्टे हैं जिनके रखने से परिहर्तव्यनय दयानन्द का परिहृत्य कुछ प्रकाशित होरहा है । अर्थ आपने किया है कि "द्रव्य, संस्कार, कर्म, ये तीनों यज्ञ कर्तों को करने चाहिये", सूत्र में जो 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु,

यमिदितानि, पुनस्तेषां कीदृगिदम् सन्नोत्तनगुणसम्पादनम् ? उक्तद्वयस्यैव गुणत्वं सम्पाद्यते । अर्थं न, यतोऽपि किञ्चिदुत्तमार्थं सर्वशक्तिगतत्वानां योगिनाम् । " परस्परं संस्कारः " इत्यस्यार्थस्तु नाधिगतोऽस्माभिः । किमन्योऽन्यनपेक्ष्य कश्चित्संस्कारो विधीयते ? उक्तं त्रिषुः संनिश्रयात्मक एव संस्कारो भवतामिनतः । अथानानाद्रव्याणां त्रिधोयैल्लेने कश्चिदपूर्वस्तथाधीयते ? । कल्पमपि न सम्भवति, सर्वस्याप्यस्य शालो क्वाप्यमीमांस्यनान्त्वत्वात् । अथच सूत्रगतानि ज्ञानिप्रदानीत्यं व्याख्यायन्ते । ननु पूर्वोक्तस्य 'द्रव्य-संस्कारः कर्म चैतत्तत्र यश्चकर्त्ता कर्त्तव्यनिः सूत्रार्थस्य कर्म कर्त्तव्यमिती-तिरुत्तव्यताकाङ्क्षापामुत्थितायां उक्तानि चतुःसंख्याकानि सौरभादि-गुणयुक्तानि इत्यपि संस्कृत्य पूर्वं ततः कर्म कर्त्तव्यमित्यागादनेनतस्याः शून्यनिर्मुक्तप्रदानान्नयेयं व्याख्यायति चेत् ? अहोबहुपरिहित्वं दर्शितम् , नूनसर्वैव धुषितत्वादनभिधानाच्चास्य श्रेयोऽर्थात्तत्तन्मन्यमानं मति ते किन्तु

पद 'चो' का यह अर्थाभास अनर्थ है । सखी सपत्नी के जानने वाला साजक भी ऐसा अनर्थ नहीं कर सकता । यहाँ पर " विधि ,, स्वामी को कौसे ज्ञात हुई । सपत्नी का अर्थती सर्वथा ही छोड़ दिया । केवल सपत्न्यर्थ का ही तिरस्कार नहीं किया किन्तु शास्त्रनवादा को भी कुचलहाला । अष्टे आश्चर्य की बात है जो ऐसे महापुरुष और विद्वान् अटसंभ्रमहने में जरा नहीं झिचकिचाते । बुद्धि विचार, मनुष्य मात्र को खतराह चरते हैं ? क्या आपने इसी योगिबुद्धि से प्रेरिते लेखर वेद भाष्य करने की ठानी ? और अगद्भास्कर संग्राम्य शंकराचार्य को नास्तिक बताया । और स्वामी जी की आनेकी बात छुनिये । " पूर्वोक्त चार प्रकार के द्रव्यों (सुगन्धि, विष्ट, पुष्टि कारक, रोगनाशक) को ही लेकर उनमें उत्तमोत्तनगुण सम्पादन के लिये परस्पर संस्कार करना चाहिये " यह भूजिका ग्रन्थ है ।

इस पर हमारा यह बक्तव्य है कि पूर्वोक्तयगद्वय आपने ही सुगन्धादिगुण युक्त बताया है । फिर उनमें और उत्तमोत्तनगुण किसां संपादन कीजियेगा । या द्रव्य कीही गुण बना डालेंगे । योगियों की लिये सब कुछ सम्भव है । परस्पर संस्कारः ,, इसका क्या अर्थ होता है । सालिस नहीं । एक दूसरे की अपेक्षा से किसी संस्कार का विधान है । अपवाद

रन् ? किञ्च यदिदमनुपदमेव त्वया किञ्चिदुदाहरणं प्रादशि; तत्कस्मिन्नर्थे यमं वक्ष्यतीति ? उपक्रमेण तु भिषः संनिश्चयात्मकसंस्कारदाढ्यायैव तदुपा-
 दामभिति प्रतीकम्, उपसंहारप्रचपुनः " तथैव यज्ञाद्यो वाच्यो जायते,
 हत्यादिग्रन्थेन वाच्यादिशुद्धिद्वारा तत्सर्वेणेतः सुखकरमेति प्रयोजन-
 प्रतिपादकत्वयैव विहितः । एव नुपक्रमोपसंहारयोर्मिथीव्याहृतार्थनिरूपक-
 त्वाद् बालविकल्पभणनान्नमेवैतत्सर्वमित्यलसतिप्रसङ्गेनेति । "गन्धस्येदुत्पत्ति-
 सुसुरभिस्य" इति पाणिनीयानुशासनं त्वन्नप्रकरणे विस्मृतमेव दयानन्देन ।
 निरंशुशामर्हयः । न केवलं दयानन्दचमत्कृतिरत्रैवान्तर्भिता; अधुना इतोऽप्य-
 धिकं कौतुकमवलोकयतां तस्य विद्वद्भिः । उक्तार्थोऽपीदं कल्पनेतरयत्रास्मान्-
 वाक्यमाह- 'अतश्चोक्तमित्यादिना' । 'यज्ञोपितस्ये जनतायै कल्पते यत्रैवंविद्वा-
 न् होता भवतीति' । विद्यायत्नास्य चातुर्यम्- "यज्ञोऽपि, इति पदपूर्वशा-
 न्चित्तमपिपरत्र तदन्वयं विदधाति एवंविधप्रचपाठः ऐतरेयब्राह्मणे बहुत्र

परस्पर मिलना ही आप संस्कार समझते हैं ? अथवा अनेक द्रव्यों के मेलसे कोई अपूर्व उत्तम आहित होता है ? इन सब पदों में से कोई भी पद नहीं बन सकता, क्यों कि ऐसी तुच्छ बातों की शाख में सीमांता ही नहीं । सूत्र के कौन से पदों की ऐसी व्याख्या है ! यह तो बताइये ! यदि यह माना जाय कि " - पहले कहा जा चुका है कि द्रव्य, संस्कार, कर्म, ये तीनों यज्ञ-
 कर्ता को करने चाहिये- इस सूत्रार्थ में यह आकाङ्क्षा होती है कि कैसे करने चाहिये । इस आकाङ्क्षा को शान्त करने के लिये बतलाया कि चार प्रकार के द्रव्यों को सुगन्धादि गुण युक्त हों, संस्कृत करके फिर कर्म करना चाहिये । इस लिये सूत्रोक्त पदों की ही यह एक प्रकार की भावार्थ को लेकर व्याख्या की गई है ।

तब तो सद्गी-ग्रहण चाहिये कि आपने बहुत पसिखताई खर्च की । मूल सब की तो बियाह ही दिया, न किसी ने ऐसा बिलक्षण कथन किया । आप अष्टादि को मानते ही नहीं, आपसे प्रति उत्तर ही क्या हो सकता है । अष्टा, यह तो बताइये, यह जो आपने कुछ आगे चलकर उदाहरण बताया है- यह किस अर्थ में पर्यवसित होता है । प्रारम्भ में तो सालून होता है कि परस्पर मिलना-रूप संस्कार की दृढ़ता के लिये ही उसे प्रणय किया था फिर अन्त में वायु आदि की शुद्धि द्वारा जगत् का सुखकारी (यज्ञादि)

हश्यते । परं स्वामिभिर्द्वितीयाध्यायगत एवस्वग्रन्थे समुद्भूतः । तत्र स्ववैत्रापि 'यज्ञोऽपि, इतिपदस्य पूर्ववाक्येनैवान्वयः, अत्र च तत्रत्यश्वपूर्वापरब्राह्मणग्रन्थो विदुषां सौकर्यायाविकलमत्रोद्भिष्यते । पञ्चदेवता यज्ञतिपाङ्क्त्यां च प्राग् सर्वादिशः कल्पन्ते कल्पते यज्ञोऽपि, इति । तस्यैव जनतायै कल्पते यत्रैव विद्वान् होता भवति ॥ अ०२ । ख० १ । देवविशः कल्पयितव्या इत्याहुस्ताः कल्पमानां अनुमनुष्यविशः कल्पन्त इतिसर्वाविशः कल्पन्ते कल्पते यज्ञोऽपि, इति । तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैव विद्वान् होता भवति, ॥ अ०२ । ख० २ ॥ पाठविपर्यय एव महान् दीपस्तावत् । अपोऽपि विचार्यताम्—'जनानां नसूहो जनता तत्सुरायै व यज्ञो भवति यस्मिन् यज्ञे ऽनुनाप्रकारेण विद्वान् संस्कृतद्रव्योणात्मनीहोतं करोति, ॥ अत्र 'अमुना प्रकारेण, इति शोऽयं प्रकारोऽभिलक्षितः किं यथासू पादानीं संस्कारार्थं शुगन्धयुक्तं चत' चमसेत्' स्थाप्याग्नी प्रतप्य लघूने जाते सति तं सूपापात्रे प्रवेशय तन्मुखं बध्वा प्रचालयेच्च' इत्यादि हृष्टान्तपुररसरं शोऽयं प्रकारो भज-

होता है, यह बता दिया । इस प्रकार उपकरण और उपसंहार आपस परस्पर विद्ध हैं । इसी लिये यह लेख सब बालविलासनात्र है । स्वामीजी ने 'गन्ध स्पेडुत्पूति' इस पाणिनीयसूत्र को ली सुलाही दिया, सर्षिं निरंजुगहोति नी हैं । स्वामी जीका चमत्कार इतने में ही समाप्त नहीं होजाता । किन्तु इससे भी अधिक कौतुक विद्वान् लोग आगे देखें ।

इसी अथकी हड़ता के लिये एकएतरेय ब्राह्मणका पाक्य लिखनारा है—'यज्ञोऽपी' इति । इस वाक्य में आपने चतुराई दिखाई है— वह भी देखिये । उक्त वाक्य का 'यज्ञोऽपि' यह पद पूर्वके साथ अश्वित है परन्तु आपने अगले पदके साथ अन्वित कर दिया है । ऐसा पाठएतरेय ब्राह्मण में बहुतअग्रह आया है परन्तु स्वामी जीने द्वितीयाध्यायका पाठही अपने ग्रन्थ में उद्भूत किया है, वहां सबअग्रह 'यज्ञोऽपि, इस पदका पूर्वके साथही अन्वय है । यत् और वहां का अगला पिछला ब्राह्मण ग्रन्थविद्वानों को सहजमें जानने के लिये वहां सब उद्भूत किया गया है (मूलमें देखिये) । एकतो पाठको उल्टा रखना ही बड़ा दोष है, और, अर्थ ही विचारिये ! 'जनानां गित्यादि जनोके समूहका नाम जनता है उसके सुखके ही लिये यज्ञहोता है, जिसे यज्ञमें उस प्रकारसे विद्वान् संस्कृत द्रव्यों का अग्निमें होस करता है' । पर्या स्वामी जीसे पछना चाहिये कि 'उस प्रकारसे, क्या मतलब है—वही प्रकार निवेष्टापने

तामभिहितः, स एव उदात्तः कश्चिन्प्रकारः। यद्यन्यस्तर्हि कथमत्र अतश्चोक्तम्-
इति प्रतीकधरायां समुद्भूतांश्वपाठः। आद्यश्वेननभिःश्चिदस्माभिर्वैश्वदेव्यन्
समपाष्यणाणीयत्वात्सत्यत्रभवत्सामुदात्तस्येवास्तु, विज्ञां च संस्कृतद्रव्याणांमर्गो
होमं करोति० इत्यर्थः। कुत उपलब्धो भवता। सिंहीतृ पदेनैवैतदपराद्रुम्भूय-
ताम्-नाश्रहोतृपदमर्गो द्रव्यमत्रोत्तरं विधत्ते, अपितुकारकसमाह्वयद्वितीत्यैका-
व्ययोगालपाभूतां समारुयानादायुःकेवलं पूर्वमज्ञातार्थं प्रशंसन्तद्देवं प्रशंसति
अन्वयानोपपद्येत पाचनप्रदानय पचयति। तान्वायानय लक्ष्मिपतीतिलोक्तव्यवहारः
यतोऽहिनं तत्र तदानीं पाकादिभिरुत्सवं विधीयते। तदेव सारतरत्तकं च हृद्य-
त्वाद्नुपादेय एवावसर्षः। सायणीयन्त्वेतरेषु भाष्यं प्रकृतं विदुषां सुकरप्रतिपत्तये-
क्षरशोलिखयतेः-० तथोक्तं देवांगतां संख्यां प्रशंसति। पञ्चेतिः-पश्चाद्यादि-
त्यान्ताः। पञ्चदेवता यज्ञस्य पञ्चसंख्यायोगात्पाञ्चकत्वं बहुधा लक्षयते। इतो यज्ञे
देवताविधया पञ्चसंख्या युक्ता। दिशोऽपि प्राक्त्याद्यां च चर्द्यान्ताः। अतो देवता

दास्य मं घृण्डालने की विधि का हृष्टान्त देकर वतलाया है वा कोई भिन्न
यदि कोई भिन्न ही प्रकार है तौः अतश्चोक्तं प्रतीक को घरकर यह पाठ
व्यों उद्भूत किया। यदि वक्षी दास्यवाला प्रकार है तौ हमें लुब्धनइना ही नहीं,
क्यों कि वह तत्र अशास्त्रीय है। अशास्त्रीयवातों में आपका ज्ञानाव्यवहारा
रहे ॥ निरङ्क शतवात्ते तु यदस्य, ।

और यह तौ वतलाये ० संस्कृतद्रव्यों का अग्नि में होम करता है। इतना अर्थ
आपने कहां से निकाल लिया। क्या होतृपदने ही तौ यह अपराध नहीं किया
यहां का होतृपद वर्तमान में अग्निमें द्रव्यहालने वाले का बोधक नहीं है
किन्तु पाचकादिवत् क्रियाबोधकत्वं होनेसे पूर्व प्रकृतार्थ की प्रशंसा करता
हुवा उसको ज्ञानकी प्रशंसा करता है। जो से लोकार्थ यह व्यवहार होता है कि
पाचककी लेश्यायो पक्षावेग इत्यादि, देना ही यज्ञं व्यवहार है। अधिकव्या
कहें यह ग्रन्थ असारतर्कों से भरा हुआ है इसलिये सत्य या अनुपादेय है।
सायणाचार्य का ऐतरेयब्राह्मण - इसप्रकरण को विद्वानों को देखनेके लिये
अक्षरशः लिखा जाता है। तात्पर्यार्थ यह ही पूर्वदेवतागत पद्य संख्या
की प्रशंसा है फिर ज्ञानकी प्रशंसा की गई है किजिन याज्ञिकजन समुदायमें
होता अर्थात् देवताओं का ज्ञाता होता है, उसजनता में होता अपरोप्रयोजन
में समर्थ होता है, 'कल्पते, शब्दको, सुखार्थैव भवति' यह अर्थतौ दयानन्द

गतेपञ्चसंख्यया गताः सर्वादिशः कल्पमन्तिसमर्था भवन्ति । पूर्वमविज्ञाताः सत्योज्ञाता भवन्तीत्यर्थः । यज्ञोप्यनथा कल्पते स्वप्रयोजनसमर्थो भवति ॥ वेदनप्रशंसति । तस्या इतियत्र यस्याजनतायां याज्ञिकजनसमूहे होता प्रायणीय देवतानां वेदिताभवति तस्याजनतायास्यं होता स्वप्रयोजनसमर्थो भवति ॥ "कल्पते" इत्यस्य सुखायैवभवतीत्यर्थस्तु दयानन्दकोषे कल्पितेषु देवविषय इति " एवं सति देवेषु विशो वैश्यजातिरूपाः प्रजामरुदादयोयाः सन्तितता अस्मिन् यागे कल्पयितव्याः संपादयितव्या इत्येवं ब्रह्मवादिन आहुः । कल्पमानाः संपन्नास्ता देवविशोऽनुसृत्य मनुष्यविशोऽपि सद्गुणहास्तपथन्त इत्येवं दैव्यो मानुष्यश्च सर्वा विशो यजनानस्य संपद्यन्ते।तासु संपन्नासु द्रव्यलाभो-द्यज्ञोऽपि कल्पते स्वप्रयोजनसमर्थो भवति ॥ एतद्देदनं प्रशंसति । तस्या इति-पूर्वद्रव्याख्येषु " इति ॥ स्वामी दयानन्दस्तुत्वा र्थसमिधाय तत्रैव हेतुसमि-धास्यन् 'कुतः' इति प्रतीकं दत्त्वा मङ्गलसूत्रावयवमेवोदाहरण- " तस्य

का कपोल कल्पित ही है ।

ऐसा होने पर देवों में जो वैश्यजातिरूप प्रजा या मरुदादिक हैं, वे इस याग में कल्पनीय हैं-ऐसे ब्रह्मवादी लोग कहते हैं । कल्पित हुए उनदेव विशों का अनुसरण करके मनुष्य वैश्य भी उनके अनुग्रह से यज-मान की मिलजाते हैं । उन मनुष्य वैश्यों के मिलनेपर द्रव्य लाभ होने से यज्ञ भी अपने अपने प्रयोजन में सन्तर्प होता है । इसके ज्ञान की प्रशंसा है " तस्यै, इत्यादि ग्रन्थों में । व्याख्या पूर्ववत्साग लेनी चाहिये स्वामी की अपने अर्थ की कहकर उसमें हेतु देने हुए " कुतः, इस प्रतीक को देखकर प्रकृतसूत्रावयव का उदाहरण देने हैं " तस्य परा- र्थत्वात् " । और उसका अर्थ लिखते हैं कि " यज्ञ परीपकार केही लिये होता है इसी लिये फलका अवश, अर्षेवाद् अर्थात् अनर्थ निवृत्ति के लिये ही है " । शिव शिव । हरे हरे । यह सूत्रार्थ है ॥ व्याकरणशास्त्र शास्त्र में कुछ भी प्रवीणता रखने वाला क्या ऐसा अर्थ करने का उत्साह कर सकेगा ॥

द्वितीय सूत्र का अर्थभी विद्वान् लोग विश्वार- "उसी प्रकार से होतलिया- र्थक द्रव्य और पुरुषों का जो संस्कार होता है वइही क्रतुधर्म जाननी चाहिये, इस तरह यज्ञसे धर्म होता है अन्धथातही " ॥ वस्तुतः यह सब

तामभिहितः, स एव उवाच नमः कश्चिन्प्रकारः? यद्यन्यस्तर्हि कथमत्र अतश्चोक्तम्—
इति प्रतीकं धृत्वा समुद्धृतोऽयं पाठः । आद्यश्चेन्न किञ्चिदशनाभिर्विशेष्यस्य
सवधाप्यशास्त्रीयत्वात्सत्यतन्मवत्सामान्यमेवास्तु, विष्णुं शंस्कृतद्रव्याणां मन्त्री
हीनं करोति” इत्यर्थः कुत उपलब्धो भवति । किंहीतुं पदेनैवेतदपराद्धस्य श्रूय-
ताम्—शास्त्रहीतुपयमन्त्री द्रव्यमन्त्रे सारं विधत्ते, अपितुकारकसमाख्याद्वितीयेनैका-
एययोगात्तथाभूताः समाख्यानादायुःकेवलं पूर्वप्रकृतार्थं प्रशंसन्तद्देवमं प्रशंसति
अन्वधानीपपद्येत पाचकान्तय पद्यतिलावपधानय लक्षित्यतीतिलीकव्यवहारः
यतोहि तत्र तदानीं पाकादिप्रसक्तं त्वं विधीयते । तदेवमसारतरतकं स हृदय-
त्वाद्नुपादेय एवायमर्थः । सायणीयन्तैतरेय भाष्यं प्रकृतं विदुषां सुकरप्रतिपत्तये-
क्षरशीलिरूपतेः— तथोक्तं देवागतां संख्यां प्रशंसति । पञ्चेति—पञ्चाद्यादि-
त्यान्ताः पञ्चदेवता पञ्चस्य संख्यायोगात्पञ्चकत्वः कतुधालयतेऽतीयते
देवताविषया पञ्चसंख्या युक्ता । दिशोऽपि प्राच्याद्या कर्ध्वान्ताः । अतीदेवता

दाल में छुनडालने की विधि का दृष्टान्त देकर बतलाया है वा कोई भिन्न
यदि कोई भिन्न ही प्रकार है तब अतश्चोक्तं प्रतीक की चरकर यह पाठ
क्यों उद्धृत किया । यहिबही दालवाला प्रकार है तब हमें कुछ कहना ही नहीं,
क्यों कि वह सब अशास्त्रीय है । अशास्त्रीयवातों में आपका सामान्य बनना
रहे ॥ निरङ्क शतवात्त तु यदस्य ॥

और यह लौकतादये संस्कृतद्रव्यों का अग्नि में हीन करता है इतना अर्थ
आपने कहा से निकाल लिया । क्या हीतुपदने हीती यह अपराध नहीं किया
यहाँ का हीतुपद वर्तमान में अग्नि में द्रव्य डालने वाले का बोधक नहीं है
किन्तु पाचकादिवत् क्रियाशीलकर्म होनेसे पूर्व प्रकृतार्थ की प्रशंसा करता
हुवा उसके ज्ञानकी प्रशंसा करता है । जैसे लोकों यह व्यवहार होता है कि
पाचकको लेआओ पक्षावेग इत्यादि पैना ही प्रशंसा व्यवहार है । अधिकव्या
कहें यह ग्रन्थ प्रसारतर्कों से भरा हुआ है इसलिये सर्वथा अनुपादेय है ।
सायणाचार्य का ऐतरेयब्राह्मण — इसप्रकरणको विद्वानों को देखनेके लिये
आवरण लिखा जाता है । तात्पर्यार्थ यह है पूर्वदेवतागत पञ्च संख्या
की प्रशंसा है फिरज्ञानकी प्रशंसा की गई है किजिस याज्ञिकजन समुदायमें
होता अर्थात् देवताओं का ज्ञाता होता है, उसजनता में होता अपने प्रयोजन
में समर्थ होता है, 'रूपमते, शब्दको ॥ सुखायैव भवति ॥ यह अर्थतौदयानन्व

गतयज्ञसंख्यया गताः सर्वादिशः कल्पन्तेऽनर्था भवन्ति । पूर्वसंविज्ञाताः सत्योच्चाता भवन्तीत्यर्थः । यज्ञोप्यनर्था कल्पन्ते स्वप्रयोजनसमर्थो भवति ॥ वेदानप्रशंसति । तस्या इतिथत्र यस्यांजनतायां याज्ञिकजनसमूहे होता प्रायणीय देवतानां वेदिकाभवति तस्यांजनतायामर्थं होता स्वप्रयोजनसमर्थो भवति ॥ "कल्पते" इत्यस्मिन्सुखयैवभवतीत्यर्थस्तु दयानन्दकपोल कल्पितएव ॥ देवविग्र इति " एवं सति देवेषु विशो वैश्यजातिरूपाः प्रजाससदादयोयाः सन्तित्ता अस्मिन् यागे कल्पयितव्याः संपादयितव्या इत्येवं ब्रह्मवादिन आहुः । कल्पमानाः संपादास्ता देवविशोऽनुसृत्य मनुष्यविशोऽपि तदनुग्रहात्संपद्यन्त इत्येवं देव्यो मानुष्यश्च सर्वा विशो यजनानस्य संपद्यन्ते।तासु संपन्नासु द्रव्यलाभो-द्यज्ञोऽपि कल्पते स्वप्रयोजनसमर्थो भवति ॥ एतद्वेदानं प्रशंसति । तस्या इति-पूर्वदृष्ट्याख्येयम् " इति ॥ स्वामी दयानन्दस्तु स्वार्थमभिधाय तत्रैव हेतुसंभि-धास्यन् " कुतः " इति प्रतीकं दत्त्वा मङ्गतसूत्रावयवमेवोदाहर- " तस्य

का कपोल कल्पित ही है ।

ऐसा होने पर देवों में जो वैश्यजातिरूप प्रजा या नरदादिक हैं, वे इस याग में कल्पनीय हैं-ऐसे ब्रह्मवादी लोग कहते हैं । कल्पित हुए उनदेव विशों का अनुसरण करके मनुष्य वैश्य भी उनके अनुग्रह से यजनान को मिलाजाते हैं । उन मनुष्य वैश्यों के मिलनेपर द्रव्य लाभ होने से यज्ञ भी अपने अपने प्रयोजन में समर्थ होता है । इसके ज्ञान की प्रशंसा है " तस्ये, इत्यादि ग्रन्थ से । व्याख्या पूर्ववत्प्रथम लेखी चाहिये स्वामी की अपने अर्थ को कहकर उसमें हेतु देने हुए " कुतः " इस प्रतीक को देखकर मङ्गतसूत्रावयव का उदाहरण देने हैं " तस्य परार्थत्वात् " । और उसका अर्थ लिखते हैं कि " यज्ञ परीपकार केही लिये होता है इसी लिये फलका अवश, अर्थवाद अर्थात् अनर्थ निवृत्ति के लिये ही है " । शिव शिव । हरे हरे । यह सूत्रार्थ है ॥ व्याकरणसादि शास्त्र में कुछ भी प्रवीणता रखने वाला क्या ऐसा अर्थ करने का लसाह कर सकेगा ॥

द्वितीय सूत्र का अर्थभी विद्वान् लोग विचार- "उसी प्रकार से होलक्रिया-र्थक द्रव्य और पुरुषों का जो संस्कार होता है वइही क्रतुधर्म जानना चाहिये, इस तरह यज्ञसे धर्म होता है अन्यथा नहीं " ॥ अस्तुतः यह सब

परार्थत्वात् । यच्च परीपकारायैवभवति । अथ एव फलस्य श्रुतिः श्रावण-
नर्थत्वाद्गनर्थकारणाय भवति ॥ इति तस्यांश्चाह । अस्याहितम्, शान्तं पापम्,
आः कष्टम्, अनर्थमापतितम् । ईदृशोऽयमर्थः ? व्याकृतिप्रभृतिसन्त्र-
प्रवीणतां कथंचिद् भजनानोऽपि पुरुषो नैवंविधनर्थकत्वं नुत्सहेत् ॥ द्विती
सूत्रार्थोऽपि विचार्यतां चिद्भिः । “सथैव हीनक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषार्थाच्चय
संस्कारो भवति सध्वं क्रतुधर्मो बोध्यः । एयं क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते ॥
नान्यथेति ॥ वस्तुतः सर्वे निदं साइसनात्रपेव दयानन्दस्य । सूत्रार्थस्तु स्पष्ट-
एव क्रियार्थानां क्रिया प्रयोजनानां द्रव्याणांयः संस्कारो विधीयते न सपुरुषः
धर्मोऽपितु क्रतुधर्म एवेति । स एव क्रतुधर्मः, इति निर्धारणमत्र सूत्रे स्वामिभि
कुत्सपल्लवमिति न प्रतीकः । द्वयोरप्यनयोः सूत्रयोः श्रीप्रद्वंभगवत्पादश्रवण-
स्वामिचिरचितं भाष्यमपि विदुषां प्रतिपत्तिर्यौकर्यायां चरशः समुद्रिचिपतिः तथाहिः
“यस्यखादिरः स्तुवोभवति स जन्दसामेव रसेनावद्यति सरसां अस्य आहुतयो

दयानन्द का साहस नात्र है । त्रैमिनि सूत्रकाश्रयं तौ स्पष्टही है कि
क्रियार्थानां अर्थात् क्रिया प्रयोजनः द्रव्यां का जो संस्कार किया जाता है
वह पुरुषधर्म नहीं किन्तु यज्ञ धर्म है । “वह ही क्रतु धर्म है” ऐसा
निर्धारण इस सूत्रमें स्वामी जी ने कहां सेचुरोइ दिया, समझमें नहीं आता
इन दोनों का श्रवण स्वामिकृत भाष्य उद्भूत किये देते हैं—जिससे सूत्रों का
यथावत्, अर्थ विदित हो ।

द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थेवाद् स्यात् ॥

इस सूत्र का भाष्य के अनुसार संचिपत अर्थ यही है, कि नीमांसा
शास्त्रमें जहाँ कहीं द्रव्य विषयक फल सुनाजावे, जैसे, “यस्यपर्णमयी जुहुर्ध-
वति नसपापंश्लोकं शृणोति,, अर्थात् जिस यज्ञमान की जुहु (एक यज्ञ ई
पात्र) पलाय की खनी हुई होती है, वह पाप लोक को प्राप्त नहीं
होता । यहाँ पर ढाक से धने हुए जुहु रूप द्रव्य में पापलोक की अप्रपत्ति
रूप फल सुना जाता है । इसी प्रकार संस्कार में जहाँ फल सुनाजावे,
जैसे “यदाङ्गी सचुरेव मातृव्यस्य वंके,, अर्थात् जो यज्ञमान यज्ञ कालमें
आंखों में आंजन लगाता है, वह अपने दुश्मन की आंखों को खेदता है,
यहाँ पर आंखके आंजने रूप संस्कार में दुश्मन की आंख का खेदन
रूप फल सुनाजाता है, इसी प्रकार कर्म में भी जहाँ कहीं फल सुना

भवन्ति । यस्य परलंभयो जूहू भवति न न पापं श्लोकं शृणोतीति । यस्याश्च पत्नी
 उपपद्म भवति ब्रह्मणो वास्यान्न गवत्तन्धे । यस्य वैजङ्गुनी ध्रुवा भवति प्रत्येवोस्या
 दुःखयस्तिष्ठन्ति । अथो प्रैवजायते यः यैवंरूपाः कुवा भवन्ति । यवो यवैर्निरूपा-
 यिपशूतमुपतिष्ठन्ते , नास्य अपरूपमात्तन् जायते इति । तथा ज्योतिष्ठी भसं-
 स्कारे फलभ्रुतिः । यदाङ्के चक्षुरेध भ्रातृव्यस्य वृद्धे । तथा केचश्च श्रुतपत्नीदतो
 धावते नखानि निङ्गन्तति स्नाति, वृत्तावा एघात्वगमेधं वास्यैतदाः सनिश-
 नलं तदेवोपहते मेधपवमेधमेवमुपैति । कर्मेणि फलं ज्ञायते । अथीयूवाएतौ यज्ञ-
 स्य वदाचारौ, चक्षुपीवाएतौ यज्ञस्य यदाव्यभागी, यत् प्रयाजानुयाजा इज्य-
 न्ते, धर्मवाएतद् यज्ञस्य क्रियते, धर्मं यजमानस्य भ्रातृव्यस्याभिभूत्यै
 इति । अत्र सन्देहः । किलिमे फलविधयः ? उतार्थवादा ? इति । किं प्राप्तम् ?
 फलविधयः । प्रवृत्तिविशेषकरत्वात् फलविधेः । यथाखादिरं वीर्यकामस्य यूपं
 जुयात् पोलाशं ब्रह्मवर्चसकामस्य । वैश्वानराधिकामस्येति । यथेते फलविधयः ।

जाता है, जैसे- यत् प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते, धर्मवाएतद् यज्ञस्य क्रियते, धर्मं
 यजमानस्य भ्रातृव्यस्याभिभूत्यै" इति । अर्थात् जो यजमान प्रयाज और अनु-
 याज का यजन करता है, वह यज्ञ का कवच तैयार करता है, और वह कवच
 यजमान के दुश्मन के तिरस्कार के लिये होता है ! यहाँ पर प्रयाज अनुया-
 ज रूप कर्म में यजमान के दुश्मन का तिरस्कार रूप फल सुना जाता है ।
 अब यहाँ पर सन्देह यह होता है कि- द्रव्य में, संस्कार में, और कर्म में
 जो फल सुना जाता है वह सब फल विधि हैं, अथवा अर्थवाद हैं, उत्तर
 पक्ष यही है कि ये सब अर्थवाद हैं, फल विधि नहीं हैं । सूत्रकार ने ही उस में
 हेतु दिया है, 'परार्थत्वात्' । अर्थात् द्रव्यादि सब क्रतु के ही लिये हैं । अतः
 इनका स्वतन्त्र मुख्य फल कुछ नहीं हो सकता इसलिये इनमें जो फल
 सुना जाता है, वह सब अर्थवाद है ।

द्रव्याणां तु क्रिया र्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्
 अर्थः- ज्योतिष्ठीम प्रकार में कहा गया है कि- ब्राह्मण को पयोव्रत (व्रत
 के समय दूधका पीने वाला) राजन्य को (१) यवागूव्रत, तथा वैश्यको आभिज्ञा
 व्रत होना चाहिये । उस में यह सन्देह होता है कि यह पुरुष का धर्म है या
 क्रतु का धर्म ? ऐसा सन्देह होने पर पूर्व पक्ष वादी कहता है कि यद् पुरुष
 का ही धर्म है, यद्यपि यह बात ज्योतिष्ठीम क्रतु के प्रकारण में है और इसी
 मोट-यवागू-जौकी लक्ष्मी और आभिज्ञा कटे दूध की बसती है ।

एवमिहापिद्वन्द्वेषु । एवंप्राप्तेब्रूनः । फलार्थवादा इति । कुतः । परार्थत्वत् ।
 ऋत्वयान्येतानि । ब्रूः । प्रदानेगुरुभूता, उपभूद्गुणधारयो, सुखासाध्यधारयो अङ्ग-
 नवपनादि च यजमाने, आचारावाज्यभागी प्रयाजानुयाजाश्चाग्नेयादिषु । यदि
 फलेऽपिगुणभावः स्यात्, अन्यत्रोपदिष्टानामन्यत्र पुनर्गुणभाव उपदिष्ट इति
 प्रतिज्ञायेत । नचैतन्नव्याजेषु । परार्थलाहिगुणभावः । ऋत्वयंताक्षैपां शब्देन,
 युवा जुहांति, जुहाहोममभिनिर्वर्त्तयतीति । एवंचवत्र । तस्मान्नैतेपुरुषार्थाः
 ॥ अ० ४, पा० ३, सू० १ ॥

“ब्रूवार्थाहुक्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्” ॥ एयोतिष्ठोमेसलाननन्ति-
 पयोत्रतं ब्राह्मणस्य, यवाशूराजन्यस्य, आमिन्नावैश्यस्येति । तत्र सम्देहः ।
 किमयं पुरुषधर्मः, उतक्रतोरिति । प्रकरणंवापित्वा वाक्येन विनियुक्तः पुरुषस्ये-
 ति । एवं प्राप्ते ब्रूनः । पुरुषार्थां क्रियार्थानां शरीरधारणार्थं बलकरणार्थं प्रथमं
 संस्कारो व्रतं नाम । स क्रतुधर्मो भवितुर्हति प्रकरणानुग्रहाय । ननुवाक्य-

लिये प्रकरण बल से यह क्रतु का ही धर्म होना चाहिए था, परन्तु प्रकरण
 से वाक्य बलवान् होता है, इस लिए “पयोत्रतंब्राह्मणस्य” इत्यादि वाक्यों
 से निर्दिष्ट हुआ २ यह पुरुष का ही धर्म हो सकता है, क्रतु का नहीं । ऐसा
 पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्त चरित्र देते हैं कि क्रतु के लिए उद्यत हुए
 पुरुषों के शरीर धारण के लिए, और शरीर में बल पैदा करने के लिए ही
 यह व्रत नाम का संस्कार होता है अतएव यह क्रतु का ही धर्म हो सकता
 है, इस में प्रकरण भी संगत होता है कदाचित् यह कहो कि प्रकरण से वाक्य
 बलवान् होता है, और वाक्य बल से यह पुरुष का ही धर्म सम्भव है, वो
 ठीक नहीं । क्यों कि ऐसा करने पर फल की कल्पना करनी पड़ेगी । और
 जब हय क्रतु का धर्म जानते हैं, तब तो फल सिद्ध ही है । अर्थात्
 जो फल क्रतु का है, वही उस धर्म का भी होगा । क्योंकि प्रयोग, विधि
 के द्वारा सर्वत्र शास्त्र में ब्रह्म प्रतिपादनकिया गया है कि अङ्ग प्रदान के
 ही लिये होता है । इस लिये जो फल प्रदान का है, वही फल अङ्ग
 का भी होगा । अतएव सिद्धान्त पक्ष में अतिरिक्त फल की कल्पना
 नहीं करनी पड़ेगी । इसलिये यह क्रतु का ही धर्म है, पुरुष का धर्म नहीं है ।
 इस स्थलपर युक्तियुक्तविचारणा विद्वान् लोगोंको स्वयं कर लेनी चाहिये।
 और एतदर्थं धन दे शूत्रों की यहाँ क्या आवश्यकता है । यह भी विचार-

तदुक्तमर्थं इति । नेतिन्न सः । तथासति फलं कल्प्यं कल्पतनिसारत्र । प्रयोगवचने-
नोपसं हृतं द्वितत्प्रधानस्य । तस्मात्कृतुधनेः । अ०४, पा०३, सू०८॥ अत्रयुक्त-
त्वायुक्तत्वविचारो विद्वद्द्विरेवकार्यः । किञ्चित्दर्थयोरनयोः सूत्रयोः प्रकृतेको-
स्त्युपकार इतिविचारणीयम् । तथाहि 'अत्रपूर्वमीमांसायाः प्रमाणम्, इतिप्रती-
कं दत्वामूनद्वयीय सुदाहृत । अनेतिपदं चमकृतमेव परासुयति, प्रकारकां चारि-
होत्रादेःसकानतत्रनिष्कात्त्वप्रतिपादनपरमेव । तमेवार्थं द्रढयितुं पूर्वमीमांसा
प्रमाणत्वेनोपस्थापितेत्येव प्रत्येतुं शक्यतः । नचोदाहृतयोर्द्वै योरपिसूत्रयो
स्ताह्वनर्षलघोभिः, इत्यस्नाभिः प्रदर्शितपादिशैव विचारयन्तु विचारकाः ।
कुण्डलोऽस्मिन् कर्मशिशुश्च्यते दयानन्दः—'यस्यकस्य कविर्वाक्यं यत्रकुत्रापियो-
जयेत् । यस्यैकस्मै प्रयकव्यं यद्वातद्वाभविष्यति' इति । किमनल्पकल्पनया,
प्रकृतमेवानुसरात्मा ? अत्रप्रमाणम्— 'अग्नेवधूमो जायते धूमाद्भ्रमि', त्यादि ।
इदमपिप्रमाणम् कस्मिन्नर्थेपर्यवस्यति ? प्रकरणप्रलाप्तं एव कृतुनायज्ञे नधने

जायतेनान्यथे, स्थर्थमेवद्रढयितुमस्योपक्रम इतिजानीमः । नत्रायमर्षोऽस्मिन्
णीय है । देखिये— "इसमें पूर्वमीमांसा का प्रमाण है" ऐसा प्रतीक देकर यह
दो सूत्रवताये हैं । 'इसमें, का मतलब प्रकरण से है, और प्रकरण अग्निहो-
त्रादि की सकामता और निष्कामता का प्रतिपादन है । इसी बातको दृढ-
करनेके लिये यह पूर्वमीमांसा का प्रमाण रक्खा है— यही समझा जा सकता
है परन्तु पूर्वोक्त दोनों सूत्रों में इस बात की बिलकुल चर्चा नहीं—यहबात
पूर्वलिखित सूत्रार्थ से स्पष्ट है— इसको विचारशील विचारे । इधर उधरकी
गंठपहंरने में स्वामी जी कुशल हैं । किसीने ठीक कहा है 'जिसकिसी
कविके वाक्य को जहाँ कहीं लगादे, जिस किसीके लिये कहदे गव कभी
होही रहेगा" ।

अस्तु । आगे देखिये । 'अग्नेर्वै' इत्यादि प्रमाण दिया है जो किस अर्थ
में संघटित होता है । सालून होता है कि 'ऐसेयज्ञसे धर्मसंपन्न होता है अन्यथा
नहीं" इस बातको दृढकरने केलिये ही इसका उपक्रम है परन्तु इस ब्राह्मण
वाक्य में यह अर्थ बिलकुल नहीं निकलता । इसी प्रकारसे "तस्माद्वा०"
इत्यादि तैजिरीयोपनिषद् श्रुतिका भी समुद्धरण अनावश्यक है । इनश्रुति
यों से स्वामी जीका अर्थ साधन साहस मात्र है ।

और देखिये:—

ब्राह्मणवाक्ये दृश्यते । एवं चैतदाश्रयतया 'तस्माद्वाएतस्मादात्मन, इत्यादि तैत्तिरीयोपनिषत्सु कृतिसमुद्देशमप्यत्र प्रकरणे नावश्यकमिति । एताभिः श्रुतिभिश्च स्वार्थसाधनतपि साहसनाश्रमेवं दयानन्दस्येति ।

अन्यत्र च तत्र द्विविधः प्रयत्नोऽस्तीश्वरकृतो जीवकृतश्च ईश्वरेण खल्वग्नि-सयःसूर्यो निर्मितः सुगन्धपुष्पादिश्च 'सुनिरंतरं' सर्वस्माज्जगतीरसानाकर्षति, अथ भूमिका-ग्रन्थोक्तिकौतुक्त्वावहति । तथाहि यदि जीवेश्वरकृतत्वेन यत्नस्य द्वैविध्यं, तर्हि जीवानामानन्त्येन तद्भेदमादायानेकविधताकृतो नस्यात् ? सत्यनेकविधत्वेतवैव वचनव्याघातः । नचेत्प्रमितार्थोपलापपङ्कतीद । ननु ईश्वरकृतत्वेन ईश्वरकृतयत्नस्यैकाकीटिः । जीवत्वावच्छिन्नयावज्जीवकृत-त्वेनचापरा कीटिरिति द्वैविध्यमेवयत्नस्यायातीतिचेत् । सत्यंयत्नत्वेनसर्वस्या-पियत्नस्यैका कीटिरेव किंनदभेद ? विपक्षे वाधकाभावात् । किञ्च ईश्वर-प्रयत्नस्यांकृतत्वेनोत्पत्तिरवाभावात्कैश्चिदप्यनित्यत्वमुच्यते । भवतस्त्व-

नित्यतामुक्तवती ताभिधानिकोक्तविरोधाभिष्कृतिः स्यात् । अपिच प्रयत्नस्य

“दो प्रकार का प्रयत्न है ? ईश्वरकृत और २ जीवकृत । ईश्वरने अग्नि-सय सूर्य और सुगन्धपुष्पादि बनाया है, वह निरन्तर सब जगत्सेरसों का आकर्षण करता है” यह भूमिका ग्रन्थ है, जो बड़ा कुतूहल वर्धक है । सोचिये यदि जीव और ईश्वर के करनेमें यत्नदो प्रकार का है तौ जीवों के अनन्त होनेके कारण उनके भेदोंको लेकर अनेक विष क्यों नहीं ! यदि अनेकविध मानलिया जायती स्वामीकी वचन व्याघात हो जाता है अर्थात् परस्पर विरोध होजाय । अनेकविधता यदि न मानती वास्तविक वस्तुके रूपानेरूप कीचहमें दुःखवटाओ । यदि यावज्जीवकृतयत्नोंको लेकर जीवकृत यत्नत्वेनरूपेण पृथक् एक कीटि रक्खेने तौयत्नत्वेनरूपेण एक कीटि हीक्यों नहीं मानलेते ? कोई विपक्ष में बाधकनौ है नहीं । दूसरी बात यहहै-कि नैयायिकलोग ईश्वरके यत्नको कृत, अर्थात्, अनित्य नहीं मानते । आप सरासर अनित्य बता रहे हैं ? अच्छा, यहती बताइये, यहाँ यत्न दो आपने दो प्रकार का क्यों बताया है ! इसका मतलब ! आगे भी चलकर इसप्रकरण में यत्नका कोई उपयोग नहीं मालूम होता ।

आपके लेखानुसार तौ कर्तृजन्यत्व रूपसाध्य (नैयायिकरीतिसे) हीना अर्थात् मानना पड़ेगा । परन्तु कर्तृत्वेन कार्यत्वेन कार्य कारण भावमानने

है विषयकचयननत्रकिपयोजनकम्। नह्ययेप्यस्मिन्प्रकरणे यतनस्य कश्चिदुपयोगप्रतीक्ष्य
 तथाहि— 'ईश्वरेण खल्वरिनसयः सूर्यानिर्मिताः' इत्यत्र कर्तुं 'रीश्वरस्यैव कथनं
 न कृतेः। एवं सर्वत्राप्येऽपि। तथाचति तूक्तवाक्येन कृतिजन्यत्वत्वं साध्यं
 स्यात्, कर्तृत्वेन कार्यमात्रं प्रतिजनकत्वेनानाभावात् गौरवपराहृतत्वाच्च।
 अपितु स्वापादानगोपरापरोत्तमानजन्यत्वं तादृशेच्छानजन्यत्वं कृतिजन्यत्वं च
 साध्यं लाघवात्स्याद् इति सैव सरशिरनुसरणीया, उक्तवाक्ये 'सुगन्धपुष्पा-
 दिश्चे' त्यस्यपदस्यसाधुत्वं चिन्त्यमेव। अपिच "सनिरंतरं सर्वंत्मावजगतो रत्ना-
 भाकषति" इत्यत्र कस्तच्छब्दार्थः? प्रत्यासत्तिन्यायेन पुष्पादिरेवेति प्राप्तम्।
 तस्य रसादानं सर्वथाऽसम्भवीति अर्थसम्बन्धवशात् 'यस्येनार्थसम्बन्धो दूरदृ-
 श्यापि तस्यसः' इति न्यायेनसूर्यपेव सच्छब्दार्थः। ए' चान्नप्रकरणे 'सुगन्ध-
 पुष्पादिश्चे' तिपदं सायंकताकृते विलपत्येव। साधुत्वप्रयोजनत्वे चभेऽपि
 घराकस्य नष्टे इति का प्रत्याशाजीवनस्येत्येषादधानन्दशैली कौतुकनत्यन्त-
 सावहति। अन्यच्च— "तस्यसुगन्धदुर्गन्धाशुयोगत्वेन तज्जलवायु अपीष्टानिष्ट

में प्रमाणाभाव है और गौरव भी है। लाघव तर्क से कृतिजन्यत्वरूप साध्य
 ही मानना उचित है। आप के वाक्य में 'सुगन्धपुष्पादिश्च' यह पद भी
 विचारणीय है (सुगन्धपुष्पादिश्च) होना चाहिये। (सनिरन्तरं) इस
 वाक्य में 'तत्' शब्द से आपने किस का ग्रहण किया है? प्रत्यासत्तिन्याय से
 तो पुष्पादि का ही ग्रहण करना उचित है। परन्तु तत्कर्तृक रसादान सर्व-
 था असंभव है— इस लिये अथ सम्बन्ध वश से दूरदृश्य सूर्य का ही तत् शब्द
 से ग्रहण होगा— ऐसी दशा में "सुगन्धपुष्पादिश्च" यह पद बीच में व्यर्थ ही
 मानना पड़ेगा। इस की सप्रयोजनता तो नष्ट ही हो गई यह स्वामी जी के
 लेख की खूबी है।

आगे आप लिखते हैं:-

"उच के सुगन्धदुर्गन्ध अणुओं के योग से उसके जलवायु भी इष्टानिष्ट
 गुण सम्बन्ध से तद्वय गुण वाले होते हैं"। यहाँ "उचके" शब्द से क्या वि-
 वक्षित है? प्रत्यासत्ति बल से सूर्य से खींचा हुआ रस ही लिया जाता है।
 ऐसी दशा में यह अर्थ होगा कि "रसका सुगन्ध दुर्गन्ध अणुओंसे योग"।

स्वामी जी! यह क्या कह रहे हो! आपश्चर्य है आप इतने विद्वान् हो
 कर वहाँके अणुओं के सी बातें कर रहे हैं। यह "योग" कैसा है? क्या चित्त-

गुणयोगान्मध्यगुणीभवतस्तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वादि" त्यत्रापिकस्त-
 च्छब्दार्थः । प्रत्यासत्तिल्लोत् तच्छब्दस्यपूर्वपरानर्थात्तदादन्वयासम्भवाच्च
 भास्कराकृष्टोरसएव तच्छब्दार्थो भवितुमर्हति । तथा च तभ्यरसस्य सुगन्ध-
 दुर्गन्धाशुधीगतत्वेन आः किमिदमुच्यते सन्नचित्रम् सुगन्धदुर्गन्धाशुभी रसस्य
 योग इति । कीदृशोऽयं योगः ? किञ्चित्तवृत्तिनिरोध एव ? यतस्तस्यैव योगिनि
 सम्भवः । ननुयोगः सम्बन्धएव । एवं, अपिज्ञातम् । शोभनोगन्धः सुगन्धः दुष्टो
 गन्धोदुर्गन्धः, सुगन्धश्चदुर्गन्धश्च सुगन्धदुर्गन्धौ, तयोरभावः सुगन्धदुर्गन्धाशु-
 वस्तिर्योगः सुगन्धदुर्गन्धाणुयोगस्तरधत्तेनेतिनकश्चिद्व्योपः, सत्यंसुगन्धस्यदुर्गन्ध-
 स्यात्वाशुधः कदाचिद्वयानन्देनैव योगिदृष्ट्या दृष्टाःसु । स्पर्शदेतत् शोभनोऽगन्धो
 येनोदुष्टोऽगन्धोऽप्यासिति बहुव्रीहिः कृत्वा (सुरभिसुरभिगन्धविशिष्टाः परमा-
 भावः सम्भवन्त्येव, तेष्वरसस्यापि सम्बन्धो नायुक्तः प्रसिद्धत्वादेवेतिचर्त-
 सुस्थमिति चेत् न ! तथासति सुगन्ध इतिपदस्य साधुरवनेव नस्यात् ।
 गन्धस्येदुत्पत्तीतिपाणिनिशास्त्रात् समासे बहुव्रीहाविरवप्राप्यतेः । किञ्च "तत्रज्ञ-

वृत्ति निरीध रूप तो याद नही आगया ? क्यों कि उची की सम्भावना यो-
 गियों में है । यदि योग शब्द का सम्बन्ध अर्थ करें तो यह अर्थ होगा
 कि "सुगन्ध दुर्गन्ध आणुओं से योग" परन्तु सुगन्ध और दुर्गन्ध गुण रूप हैं
 इन के आणु नहीं होते, कदाचित् योगिदृष्टि से दयानन्द ने इन के भी आणु
 देखे हों तो दूसरी बात है । इत्यादि विशेष संस्कृत भाग मूल में द्रष्टव्य है ।
 यदि सुगन्ध दुर्गन्ध शब्दोंमें बहुव्रीही समास मान लिया जाय तो "गन्धस्ये-
 दुत्पत्तिस्तसुरभिभ्यः" इस पाणिनि सूत्र से इकारादेश हो जाना चाहिये तो
 किया नहीं ।

और 'तत्रजलवायु अपीष्टानिष्टगुणयोगान्मध्यगुणी भवतः, इत्या-
 दि' समीपका ही अग्रिम वाक्य भी सर्वथा असंगत है । क्योंकि 'तत्रजल-
 वायु, इत्यादि ऊपर कहे, वाक्य में 'तत्, शब्द का क्या अर्थ है ?
 'तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात्, अर्थात् जलवायु के सुगन्ध दुर्गन्ध
 मिश्रित होने से, इस दयानन्द के कहे हुए हेतु के बल का प्रबलभयनकर
 इस यही कह सकते हैं कि ऊपर कहे 'तत्, शब्द का अर्थ 'सुगन्ध' और
 दुर्गन्ध आणुओं का जलवायु के साथ सम्बन्ध, ही हो सकता है । और
 गन्धवाले परमाणु पार्थिव ही होते हैं । अतएव उक्तवाक्य से यही बोध

वायु अपीष्टानिष्टगुणदीगान्मध्यगुणो भवतः ॥ इत्यनुपदमेववदः ॥ सायस्य ग्रन्थ-
स्य सर्वथाप्यसङ्गतिः । तत्रजलेत्यत्रहि तच्छब्देन 'तयोः' जलवायवोः 'सुगन्ध-
दुर्गन्धमिश्रितत्वात्' इति दयानन्दोक्तहेतुबलमालम्ब्य तादृशाणुसम्बन्ध-
ग्रहणो, गन्धसमवेतपरमाणाः पृथिवीत्वात्, पार्थिवीणासम्बद्धीजलानिलादित्येव
बोधः । तथाच " तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुयोगत्वेने " तिमन्त्रेण पार्थिवपारमाणाः
रससमवेतत्वोक्त्याजले वायौ वा कः प्रभावस्तस्य तच्छब्दार्थपार्थिवीणासुवृत्ति-
रसस्येति विज्ञानीनः । वायौहि सर्वथापि रसाभाव एव जलेच पार्थिवकटु-
कषायतिक्तादिरसयिजातीयो मधुर एवरसः । एवञ्च ' तजलयायु मध्यगुणो
इष्टानिष्टगुणयोगात्, नच स्वरूपासिद्धिः-पक्षे इष्टानिष्टगुणयोगत्वस्य
'सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वेन हेतुनासिद्धेः' इत्यादिरदृष्टश्रुतपूर्वप्रचार्थं जले वा-
यीच मध्यगुणत्वसाधकोऽनुमानप्रकारः । इत्यमेव बहुप्रलापानघर्तनर्थकरां इष्ट-
पदवाक्यपूर्णां महतीं कामध्यवतरणिकां विरचय्य 'जलानिलादिशोधनफलस-
मंवाग्निहोत्रादिकर्म सर्वैर्मनुष्यैः कर्तव्यमित्यर्थकं शास्त्रप्रक्रियां स्वव्याप्यु-

हो सकता है कि ' पार्थिव आणु से सम्बद्ध जो जल और वायु इत्यादि ।
ऐसा होने पर पार्थिव परमाणु को रसबाला होने से ' तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणु-
योगत्वेन, इस ग्रन्थ के द्वारा तत् शब्द से ग्रहण किये हुए पार्थिव आणु
में रहने वाले रस का जलवायु में क्या प्रभाव उत्पन्न हुआ, यह हनारी
सम्बन्ध में अभी तक नहीं आया । क्योंकि वायु में सर्वथा रस का अभाव
है । और जलमें कहुवे तीखे इत्यादि पृथिवी में रहने वाले रसों से
विजातीय मधुर ही रस रहता है । इस प्रकार ' वे सुगन्ध और दुर्गन्ध
से मिले हुए जल और वायु मध्यगुण वाले होते हैं इष्ट और अनिष्ट
गुणों के साथ सम्बन्ध रखने से । कदाचित् कहो कि जल और वायु में इष्ट
और अनिष्ट गुणों का योग ही कहाँ है ? जब सम्बन्ध नहीं है, तो आपका
हेतु स्वरूपासिद्ध होगया । तो दयानन्द बोलते हैं कि नहीं । जब इस जल
वायु को सुगन्ध दुर्गन्ध मिश्रित बतानुके हैं, तब इष्ट अनिष्ट का सम्बन्ध
तो सुतरां सिद्ध है । इस प्रकार जल और वायु में मध्यगुणता का साधन
करने वाला यह अनुमान को प्रकार न इनने पहिले कहीं देया है, और न
कहाँ सुना है । योगियों की सहिताः योगी ही जाने । इस प्रकार दूषित-
पदवाक्यों से पक्ष, अनर्थ कारिणी व्यर्थकी अवतरणिका बनाकर, वायु आदि

पेक्ष्य कामचारेण लोकाचार इवतत्रार्थं प्रतिपादयन् मिथो विरुद्धं प्रायश्चित्ती-
यामाभूमेति दूरतएव श्रेयस्कामजननिवहहेयं, परस्पराकाराक्षाराहित्येन
षष्ठपूपा 'दश द'हिमानी त्यादिवदपार्थक्यं', 'तत्रद्विविधः प्रयत्नोऽस्ती' -
त्यारभ्यकुतः तैर्विना तदसिद्धे' रित्यन्तं पृष्ठचतुष्टयात्मकं निबन्धं द्यमन्ध ।
तत्राग्निहोत्रादिकं कर्म ननोऽनभिसत्तम् । फलं तु तदात्कर्मणामीमांसादिशास्त्र-
प्रतिपादितपेवष्यीकुर्मो नवाद्यदि शोधनमात्रम् । नापि 'सर्वे रेवहोमोवि-
धेय, इत्यङ्गीकुर्मः । शूद्राणामनुपनीतत्वेन तत्रानधिकारात् । तदेतत्सर्वं शास्त्र-
परिशीलनपवित्रान्तःकरणी विद्वद्भिरवषयेयम् । इत्यतोऽस्ति न् प्रकरणीनाधिक-
गुच्यते । यस्वन्वत् प्रसङ्गवशाच्छास्त्रविरुद्धमुक्तं, तदुपयाग्यं विविच्यते ।
तथाहि— "प्राणिनां मध्येनस्विनो विज्ञानं कर्तुं योग्यामनुष्या एव सृष्टास्व-
हेषु परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानभवतानुकूलानासवयवानामुत्पादि-
तत्वात्", । अनेन भूमिकाग्रन्थेन, विज्ञानोत्पादकाः केवलयथा परमाणु-
संयोगविशेषेणैवोत्पद्यन्ते इत्यर्थं केन परमाणुसंयोगस्य विज्ञानोत्पादकरत्वे

का शोधन मात्रही अग्निहोत्र का फल है इत्यादि गणोडे मारकर, शास्त्र
प्रक्रिया का सर्वथा निरादरकर परस्पर विरुद्ध और निरर्थक बात कहने
वाले स्वामी जी का कथन सर्वथा हेय है ।

"तत्र द्विविधः प्रयत्नोऽस्ति", यहाँ से लेकर "तैर्विना तदसिद्धे",
यहाँ तक ४ चार पृष्ठका निबन्धलिखा है । अग्निहोत्रादि कर्म को हम
भी मानते हैं परन्तु उनका फल शास्त्रोक्त मानते हैं । वासु आदि
का शोधन मात्र नहीं । न हम यह मानते हैं कि सबको होस करना
चाहिये क्योंकि शूद्र यज्ञोपवीत के अधिकारी न होने के कारण हवन के
अधिकारी नहीं ।

ये सब बातें शास्त्रज्ञ लोग जानते हैं इसलिए इस विषय में अधिक लिखने
की आवश्यकता भी नहीं ।

इसके अग्नि जी कुछ शास्त्रविरुद्ध कहा है उसकी विवेचना देखिये :-

"प्राणिनां मध्ये" इत्यादि भूमिका ग्रन्थ से मालूम होता है कि
विज्ञानके उत्पादक परमाणुओं के संयोग विशेष हैं, लीजिये यहाँ नास्तिक
मत में स्वामी जी चुस गये ऐसा किसी भी आस्तिक का मत नहीं कि पर

लोकायतनमतानुप्रवेशो दयानन्दस्य । नहि कदाप्यास्तिकस्यैतन्मतम् परमाद्युद्देशो विज्ञानमुत्पद्यत इति नस्माच्छास्त्रविरुद्धं भवेत्तत् । किञ्च "नात्यन्तो विनाशः कस्यापि सम्भवति । विनाशो हि यद् दृश्यं भूत्वा पुनर्न दृश्येतेति विज्ञायते । परन्तु दर्शनत्वया कतिविधं स्वीक्रियते । अष्ट-विधं वेति । किञ्च तत् । अत्राहुर्गीतसाचार्या न्यायशास्त्रे" इत्याद्युक्तम् । अत्रहि दर्शनशब्देन ज्ञानमुच्यते । स्वयमपि दयानन्दस्वाभिना 'दर्शनसर्वा-उद्धानं मया सन्यत' इत्यनुपदेशेनोक्तम् । ज्ञानानां स्वाभ्यनुत्पत्तात्पट्टद्विधत्व-एव भगवतो गीतमस्य साक्षात्त्वमुच्यते । एतच्च सर्वथापि नैयायिकमतविरुद्ध-मेव । यत्रज्ञानस्तर्कसंग्रहमप्यध्यैष्ट, सोऽपि नैतादृशमर्थं न्यायविरुद्धं वक्तु-मुत्सहते । अहो घाट्ट्यम्- सर्वथाप्येतदर्थोऽप्रतिपादकानि गीतमसूत्राण्यपि अपुर्मेवार्थं द्रवयितुमुदाहृतानि । भगवति घृष्टते । चन्वासि, यस्यास्तत्र निर्विघ्नो योगिनामपि शिरसि पादमहारः । सूत्राणि च पूर्वं प्रत्यक्षादि-प्रमाणावलम्बनाभिधायकानि परस्परार्थप्युक्तानि, ततः "प्रत्यक्षानुमानोपमान-

मायुर्जो से विज्ञान उत्पन्न होता है, इस लिए यह लेख शास्त्रविरुद्ध है । "नात्यन्तो विनाशः" इत्यादि स्वामी जी का लेख है । दर्शन शब्द का अर्थ स्वामी जी ने भी ज्ञान किया है । ज्ञानों के आठ प्रकार के होने में भगवान् गीतम की साक्षी दी है । परन्तु यह भी सर्वथा न्यायमत के विरुद्ध है । जिसने तर्कसंग्रह भी पढ़ा है वह भी न्यायविरुद्ध ऐसी बात कहनेको उत्साह नहीं कर सकता । यह घृष्टता देखिए इस बात को सर्वथा मकाशित करने वाले गीतमसूत्रों को, इसी बात के दृढीकरणार्थ लिखा है । घृष्टते । त धन्य है तेरा पादमहार योगियों के (योगी कहलाने वालों के) शिर पर भी निर्विघ्न चलता है । पूर्व चार सूत्र प्रत्यक्षादि प्रमाणां के लक्षण बोधक कहे हैं परन्तु स्वामी जी कहते हैं "प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभय, अभाव, ये आठ प्रमाण हैं और इन के साधन भी आठ हैं" यदि ज्ञानको आठ प्रकार का माना जावे तो उस ज्ञान के साधन आठ प्रकार के होने ही चाहियें । पर स्वामीजी कहते हैं यह जल मेरा ही नहीं है किन्तु गीतसाचार्य का है-इस बातकी साक्षीके लिये न्यायदर्शन अ०२ आ०२ सू० १-२ के सूत्रभी लिख दिये हैं । यह सब स्वामी जी का लेख अर्थ न जानने के कारण है- क्योंकि ये दोनों सूत्र, प्रमाणां का आठ प्रकार का हीना

शब्दैतिह्यार्थापत्तिरंभवाभावसाधनभेदादष्टधा प्रमाणं मन्यत इतीत्याह । अनुभूत्यात्मकस्य ज्ञानस्याष्टविधताङ्गीकारे तत्साधनभूतप्रमाणानामन्यदष्ट-
 विधत्वं युक्तमेव । तथापि नैतन्मतं सत्कर्मवेति ब्रवीमि, गौतमाचार्यस्याप्ये-
 तदेव मतमिति साध्यमपि प्रदर्शयति । तत्र सूत्राणि च "न चतुष्टयनैति-
 ह्यार्थापत्तिरंभवाभावमाज्ञायत् ॥ शब्दैरेतिह्यानर्थान्तरभावादानुमानेर्था-
 पत्तिरंभवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ न्याय, अ० २ आ० २ सू० १,२ ॥
 इत्यादीः युक्तानि । सर्वमेतदर्थोपरिष्ठानधिज्ञानभगानाम् । नहीयं सूत्रद्वयी
 प्रमाणानामष्टविधत्वं साधयति, प्रत्युत न चतुष्टयमित्यादिपूर्वपक्षसूत्रेणाष्टवि-
 धतां प्रमाणानामाशङ्क्योत्तरसूत्रेण चतुष्टयमेव व्यवस्थापयति । अतएव "प्रत्य-
 ह्यानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणीनि" इत्युद्दिष्टस्य प्रमाणस्य विभागवचनमपि
 संगच्छते । प्रमाणात्मान्यलक्षणपरीक्षाप्रकारेण 'न प्रदीपप्रकाशवत्तन्निर्दिष्टैरिति
 सूत्रभाष्ये भाष्यकारोपपत्तएव "प्रत्यक्षादीनाञ्चाविषयस्यानुपपत्तेरिति वा-
 न्तिकं लिखित्वा "यदि स्यात् किञ्चिदर्थगतं प्रत्यक्षादीनामविषयः, यत्प्रत्य-

नही सिद्ध करते किन्तु इसके विरुद्ध, पूर्व प्रमाणों की अष्टविधता की आ-
 शंका करके प्रमाणों के चतुष्टय को ही व्यवस्थापित किया है इसी लिए
 उद्दिष्ट प्रमाण का चार प्रकार का होना ही पूर्व बतलाया है । और प्रमाण-
 सानान्य के परीक्षा प्रकारण में न्यायदर्शन अ० २ आ० १ में " न प्रदीपप्रका-
 शवत् " इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने स्पष्ट ही लिखा है कि कोई वस्तु
 ऐसी नहीं जो इन चार प्रमाणों से अतिरिक्त प्रमाण का विषय हो ।.....
 इन सब बातों से सिद्ध है कि " न चतुष्टय " सित्यादि दो सूत्रों से
 चार प्रमाणों से अधिक प्रमाणों का, न्यायमतानुसार मानना स्वामी जी
 को अपने बुद्धि की शक्ति का (अर्थात् अज्ञता का प्रकट करना मात्र है । सम्भव
 का उदाहरण देते हुए स्वामी जी लिखते हैं "मातापितृभ्यां सन्तानं जायते"
 दुःख है स्वामी जी को लिङ्गज्ञान भी नहीं अन्यथा 'सन्तानं' न लिख कर
 'सन्तानः' लिखते । आप नाश का स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं "अतो
 नाशः" इत्यादि । क्या कहने हैं ? पचिहताई की पराकाष्ठा दिखादी । आप
 के लेखानुसार वास्तुविज्ञान ज्ञान का जो अविषय हो वह भी वास्तुवि-
 यादर्शन है, ऐसा मानने से तो आकाशादि और परमाणुवादि का नाश
 ही आपके मत में प्रसक्त होगा । यह आप की अद्भुत बुद्धि विषय है जो

क्षादिभिर्नशस्यं च द्रीतुं तस्यग्रहणाद्य प्रमाणांतरमुपादीयेत् । तच्च नशक्यंकेन-
चिद्रूपवाद्यितुमिति । प्रत्यक्षादीनां यथादर्शं नमवेद् सच्चासच्च सर्वं विषय-
इति" इति प्रसिद्धाद् । एतच्चोद्दिष्टप्रत्यक्षादिप्रमाणाद्यविषयस्य । अनएवं-
नचतुष्टुमिदिसूत्रावतरणिकाया' अयथार्थः प्रमाणाद्देश इति नत्वाह न चतुष्टुव-
नित्याह भगवान्भाष्यकारः । तस्मात्तुष्टुव नित्यादिसूत्रद्वयेन प्रत्यक्षादि-
प्रमाणाद्यतुष्टुयातिरिक्तप्रमाणासाधनं बुद्धिकौशलमतीव प्रकटयति । सन्भवस्यो-
दाहरणप्रदर्शनावसरे-मातापितृभ्यां संतानं जायते" इति लिखन् सिद्धिज्ञाने
यातुरींश्चिभर्तीति प्रतीतः ॥ अपिधनाशस्वरूपं निर्दिशन्नाह- अतोनाशो
घास्त्रेन्द्रियादर्शनमेव भवितुमर्हति" । अहीयासिद्धयं गद्वृत्तिन्, वास्त्रेन्द्रि-
यजन्यज्ञानाविषयत्वमेव वास्त्रेन्द्रियादर्शनमवयम् । तथाचाकांशादीनां, वृथाणां
पार्थिवादिपरमासूनां च नराभ एव त्वन्मते स्यादिति । अयमपूर्वस्ते बुद्धिव्याप्तौहः
यन्नित्यानानापि प्रदार्थानां सर्वेषामनुभवव्याहृतानाशतां व्यग्रहरश्चि । किञ्च
चित्रीयवास्त्रेन्द्रियजन्यज्ञानाविषयत्वमस्ति तद्व्यवहितानां पदार्थानामिति
स्यात्तेषामप्यभावः । यतोहिदर्शनादर्शनाभ्यामेव भावाभावावधारणमिति ।
एवं च रुदाचिद्ग्रहाद् बहिर्गतौ दयानन्दो दयनीयो वराक्षराचार्याक इव न पुनस्तत्र

नित्य पदार्थों का भी अनुभव शून्य भांशना नते हो ? और आपके लक्षणानु-
सरतौ चैत्र-पुरुषविशेष के वास्त्रेन्द्रिय जन्यज्ञानाविषयता, उस पुरुषसे
व्यवहित पदार्थों में रहती है तौ उन व्यवहित पदार्थों का भी अभावभक्त-
होगा ! क्योंकि आपतो सत्ता या असत्ता का निर्धारण, दर्शनादर्शनमूल-
कही मानते हैं ?। उसद्वय प्रकार तौघरसे बाहर गया हुआ विचार दया-
नन्द घर में फिर चारोंक-की तरह नहीं लौटना चाहिये क्यों कि घरमें नई-
खने से उसका अभाव ही मान लिया ? और घरमें रक्खा हुआ भी अनादि
पदार्थों के न दीखने से अनादि का अभावही निश्चित होजायगा तौ फिर उस
लोग छाती पीटकर रोने लगेने ? इस लिये नाश का लक्षण "वास्त्रेन्द्रिया-
दर्शनमात्र" बनना टीक नहीं आने चलना यह लिखना कि; यदा परमाण-
व इत्यादि ... कर्त्वादिर्त्यन्त" यह भी अयुक्त लेख है देखिये- "परमाणुही
पृथक् र्वर्तमान हूय निरुत्तर स्थूलताकी प्राप्तकीजाते है" यह सत-परमाणु
की जनत्कारण माननेवाले नास्तिकोंका है । वैशायिक तो एक अपूर्व अवयवी
की ही उत्पत्ति ऐसेस्थान में मानते हैं । अन्यथा तुन्द्राग भी नास्तिक मत

निवर्तते । तदानीं गृहाद्यदृशनेन तदभावाद्भ्रुपगमात् । प्रभ्युततत्रैव धना-
द्यभावावधारणात् सोरस्ताहं शोकविकलो विक्रीशेत् । तस्मान्नवाह्येन्द्रिया-
दृशेनमात्रं नाशः ॥ यच्छोक्तं - "यदापरमाणवः पृथक् पृथग्भवन्ति तदातेजस्युपा-
नैवदृश्यन्ते तेषामतीन्द्रियत्वात् । यदाचैतेमिलित्वा स्थूलभावनापद्यन्ते तदैव
तद्द्रव्यं दृष्टियथमागच्छति - स्थूलस्यैन्द्रियकत्वात्" इति । तदप्ययुक्तम्,
तथाहि—पृथग्भूताः परमाणव एवमिलिताः सन्तः स्थूलभावनापद्यन्तइति
नास्तिकानां परमाणुगतकारणवादिनां मतमिति । अपूर्वोत्पत्तिरपवते मन्यन्ते
संन्ययोऽदृश्यपरमाणुसमूहेभ्यो दृश्यानांस्थूलभूतानांपरमाणूनामुत्पत्तिरिति
नास्तिकमतानुपवेशस्ति । घटादिपदार्थानामप्रत्यक्षत्वापत्तिश्च महत्वोद्भूत-
रूपवत्त्वस्य द्रव्यप्रत्यक्षे कारणत्वात्, परमाणुषु तदभावात् । तस्मात्प्रत्यक्ष-
मिदमेतद्दृश्यान्नदीकमिति । अन्यच्च "वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण
संयुक्तो भवति । सोऽन्नमुगन्धो वायुरस्तीति जानात्येव" इति यदिदमुच्यते
तदप्यविदितशास्त्रवृत्तान्तस्यैव परं शोभते । वायोः प्रत्यक्षतानास्त्येवेति
केचित् । तत्प्रत्यक्षत्वादिनतेपि न घ्राणेन्द्रियविषयतातत्र । घ्राणेन्द्रियस्य
द्रव्यगृहणे सामर्थ्याभावात् । असामर्थ्यं च वस्तुस्वभावमात्रप्रयोजकम् ।

में प्रवेशहोगा क्याकि वेभी अदृश्य परमाणु समूहसे दृश्यस्थूल भूतकीउत्पत्ति
मानते हैं अर्थात् दृश्यस्थूल भूतसमूह मानते हैं । ऐसामानने से घटादि
पदार्थों की अप्रत्यक्षतापत्ति होगी क्यों किवेपृथक् ही अवयवी माने हुए हैं
परमाणु समूह मात्र नहीं है । द्रव्यप्रत्यक्ष में सहत्व और उद्भूत रूपवत्त्व
को कारणता शास्त्रकारों की अभिमत है नाक स्थलता इस लिये यहाँ भी
स्वामी की को भ्रान्ति है । आगे आप लिखते हैं "वायुर्दूरस्थेत्यादि" अर्थात्
आयुका नासिका से संयोग, दूरस्थ मनुष्यका होता है इस लिये "घ्राण्यवान्
वायुं है, ऐसा प्रत्यक्ष होता है, यहाँ स्वामी की को यह न सूझा किवायुको
प्रत्यक्ष कहे नैयार्थिक नहीं मानते किन्तु उसे स्पर्शाभ्रयतया अनुमेय मानते
हैं और जो वायुका प्रत्यक्ष जानते हैं वेभी वायु कोघ्राणेन्द्रियका विषय
नहीं मानते क्यों कि घ्राणेन्द्रिय कीद्रव्य गृहणे में सामर्थ्य ही नहीं है, सा-
मर्थ्य न होना वस्तुका स्वभाव है । इस लिये घ्राणेन्द्रिय केवल गन्धकाग्राह-
क है, वायु का ग्रहणतीत्वगिन्द्रिय सेही होता है । वायुमें गन्धवत्ताका भ्रम
ज्ञान, पार्थिवद्रव्यके सम्बन्ध से होता है । स्वामी कीके साहस का कुञ्चिका-

तस्माद् गन्धग्राहकमेव घ्राणेन्द्रियं, वायोस्तुत्वचैव गृह्णामिति । वायी गन्ध-
वन्ताप्रतीतिस्तु पार्थिवद्रव्यव्यतिषङ्गाद् भ्रमरूपैवेति । किञ्च यज्ञानुष्ठानकाले
प्रणीतादिपात्राणां विहितनियतस्थले स्थापनं पुण्यजनकमितरथा पापजन-
कमेवेति कल्पनं प्रमाणाभावाग्निष्यैवास्तीति यदुच्यते तदप्यस्यारम् ।
अग्निहोत्रादिकमपि शुभं कर्म कार्यमित्यपि कथं भवतामेदि ? प्रमाणादेवेत्यु-
त्तरे कुतः प्रमाणादिति तदवस्थएव पूर्वः पक्षः । ननु प्रत्यक्षमेव तत्र प्रमाणा-
मिति चेन् न । अहृष्टवादिनांशास्त्रकाराणां मते प्रत्यक्षस्यासम्भवात् । नच
त्वयापि अग्निहोत्रादिकं कर्म शुभावहमिति कृत्वा कार्यमेवेति अग्निहोत्र-
दर्शपौर्णमासकारीयादिनानात्तत्कर्मानुष्ठानेन प्रत्यक्षीकृतम् । नचेदं कर्म
शुभनिदमशुभमित्यन्वयव्यतिरेकावरपक्षेन जन्मसहस्रैरपि प्रत्यक्षमवलम्ब्य
ज्ञातुं शक्यामिति । प्रत्यक्षाभावे नानुमानमपि, तत्पूर्वकत्वादेव तस्य । प्रत्य-
क्षपूर्वकं हि सर्वत्रानुमानं भवतीति । विषयाभावाच्च नोपमानमपि । तस्माद-
ग्निहोत्रादिकर्मणि शब्द एव शरणात् । एवं च “यज्ञसिद्ध्यर्थं यद्यदावश्यकं
युक्तिमिदमस्ति तत्तदेवप्राञ्चम् नेतरत्कुशतृषादीति” यदुक्तं तदस्यारतरमेव ।
शब्दादेव च प्रणीतादिपात्राणां सिद्धे स्थानविशेषे कुशादेश्च कर्मण्यभावशयकत्वे
किं त्वया तत्र वक्तव्यमिति । तस्माद्यज्ञसाधनावेन शास्त्रे यद्यदुक्तं तत्सर्वं

ना है ! आगे आप लिखते हैं “यज्ञसमय में प्रणीतादिपात्रों का विधि
पूर्वक नियत स्थानादि में रखना— पुण्य जनक है अन्यथा पाप
लगेगा इत्यादि कल्पना मिथ्या है” यह लिखना भी निःसार है ।
अग्निहोत्रादि शुभकर्म कर्तव्य है” यह बात आपने कैसे जानी ?
यदि प्रमाण से तो कौन से प्रमाण से ? प्रत्यक्ष प्रमाण तो कह नहीं सकते
क्योंकि अहृष्टवादी शास्त्रकारों के मत में ऐसे स्थल में प्रत्यक्ष प्रमाण का अस्तं-
भव ही है । और आप जैसे ने भी अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, कारीरी
आदि अनेक यज्ञों के अनुष्ठान करके उनकी कर्तव्यता वा शुभावहता का
प्रत्यक्ष नहीं किया है । और अल्पपक्षजन, हज़ार जन्म धरण करके भी
अनेक प्रकार के शास्त्रोक्त यज्ञों के विषय को केवल प्रत्यक्ष के सहारे-अन्वय
व्यतिरेकमात्र से नहीं जान सकता । ऐसे विषय में जब प्रत्यक्ष प्रमाण की
गति ही नहीं तब अनुमान की चार्ता ही क्या है ? प्रत्यक्ष के बिना अनुमान
ही ही नहीं सकता क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक ही होता है । ऐसे स्थल

तथैवास्ति, न तत्र युक्तोः प्रवेशलोभोऽपि । " कुतो तैर्विनातदग्निहे" इति ॥ यज्ञस्य हेतुं द्रव्यं देवतांचेति । तत्र देवता निरूपयितुमुपगतसते "यज्ञे देवताशब्देन किं गृह्यत" इति । "याश्च वेदोक्ताः" देवताः सन्ति ता एव गृह्यन्त इत्यर्थः । "अत्र प्रमाणाग्नि- 'अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रना देवता वसवो देवता रुद्रादेवतादित्या देवता भरती देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता" ॥ यजु० अ० १४ । म० २० ॥ इदं प्रमाणं हि- यज्ञे वेदोक्तानामेव ग्रहणं देवताणां नान्यासां नित्यस्मिन्नीकार्यं समुपस्थापितम्, न पायसर्थाग्निस्मन्त्रे क्वाप्युपलभ्यते । तथा च कथमत्रार्थे प्रमाणमर्थं सार्धो भवितुमर्हतीति न वानीमः । अस्य मंत्रस्यार्थस्तु सूक्तिकायान्तिर्था प्रतिपादितः- "अत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम् । गायत्र्यादीनि अन्दाग्निं ह्याग्न्याग्निदेवताख्यान्धेव गृह्यन्ते । तेषां कर्मकाण्डादिविषेधैर्गतकरवात् । यस्मिन्मन्त्रे चाग्निशब्दार्थे प्रतिपादनं वर्तते स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते । एवमेव वातः सूर्यश्चन्द्रना वसवो रुद्रा आदित्या भरती विश्वेदेवा बृहस्पतिरिन्द्रो वरुणश्चेत्येतच्छब्दयुक्ता मंत्रा देवताशब्देन गृह्यन्ते तेषामपित्सादर्शस्य द्योतकरवात्परमाप्तेः श्वरेण कृतसंकेतत्वाच्च ॥ इति । एवं च देवताशब्देन अत्र कर्मकाण्डप्रकारेण देवताशब्दोपलक्षिता वेदमन्त्रा

में उपमानहे तौ विषयही नहीं । वस किं अग्निं होत्रादि अलौकिक पायीं में केवल शब्द ही प्रमाण हो सकता है अन्य नहीं । ऐसा मानने से "यज्ञसिद्धयर्थमित्यादि०० कुशतृणादीति" यह स्वामी जी का लेख बिल्कुल निःसार है । शब्दप्रमाण वल से ही मशीनादिपात्रों को स्थानविशेष में रक्खा जाता है और कुशादि को आवश्यकता वतलाई जाती है ऐसे जगह प्राप क्या कहियेगा ? इस लिये शास्त्रनात्रग्रन्थ विषयों में शुक्ति का बिल्कुल प्रवेश नहीं होसकता । यद्य कि दो रूप हैं, द्रव्य और देवता, उनमें देवताओं का निरूपण यों प्रारम्भ किया है "यज्ञे देवता शब्देनेत्यादि०० वसवो देवतेत्यन्तम्" यह यजुर्वेद का प्रमाण इस लिए दिया है कि यज्ञमें वेदोक्त देवताओं का ही ग्रहण है अन्य देवताओं का नहीं, पर यह बात इस मन्त्र में कहीं भी नालून नहीं होती । तौ फिर इस बात में यह मंत्र प्रमाणभूत क्यों कर होसकता है । यह बात सन्त में नहीं आती । इस मंत्र का अर्थ भूमिका में इस प्रकार किया है "अत्र कर्मकाण्डे इत्यादि संकेतत्वाच्चेत्यन्त" ॥ इस

एदृशञ्च्यन्ते यदि, तदालाक्षयिकरवमर्थस्य स्पष्टमेव । लक्षणाच्च सत्यभिधेयार्थ-
सम्भवेऽन्याय्या एव, तादृशाश्चस्त्वनुपदमेववदयते । किञ्चदेवताशब्देन मन्त्रो-
पादाने नकिञ्चित्प्रयोजनमपि । भवतिवच यच्च वेदमन्त्रोपादानस्य ईश्वरस्त्वन-
मन्त्ररक्षणपरमात्माऽस्तित्वादिफलकरत्रेनाभिधीयमानत्वात् । किञ्च गायत्र्या-
दिछन्दसामपरपर्याया एवाग्न्यादिदेवताशब्दा इत्यत्र सर्वथापिप्रमाणाभावः॥
ननुकर्मकाण्डादिविधिद्योतकरवस्य छन्दसामग्न्यादिदेवताऽपरपर्यायत्वसाधक-
स्य हेतोः सत्त्वेऽत्र प्रमाणाभावत्वकथनं साहसमात्रमेवेतिचेत् । न । उक्तहेलो-
रनैकान्तिकरवेनाभासमात्रत्वात् । तथाहि-गायत्र्यादीनिछन्दांसि अग्न्यादि-
देवताख्यानानि कर्मकाण्डादिविधिद्योतकत्वात्, इत्येवानुमानप्रयोगाकारः॥
तथाचकर्मकाण्डादिविधिद्योतकरत्वं हेतुरस्ति-वेदगततत्तच्छब्दे, नचअग्न्यादि
देवताख्यत्वं साध्यमिति स्पष्टैवसध्यभिचारिताहेतोः । एवं हेतुरस्तु साध्यं
मास्तिवत्यप्रयोजकरवमपि । वस्तुतस्त्वत्रमन्त्रे छन्दसाग्न्युपवर्णनं भाष्यकारस्य
सहीधरस्यानुक्तं कर्मकाण्डप्रयोगियुक्तमुचितञ्चेतितत्तदर्थानभिष्टत्वात् यत्कि-
ञ्चिद्युक्तमपि स्वामिना गृहीतमिति प्रतीमाः उक्तमन्त्रस्य सहीधरकृतोरथर्थाव-

लिखने से जालूम होता है कि इस कर्मकाण्ड प्रकरण में देवता शब्द से देव-
तोपलक्षित वेदमन्त्र गृहीत होते हैं- यदि ऐसा ही है तो लक्षणावृत्ति आप
मान रहे हैं, मुख्य अर्थ की संभावना में लक्षणावृत्ति मानना अनुचित है ।
मुख्य अर्थ आगे लिखेंगे । और देवता शब्द से वेद मन्त्रों के ग्रहण करने में
कोई प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता । आप ही यज्ञ में वेद मन्त्रों के उच्चारण
का फल- ईश्वर स्तुति, मन्त्र रक्षा, परमात्मास्तित्वादि बता रहे हैं ! और
गायत्री आदि छन्दों के ही दूसरे पर्याय अग्न्यादि देवता शब्द हैं- इस लेख
में भी कोई प्रमाण नहीं है । आप यही अनुमान कर सकते हैं कि गायत्री
आदि छन्द, अग्नि आदि देवता हैं, कर्मकाण्डादि विधि के द्योतक होने से
परन्तु यह हेतु व्यभिचारित है क्योंकि विधिद्योतकता- उस २ वेद शब्द में है
और वहाँ २ अग्निआदि देवता नाम नहीं है-इस लिए हेतु अप्रयोजक है
वस्तुतः इस मन्त्र में छन्दों का वर्णन, यजुर्वेद भाष्यकार सहीधर मानते हैं
ऐसा वर्णन कर्मपर्यायी है और युक्त है । सहीधर का अर्थ आगे
लिखेंगे । स्वामी की ने तो बिना सोचे समझे ही यह लिख मारो है ।
आगे देखिये क्या सीला है ! " यस्मिन् मन्त्रे इत्यादि गृह्यतेइत्यन्तम् "

इयति। किञ्च "यस्मिन् सन्त्रे षाग्निशब्दाद्यं प्रतिपाद्यं घटते स एव सन्त्रोऽग्नि-
 देवतो गृह्यते " इत्यत्र सोमग्निशब्दाद्यः । लोके तु सर्वानुभूतोऽग्निरप्यग्नयः
 कश्चित्तेजस्वशात्यवच्छिन्नो द्रव्यात्मको यस्तद्यज्ञेयः, कश्चिद्देवैः, कश्चिच्च
 " अग्निः कस्मात् । अग्रणीर्भवति । अग्र्यं यज्ञं युग्मीयते अङ्गं नयति सन्मम-
 सानः ॥ अक्रोपनो भवतीति स्थीला ष्ठी चिन् वनीपयति न स्नेहयति ॥ त्रिभ्य
 आख्यातिभ्यो जायत इति शाकपूणिः, इतादृक्ताद्दग्धाद्वातीयात् । सग्लेत्रेतर-
 कारनादत्ते गकारसक्तैर्वा दृहतेर्वातीः परः ॥ इत्यादिनैरुक्तोक्तिभिः " प्रति-
 त्यं वारुमध्वरं गोपीषायप्रहृषसे । स रुद्रभिरग्न आगद्दि " इत्यादिश्रुत-
 यत्न एव कश्चिद्देवोऽग्निशब्दाद्यः । " अग्निमीहे " इत्यादिपुत्र भौति कएवा-
 ग्निपदाभिलष्यः । अत्र घेतनोऽपीतिकेचित् । " अग्निरप्यदितिरुच्यते " इत्येकादशेयारकः । एवं चानेकार्थाभिधायकत्वेऽग्निशब्दस्य प्रकृतेकोर्ष इति
 सद्यत्वेव संशयः । यस्मिन्स्यचिद्ग्रहणे घिनिगसनाविरहनादाय सर्वत्र सर्वेषा-
 मेव ग्रहणं वाच्यम् । तथा सत्यसम्भवस्यापत्तिः " अग्निर्हि नस्यभेपजम् ॥ " त्यादी
 स्यात् । ननु अत्र सर्वेषामग्निशब्दाद्योर्ना प्रतिपत्तिः सम्भवति । ननु तत्र तत्र तत्त-

यहां पूछना चाहिये कि अग्नि शब्द का अर्थ क्या है । संसार में तो आग
 को ही अग्नि कहते हैं । और कहीं २ वेद में भी अग्नि शब्द से लौकिक
 अग्नि ही ली जाती है और कहीं २ ऋचाओं में अग्नि शब्द से कोई चेतन
 देवता विशेष लिखा जाता है (जैसा कि धिक्कारकारने मूल संस्कृत में
 निरुक्तादि से बताया है) " अग्निमीहे " इत्यादि ऋचाओं में अग्नि शब्द
 से भौतिक अग्नि ही परिगृहीत होता है कोई चेतन का भी ग्रहण मानते
 हैं । यास्कनुनिने ' अदिति, को भी अग्नि माना है । जब अग्नि शब्द के
 अनेकार्थ आते हैं तो प्रकरण में क्या अर्थ है यह विचारना होगा । सर्वत्र
 सब अर्थों का ग्रहण करना तो असंभव है । " अग्निर्हि नस्यभेपजम् " यजुः
 ऐसेस्थलों में सब अर्थ कैसे परिगृहीत हो सकते हैं । इस लिये प्रकरणादि
 को न्यायक मानना ही पड़ेगा इस विशेष इतना और कहते हैं कि अग्नि
 शब्द से युक्त और अग्नि रूप अर्थ के प्रतिपादक सन्त्र का देवता-अग्नि को
 आप भी तो नहीं मानते ? जैसे " अग्निर्हि नस्य भेपजम् " इस सन्त्र का
 देवता आप भी सूर्य ही मानते हैं अग्नि को नहीं । ऐसी ही अन्यसन्त्रों में
 गति है । आपको तो अपने भाष्य की भी खबर नहीं रहती । वेदभाष्य

दग्निशब्दार्थग्रहणो प्रकरणादेरेव नियामकत्वे न विनिगमनाविरह इति चेत् सत्यं, नक्षयं प्रकरणादेर्नियामकर्ता प्रतिषेधानः । अपि तु अग्निशब्दयुक्तस्य तदर्थप्रतिषेधकस्य च मन्त्रस्य नाग्निर्देवतात्वेन भवताप्यभिमत इत्येवाभि-
 द्धमे । यथा अग्निर्हिमस्यभेषजमिति वाक्यघटितस्य मन्त्रस्य सूर्यपव देव-
 ताभिमता भवता नाग्निरिति । एवमेव च 'वातः सूर्यश्चन्द्रमा' इत्यादीना-
 मपि बोध्यम् ॥ किञ्च 'अग्निर्देवते' त्यादिमन्त्रस्य वेदभाष्यावसरैर्ऽन्य एवाश्रो-
 मिहितोऽन्नत्वन्वय एव । सोऽथोऽक्षरशः समुज्जिहपते । तथाहिः— "पदार्थः—
 (अग्निः) प्रकटः पावकः (देवता) देवपव दिव्यगुणत्वात् (वातः) पवनः
 (देवता) (सूर्यः) सविता (देवता) (चन्द्रमाः) इन्द्रः (देवता) (वसवः)
 वसुसंज्ञकाः प्रविद्वाग्भ्याद्यौष्टी (देवता) (रुद्राः) प्राणाद्य एकादश (देव-
 ता) (आदित्याः) द्वादशमासा वसुरुद्रादिसंज्ञका विद्वांसश्च (देवता) (मरुतः)
 ब्रह्माण्डस्थाः प्रसिद्धा मनुष्या विद्वांसश्चरित्वजः । मरुतं इति ऋत्विङ्नासु०
 निघं० ३ । १८ (देवता) (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणयुक्ता मनुष्याः
 पदार्थाश्च (देवता) (बृहस्पतिः) बृहस्पतिवचनस्य ब्रह्माण्डस्य वा पालकः

बनाते सम्य " अग्निर्देवता " इत्यादि मन्त्र का विभिन्न भाष्य क्रिया
 और यहाँ भिन्न ही-वेदभाष्य का अर्थ मूल में देखिये क्या है । भाष्य में
 अग्नि आदि को ही देवता बताया है और भूमिका में अग्नि आदिपदों
 से घटित मन्त्रों को देवता बताया है—यह बड़ा भारी बुद्धि वैपरीत्य है ।
 महीधर का अर्थ यहाँ समामाण है महीधर ने इष्टकोपघाम में इन मन्त्रों
 को लगाया है सो सब विद्वान् लोग मूलमें देखें । आगे चलकर स्वामी
 जीने निरुक्त के कुछ वाक्यों का उद्धरण कर के यही सिद्ध करने की चेष्टा
 की है कि वेद में देवता शब्द का मन्त्र रूप अर्थ है । निरुक्त के
 " कर्त्तुं सम्पत्तिर्ऽन्त्रो वेदे, " इस वाक्य का अर्थ स्वामी जी ने बड़ा ही
 अद्भुत किया है, न मालूम ऐसा बड़म योगिराज (?) या विद्वान् कह-
 लाने वालों को क्यों हो जाता है ? " सम्पत्तिशब्द, " का अर्थ संयोग है,
 कर्मों का कैसा संयोग स्वामी जी मानते हैं ? समझ में नहीं आता ।
 और फिर ' तथाच, ' से शुरू करके कर्मों के मोक्ष का कथन किया है ।
 यह महान् आश्चर्य है ? आपने कर्मों को मुक्ति दिलादी-ज्ञानपदपाती
 ब्रह्मा ने ज्ञानियों को ही मुक्ति दिलाई थी, पर आप ती ब्रह्मा के भी

(देवता) (इन्द्रः) विष्णुस्वामैश्वर्यं वा (त्रैलोक्यता) (वरुणाः) जलं तरगुणा-
 ष्वीर्षी वा (देवता) ॥२०॥ अन्वयः- हे स्त्रीपुत्र्या युष्माभिरग्निर्देवता वा-
 तो देवता सूर्यो देवता चन्द्रना देवता वसवो देवता इन्द्रा देवताऽऽदित्या देव-
 ता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता
 सप्तयज्ञो विज्ञो वा ॥२०॥ इति । अत्रहि-अग्न्यादीनामेव देवतात्वप्रतिपादि-
 तम् । भूमिकायां तु अग्न्यादिपदघटिनानां सन्त्रायां देवतात्वमुक्तम् । इति
 सद्गान् नतिगिपर्ययः । सहीधरकृतोपयोग्योऽप्यस्यमन्त्रस्यात्रैवोल्लिख्यते, कर्मणि
 श्येनाद्याकारतया प्रकृते षट्काचयने तद्गद्गभूतनिष्ठकीपधानं कर्म त्रिभिर्भ-
 न्नचयैराह "सा छन्दः" इत्यादिभिः । पदत्रिगच्छन्दस्या उपपत्तिः । छन्द-
 स्वानुपधानो मन्त्रआत्मानिष्टज्ञानागिति छन्दस्या षट्काः पदत्रिगदुपपत्त्या-
 दित्यर्थः । 'सा छन्दः' इत्यादिमन्त्रस्यार्थोऽग्निर्देवतेत्यादि मन्त्रार्थोपयो-
 गित्वाद्मन्त्र समुद्धारणोऽयः, तथाहिः- "छन्दस्या द्वादशद्वादशाप्येषु ना छन्दः"
 (कात्यायन सूत्र १७ ; ९।८) इति । अप्येषु पदपुच्छात्मसंचियु त्रियु

वावा ठहरे, उसको नमान कर कर्मोंके ऊपर ही दयाकर के उन्हें मुक्ति
 दिकाई ? योगियों में सब बातें घट सकती हैं ? आगे का असम्बद्ध प्रलाप
 संस्कृतकों को द्रष्टव्य है- वेही सावधान होकर देख सकते हैं कि यह अर्थ
 कहां से निकल पड़ा हन जैसे लोग ऐसे अर्थ को निकालने में अपने को सर्व-
 था असमर्थ हैं । तुरा यह है कि निरुक्त का समग्र वाक्य भी तो उद्धृत नहीं
 किया "पुरुषत्रिष्टानित्यत्वात्" इतना अंश छोड़ दिया । पूरा अर्थ वृत्ति-
 कार ने पूर्वपक्ष स्थापन करने किया है कि वेद में मन्त्र इस लिये कहे हैं
 कि बिना मन्त्रों के उच्चारण किये स्वर्गादि फल की प्राप्ति नहीं होगी इस
 लिए वेद में मन्त्रों का क्रयन आश्रयक है । अब नैरुक्त वाक्य का विवरण भी
 सुन लीजिए " अथातो देवतम् ॥ " इस वाक्य में 'किमुच्यते' ऐसा शेष करके
 स्वामी जी ने वाक्यार्थ किया है । पर यह अशुभ है क्योंकि उस वाक्य में
 'किमुच्यते' ऐसी शक्का का अवकाश ही नहीं है । वस्तुतः "अत्र इमं हेतु से
 देवतप्रकरण का व्याख्यान किया जायगा" यही अर्थ है । हेतुवर्थ यह है कि
 "पूर्व के दो प्रकरणों में गुणपदों का व्याख्यान हो चुका अब सब मन्त्रों में
 जो अवशिष्ट अग्न्यादि पद हैं वही व्याख्येय हैं इस लिए" तात्पर्य यह है
 कि इस देवतप्रकरण से देवतापदार्थ का व्याख्यान हो गा क्योंकि समग्रपुस्तकार्थ

द्वादशद्वादश छन्दस्यासंज्ञा इष्टकासपदधातीतिमुपार्थः । षट्त्रिंशद्ब्रह्मविक्रिञ्जी-
 कदेवत्यानि । नीयतइतिमा नितश्रद्धादनाच्छन्दोऽयं लोकाः । हेइष्टके । त्वं-
 तद्रूपासि । 'अयं वैलोक्योकोसाय' लोकोमितइव, (८ । ३ । ३ । ५) इतिश्रुतेः । 'ए-
 व' च' साछन्दः, इतीदमेकं यजुः अस्यचदेवता सिञ्जीकृतवान्ना एवायं लोकएवे-
 त्यर्थः । प्रथमेष्टकोपधाने चरस्यविनियोगः । द्वितीयं यजुराह — 'अस्मात्तल्लो-
 कात्प्रसीयत इति मन्त्रान्तरिक्षलोकरूपासि । 'अन्तरिक्षलोको वै मनाञ्जलरिक्ष'
 लोकोह्यस्मात्तल्लोकात्प्रमितइव, (८ । ३ । ३ । ५) इतिश्रुतेः । 'एव' च' प्रसाच्छन्दः
 इतीदं द्वितीयं यजुः अस्यच द्वितीयेष्टकोपधानेविनियोगः । सिञ्जीकृतवाच्य
 प्रनाश्रत्तरिक्षलोक एवदेवता । तथाचषट् त्रिंशत्संख्याकेन यजुराषट् त्रिंशच्छ-
 न्दस्यानामिष्टकानामुपवाचनस्मिन् कर्मणि वक्ष्यति, तत्रसर्वत्रोक्तप्रक्रियैव
 देवताविनियोगादिनिश्चयःकार्यः । "प्रतिमाद्यैः साच्छन्तरिक्षे मतिमिता । "
 अचीवैलोकः प्रतिनैषच्छन्तरिक्षलोके मतिमितइव, (८ । ३ । ३ । ५) इतिश्रुतेः ।
 अस्तीवयःअस्यते क्षिप्यतेइत्यस्त्रि अस्त्रिपतनशीलं वयोञ्जनं यस्मात्तदस्त्रिवयः
 योषं प्रखान्दसः । अस्तीवयः लोकत्रयरूपं छादनाच्छन्दस्तद्रूपासि । 'यदेपुलोके-
 ष्वन्नंतदस्तीवयोथो यदेश्यो लोकेभ्योञ्जनं स्तवतितदस्तीवय (८ । ३ । ३ । ५)
 इति श्रुतेः । इतःस्पष्टान्येव छन्दांसिपदुक्त्यादीन्यष्टौ 'अथोनिर्वचान्येव
 छन्दांथंस्थुपदधाति, (८ । ३ । ३ । ५) इतिश्रुतेः ! इष्टके । त्वंपदुक्त्यु प्तिगवृह-
 त्यनुष्टुप् विराहगायत्रीत्रिष्टुब्जगतीच्छन्दोरूपासीत्यर्थः । " इत्यनेनद्वादश
 छन्दस्यासपदध्यादिति । द्वादशच'पृथिवीछन्द, इत्यादिना । अस्मार्थः "पृथिव्या-
 दिदेवत्यानि यानिछन्दांसि तद्रूपासि । सनाःसं चत्सराः स्पष्टमन्यत् । 'यान्ये-
 तद्देवत्यानि छन्दांथंसितान्येवैतदुपदधाति, (८ । ३ । ३ । ६) इतिश्रुतेः । "एव'
 द्वादशछन्दस्या इष्टका'अग्निर्देवते'त्यादिनोपदध्यात् । 'अग्निर्देवते,त्येकेन-
 यजुषा एका वातोदेवता, इतियजुषा द्वितीया, सूर्योदेवता इतितृतीया । एव-
 सर्ववाग्नेपि । मन्त्रस्यार्थः— " इष्टके ! त्वमन्यांदिदेवतारूपासि तागुपद-
 धानीति सर्वत्र शेषः । अन्यादीनां देवतात्वमसिद्धम् । 'अग्निर्देवता वातोदे-
 वतेत्येता वैदेवताश्छन्दांथंसि तान्येवैतदुपदधाति (८ । ३ । ३ । ६) इतिश्रुतेः
 एव' त्रिहोद्दशकृत्याः षट् त्रिंशत्संख्याकाश्छन्दस्याः । एतियंजुर्गिरुपदध्या-
 दितिचयनकर्मज्ञभूते उपधानकर्मण्येवैवाशुक्तप्रक्रियया विनियोग इति
 विद्वांसएव यथायथं विवेचयन्तु । प्रकृतमनुसाराः- देवताशब्देनवेदे मन्त्रग्रहणं

निरुक्तप्रकाराणाह अत्राहयास्काचार्यो निरुक्तइत्यग्निना । तथाहि 'सं-
संपत्तिर्न-भ्रोवेदे, । ति० अ० ११४'०२ । "अग्नातीदेवगं सत्याग्निनामानि प्राधा-
न्यस्तुतीनां देवताचार्यैर्देवतानित्याद्यते सैषादेवतोपपरीक्षा यत्कानमृष्टिर्ध-
र्यादेवताचार्योपत्यनिच्छन् रतुतिप्रयुङ्क्षतेतद्देवताः समन्त्रोभवति, तास्त्रि-
विधास्तथाः प्रोक्तज्ञता प्रत्यक्षज्ञता आध्यात्मिनववश्च" ति० अ० ११४'०१॥ एतानि
निरुक्तवाक्यानि वेदेदेवताशब्दस्य मन्त्रवाच्यं शायामुपन्यस्तानि । अस्मिन्सु-
(कर्मसु०) कर्मणाभिनित्तोप्राद्यश्रवमेवःस्तानां शिल्पविद्यासाधनानां च सम्पत्तिः
संपन्नतासंयोगो सप्ततियेः समन्त्रोवेदेदेवताशब्देनयद्यतेतथाच कर्मणां स-
संपत्तिर्नोहोभवति येन परमेश्वरप्राप्तितश्च लोपिमन्त्रो नन्त्रार्थश्चाङ्गीकार्यः
इति इत्यमहृष्टुत्पूर्वोऽयं न्याग्निनाकृतः । न ज्ञायते- कयन्तेतावात् विदुषां-
योगिनापि सवतिर्गुद्विद्याभोहः । तथाहि- सम्पत्तिशब्दार्थः संयोगःकर्मणां
च कीदृशः संयोगोभिमतः स्वामिनेतिन विद्युः । किंच तथाचेत्सु-
वत्वा ' कर्मणां सम्पत्तिर्नोहोभवति ' इति यदति ।
अहो । आश्रयसाश्रयसु । कर्मणांनोहोभवति ? सम्भाव्यतेज्ञानि-
नामेव मोक्षधृतिः सालोच्यते ज्ञानैकपक्षपातीहि परमेष्ठो इतिनिराहत्य
तं कर्मदयावशब्देनदयानन्देन साक्षात्कर्मकामिन् नोहोतिरनायि । यतोहि
योगिनि युक्तमिव सर्वम् । अपिच मोक्षोभवतीत्यनन्तरं ' येन परमेश्वर-
प्राप्तितश्च लोपि मन्त्रो नन्त्रार्थश्चाङ्गीकार्यः, इति किमिदं सर्वथाप्यसम्बद्ध-
प्रसूतितुच्यते । सर्वथाप्यनर्थोऽहमशार्थान्वेषणे । किंच " कर्मसंपत्तिर्वेदे " इति वाक्यं
नैतावन्मन्त्रं निरुक्ते, अपितु " पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसंपत्तिर्मन्त्रो वेदे"
इत्येतावत् । अस्मिन्सु च वृत्तिकृता- " यदि नागाख्यातोपसर्गनिपातानाम-
परिहीना शक्तिर्देवानप्यभिधातुम्, अथकिमर्थं वेदेपन्त्रः सन्नाम्नातः" इति
'तेर्दामनुष्यवद्देवतास्त्रिधातुम्' इति नैरुक्तवाक्यप्रयोष्यं पूर्वपक्षनाशक्योत्तर-
यति- " उच्यते- ' पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसंपत्तिर्मन्त्रो वेदे' । पुरुषेषु
धनुष्येषु विद्यायाविज्ञानस्यानित्यत्वात् पुरुषविद्यानित्यत्वाद्धेतोःकर्मसंपत्तिः,
फलेन संपादनम् अविगुणकर्मसम्पत्तिः' एतत्सम्पत्तये कर्मसंपत्तिर्वेदेवैव
वेदेपन्त्रः 'सन्नाम्नात् । इति वाक्यशेषः ।" तथाच स-अनन्तरं स्वर्गादीष्ट-
साधनस्य कर्मणां वैकल्पेनेष्टाधिगम इत्यावश्यकं वेदे मन्त्रान्माननिति

समप्रवायाश्रयः । अथेदानीं " अथातो दैवतं तद्यानिनामानि" इत्यादि-
 नेरुक्त्वाश्चद्विवृतये प्रक्रमते- 'अथेत्यनन्तरं दैवतं किमुच्यते इति । प्रतीतः-
 अथातो दैवतमित्यस्य ' किमुच्यते इति शेषं योजयित्वा उक्तोऽर्थः स्वानिना
 कृतः स्यात् । तत्तुनयुक्तम्, उक्तवाक्ये किमुच्यते इत्यात्मकाशङ्कापङ्ककलङ्कान-
 वकाशात् । प्रत्युत अथेत्यनन्तरमतो हेतोः दैवतप्रकरणं व्याख्यास्यामः
 इत्येवार्थः । हेतुस्तु शाखामात्रेयावन्तो मन्त्रास्तेषु गुणपदानि चद्वैशतो
 लपयन्तरथ यथावर्थनैघण्टुकैकपदिकयोर्ह्योरपि प्रकरणीयो व्याख्यातानि ।
 संविद्यातपदानिपुनरभूनीदानीमग्न्यादीनि देवपत्न्यन्तानि प्रवानस्तुति-
 भाग्देवताविषयाणि अत्रशिष्यन्ते सर्वत्रापि मन्त्रेषु अत्रः इत्येव एव । तथाच
 देवतापरिचिन्तानुबद्धत्वाद्दखिलपुरुषार्थस्य देवतापदार्थोऽवश्यं दैवतप्रकर-
 णेनव्याख्यातव्यः इत्यर्थः । ननु अस्यप्रकरणस्यैतदभिधाने किं निमित्तमित्यत
 आहः-"तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनामिति" प्राधान्येन स्तुतिवार्त्ता
 तास्तासां देवतानामग्न्यादिदेवपत्न्यन्तानां यानिनामानि तदेव
 दैवतं प्रकरणीयस्यापद्यते आचार्यो इति शेषः । निरुद्धाहीयमेतस्मिन्
 प्रकरणे सङ्घेत्यभिप्राय इति वृत्तिकृद्दुर्गाचार्यः । इदानीं मन्त्रे
 देवता कथं परीक्षणीया, इति तत्प्रकारमाह-"सैवा देवतोपपरीक्षा, इत्यादि-
 ग्रन्थेन । एवंच यमर्थं कान्यमानः ऋषि र्यस्यां देवतायां स्तुताया नार्थ-
 पत्यं अर्चयतिभावनात्मनः इच्छन्-अग्न्याः देवताया व्याख्यानेनाहं तस्या-

देवता ज्ञान से सम्बन्ध रखता है । दैवत प्रकरण यह इस लिये कहलाता है
 कि इसमें अग्न्यादि देवताओं के नामों की ही चर्चा है । इस प्रकरण की
 दैवत" यह निरुद्ध सञ्ज्ञा है ऐसा निरुक्तवृत्तिकार दुर्गाचार्य ने लिखा है ।
 आगे चलकर निरुक्तकारने मन्त्रमें देवताकैसे जानीजाय इसका ढंग "सैवा०"
 इत्यादि ग्रन्थसे खतलाया है । जिस अर्थकी वृद्धा से ऋषि, जिस देवता की
 स्तुति करता है उस मन्त्र का वहही देवता है" इसअर्थ के निरुक्त वाक्य
 (यत्कानञ्चि० इत्यादि)का भी अन्वयाही व्याख्यान किया है । आगे चलकर
 भूमिकामे "अग्निदूतम्० इत्यादि- धात्वर्थयोगात्" यहाँ तक नजाने क्या
 चलक लुलूक लिखा है ? कहीं देवता पदार्थ मन्त्रों से भिन्नाना है ? कहीं
 मन्त्रों कोही देवता मान लिया है ? कहीं ऋतों को ही देवता माना है ।
 परस्पर स्वयं विरुद्ध कथन किया है - इसलिये येसब सम्मत्प्रलाप या

धेस्य पतिर्भविष्यामीत्येतां विचारणां विधाय स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्देवतः स
 मन्त्रो भवत्यर्थवशादित्यर्थकं हि ' यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतावासार्थपत्य-
 सिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्देवतः समन्त्रो भवतीति निरुक्तवाक्यं येषा-
 मर्थानां यानि नामानि मन्त्रोक्तानि संश्लेषविद्यन्त तानि सर्वांशुदेवतालिङ्गानि
 भवन्तीति प्रतिज्ञातमर्थं सोदाहरणं व्याचिरुयाद्युः ' अग्निं दूत ' मित्यादिकां
 यजुषां द्वाविंशतितमस्य उपतदशीं अतिमभिधाय "अत्राग्निशब्दोलिङ्गमस्ति,
 अतः किं विज्ञेयं यत्र यत्र देवतोच्यते तत्रतत्र तल्लिङ्गो मन्त्रोप्राह्य इति । यस्य
 प्रव्यस्य नानान्वितं यच्छब्दोऽस्ति, तदेव देवतमिति बोध्यम् । सा एषा देव-
 तोपपरीक्षा अतीता आगामिनिधास्ति । अत्रोच्यते- ऋषिरीश्वरः सर्वहय-
 त्कानोऽयं क्षामयमान इममर्थमुपदिशेयसिति स यत्कालः यस्यां देवतायामार्थ-
 पत्यवर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तदर्थगुणकीर्तनं प्रयुक्त-
 वामस्ति स एव मन्त्रस्तद्देवतो भवति । किञ्च यदेवार्थप्रतीतिकरणं देवतं प्रका-
 श्यं येन भवति स मन्त्रो देवताशब्दवाच्योऽस्ति इति विज्ञायते । देवता-
 मिधाज्ञाचो यामिर्विद्वान्सा सर्वाः सत्यविद्याः स्तुवन्ति प्रकाशयन्ति अथ स्तु-
 ताविति धात्वर्थयोगात्" इत्येवं रूपेण व्याचरुयौ दयानन्दः । सच्च किञ्चिन्म-
 न्त्रभिन्ना तत्प्रयुक्ता देवता यदेवतास्ते मन्त्रा भवन्तीति मन्त्रव्यतिरिक्त-
 देवताप्रतिपादानात्, किञ्चिन्मन्त्राणामेव देवतात्वोपन्यासात्, किञ्चिच्च इन्द्रसां
 देवतत्वाभिधासात् मिथोभूसाविरुद्धत्वाच्चायुक्तमेव । किञ्च 'ताः श्रुतयस्त्रिविधाः

अज्ञान का विलास है । अग्नि चलकर फिर लिखनारा है कि "ऋषा" ही देवता
 हैं । मानस होता है कहीं स्वामी जी ने सुनलिया होगा कि शब्दनयी देवता
 होती है । और ऐसा भीनासकों का सिद्धान्त भी है पर स्वामी जीने यह
 विचार नहीं किया कि विचारी शब्दनयी देवता भीनासकोंने कैरेलानी है ?
 और यह बात भी नहीं है कि किसी चेतनदेवता को भीनासक न मानते हों
 सुनने नाप्रसे सन्तुष्ट होकर किसी के सिद्धान्त को लेभगना अच्छा नहीं
 सूनी लिये आगे चलकर आपने अपने लेखने विरुद्ध, मन्त्रमिन्त देवता को
 मान लिया है ०००००० यदि मन्त्रभिन्ने कोई देवता न मानें तो लिङ्ग किसका खोजा
 जाता है? अग्ने चलकर निरुक्त वानथ का अर्थ विद्वद्विरोदकेलिये रखरार है- यह
 पण्डितों को मलभिकार ग्रन्थों ही देखना चाहिए । जिस देवता के उद्देश्य
 से यज्ञका विधान किया जाय और जिसके उद्देश्य से हवि प्रक्षिप्त हो पही

त्रिप्रकारकाः सन्तीत्यादिना 'एता एव कर्मकारणे देवताशब्दार्थाः सन्तीति
 विज्ञेयमि'त्यन्तेन 'तास्त्रिविधा ऋचः इति निरुक्तवाक्यमादाय प्रवृत्तेन
 ग्रन्थेनापि देवतात्वं श्रुचामेव प्रतिपादितम् । प्रत्येनि- कदाचित्स्वामिभि
 श्रुतमिदं कुतश्चित् स्यात्- यद्देवताशब्दमयी भवतीति । अस्ति हि गीर्वाण-
 कानामयं परमा सिद्धान्तः । नचालोचितं चारु दयानन्देन- कथमित्यं वराह्मी
 शब्दमध्येव देवतागीर्वासकसिद्धान्ततां भजत इति । यतस्तन्मतेन क्वचित्
 प्रत्याख्यतेऽपि । नच गीर्वासनामभिमतता काचिच्चेतनादेवतास्तीति ।
 एवं च यतः कृतोऽपि तन्मतश्रवणमात्रेण बुद्धिमात्मनो लभमाने वाजहारीकं
 सिद्धान्तमिति साधुभाति । अतएव 'तद्योगनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु' इत्यादि
 निरुक्तवाक्यमुद्भूत्य तदर्थप्रतिपादनावसरे मन्त्रव्यतिरिक्तां देवतामङ्गीकुर्वन्
 स्वाभिमतवयाह्वयार्थमिदोदाशहार । तथाहि- "ये खल्वनादिष्टदेवता मन्त्रा
 श्रयोऽन विशेषतो देवतादर्शनं नामार्थो वा येषु हृश्यते तेषु देवतोपपरीक्षा
 कास्तीत्यत्रोच्यते" इत्ययं भूतिकोशग्रन्थः । तत्र 'अनादिष्टदेवता मन्त्रा'
 इति वाक्यस्य न आदिष्टा साक्षाग्निर्दिष्टा देवता देवतालिङ्गा यत्र मन्त्रे ते
 अनादिष्टदेवता मन्त्रा इत्येव एवार्थः 'न विशेषतो देवतादर्शनं नामार्थो वा
 येषु हृश्यते' इत्याद्युत्तरग्रन्थबलमादाय शक्यते कर्तुम् । किंच श्रियायुक्तो
 निरुक्तवाच्यो दुर्गाचार्योऽपि वृत्तावपुमेवार्थमुपाचर्यौ । एवं च यदि मन्त्रव्य-
 तिरिक्ता काचन देवता न स्यात् कस्य तर्हि लिङ्गं तत्रान्वेष्यते दयानन्दस्व-
 मिना । मन्त्रास्तु साक्षाग्निर्दिष्टा एव, न तत्र लिङ्गान्वेषणमनापेक्षेति ।

उस यज्ञकी देवता और वही अनादिष्ट देवतालिङ्ग मन्त्रों की देवता है, यही
 बात यज्ञांग में है इस दृष्टपट अर्थ को भी स्वामी जी न समझ कर बहक
 गये । इस बातको विद्वान् लोग विचार करें । "ये खलु इत्यादि से जानन्ति
 तक" स्वामी जी काट्टीपासिष्ठत्य टपका पड़ता है । ये ही महात्मा वेदशाध्य-
 कार अपने को मानते हैं ? जो निरुक्तवाक्यार्थ निरूपण में भी जगह, २
 ठीकरें खाते हैं । स्वतन्त्रते ! तुमने अच्छा स्थान प्राप्त किया ? अधिक क्या
 कहे ? परिष्कृत बुद्धि विद्वान् लोग ही इस विषय में प्रमाण हो सकते हैं ।
 " निरुक्तवाक्यार्थनिरूपणोऽपि, पदपदैयः स्खलनं चकार ॥ निगूढवेदार्थ-
 विधानशक्तः कथंभवेत्तेति विचारणीयम् ,, अनुवादकः । आगे दृष्टिदीजिये
 "प्रायो देवता यहाँ से लेकर विज्ञायते तक ,, यहाँ मनमानी व्याख्या करके

तथाचोक्तो बहुब्रीहिरपि संगच्छते । किञ्चित्ग्निहेतवतास्वार्थोऽपि स्यादेव
 चिदुषां विनोदायेति सम्भावयामि । तथाच विद्वङ्गनविनोदपरवशत्वात्
 कानिचिदिहैवोदाह्रियन्ते वाच्यग्नि । तथाहिः- 'यद्देवता स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं
 वा तद्देवता सवन्ति' इति निरुक्तवाक्यं 'यत्र विशेषो न हरयते तत्रैवं यज्ञो
 देवता यज्ञाङ्गं वा इत्येतद्देवताख्यमिति विज्ञायते" इति व्याख्यातम् ।
 तच्च यज्ञयज्ञाङ्गयोरपि देवतात्वप्रतिपादनात् स्वोक्तविरोधि अयुक्तञ्चेति ।
 'यद्देवताः' इति पदमनाकलत्वं विहितोऽर्थ इति प्रतीयते तदनाकलनकारणं
 तु न किञ्चित्पश्यामः । तथाच यद्देवतोद्देश्यकं यज्ञस्यविधानं, यां देवता-
 सुद्दिश्य हविः प्रक्षिप्यते सा देवता तस्य यज्ञस्य, सैवचतत्र विनियुक्ताना-
 मनादिष्टदेवतासिद्धानां सन्नाशां देवता, एवं यज्ञाङ्गेऽपि योज्यम् । इति
 सुस्पष्टेऽपि वाक्यार्थे कथनयं वभाम इति विद्वांस एव विचारयन्तु । एवम-
 ग्निसोऽपि ग्रन्थस्तदवस्थे एव । तथाहिः- 'ये खलु यज्ञादन्यत्र प्रयुज्यन्ते तेवै-
 प्राजापत्याः । परमेश्वरदेवताया मन्त्रा भवन्तीत्येवं याज्ञिका मन्यन्ते । अत्रैवं
 विकल्पोऽस्ति नारायणा मनुष्यविषया इति नैरुक्तोऽयमिति । तथा या कामना
 सा कामदेवता भवतीति सकामा लौकिका जना जोनन्ति" । अहो पापिहः-यं
 दयानन्दस्य, अयमेवात्मानं वेदभाष्यकारत्वेनाभिमन्यते । यो हि निरुक्तवा-
 क्यार्थनिरूपणोऽपि पदे पदे निपतति । अयि ! कामचरते ! साधुपदमवाप्ता-
 सि । अथवा किसनरूपरूपनेन उक्तार्थसाधुतायां शास्त्रपरिशीलनप्रक्षालित-
 शेषुषीका विद्वांस एव प्रमादसु । एवमपि दीयतां हृदि । "मायो देवता
 वा अस्तित्वाचारो बहुलंलोक" इति निरुक्तवाक्यमादाय भूयोऽपि तमेवार्थ-

उपकारक कीही देवता माना है, केशीं द्योतक को देवता माना है, ऐसी दृशमें
 उपकारकत्व और द्योतकत्व दोनों धर्म तो प्रवृत्तिनिमित्तहीनहोसकते, क्योंकि
 अनेकों को प्रवृत्तिनिमित्त मानने में व्यवहार दोष आता है । "याज्ञदेव-
 तो मंत्र ,, इस निरुक्त वाक्य के अर्थ प्रति पादन में भी दयानन्द ने बहुत
 जमाई ली हैं । इस वाक्य की व्याख्या में लिखा है "मन्त्रास्तु खलु यज्ञ-
 सिद्धये० ,, इत्यादि अर्थात् यज्ञसिद्धि के लिये मन्त्रों को मुख्यहेतुता है
 इसी लिये ये " याज्ञदेवता ,, करलाते हैं, ये सब परस्पर विरुद्ध कथन
 है, यज्ञमें मंत्र किस लिये गीले जाते हैं । ऐसी आशंका कर के आपने
 स्वयं ही जबाब दिया है कि यज्ञ के समय जैसे अन्यर इन्द्रियां अन्य २

मतिदिशन्निगदाह— “एवं देवताविकल्पस्य प्रायेण लोके बहुलमाश्रयते ।
 क्वपिद्देवदेवत्यं कर्म नातृदेवत्यं विद्मद्देवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यं चैतेऽपि
 पूज्याः सत्कर्तव्याः सन्त्यतस्तेषामुपकारकर्तृत्वमात्रं देवतात्वमस्तीति वि-
 द्यायते” इति । अत्रहि उपकर्तृत्वमेव मात्रादीनां देवतात्वे प्रथोजकमुक्तम् ।
 अग्रे तु श्रोतकत्वम्, नोभयोरिकत्वम्, न प्रवृत्तिनिमित्तद्वैतं कस्यचित्कर्मभ-
 वति, अन्यथा व्यभिचारप्रसंगात् । एवं ‘याज्ञदैवतो मन्त्रः’ इति वाक्यार्थप्र-
 तिपादनेऽप्यनल्पं जम्भायितं दयानन्देन । तथाहि— ‘मन्त्रास्तु क्लृप्ता यज्ञसिद्धये
 मुख्यहेतुत्वाद्याज्ञदैवता एव सन्तीति निश्चीयते’ इति तदर्थोऽप्युपायि, तच्च-
 सिधो न लक्षिरोधित्वाद्युक्तम्, तत्र सिधोविरोधिता तावत् यज्ञे मन्त्रो-
 च्चारणं किं प्रयोजनकमित्याशङ्क्य यथा यज्ञानुष्ठानकालेऽन्यैरिन्द्रियैरभ्यर्तक्यं
 क्रियते तथा वाचा वेदमन्त्रोच्चारणत्वेन निष्प्रयोजनत्वस्य वेदरक्षणेऽवरत्त-
 वनाद्यर्थत्वेन तदनङ्गनाशश्च भवतीतीकृत्वात् । अंगत्वं हि प्रकृतोपकारक-
 त्वम् । नहि यज्ञोपकारकता मन्त्राणां क्वाप्यभिमतौ भवता । तथाच निगदे-
 नैवशब्दयतेऽधुना— ‘यज्ञसिद्धये मुख्यहेतुत्वादिति’ । अतएव ‘याज्ञदैवता एव
 सन्तीति निश्चीयते’ इत्यप्ययुक्तम् । यज्ञएव देवता येषां मन्त्राणामित्यर्थं
 याज्ञदैवतापदस्य साधुत्वमपिचिन्त्यम् । किंस्मिन्नर्थे भवन्नयेन पुनरुक्त-
 तापत्तिरपि, ‘स याज्ञो वा’ इत्यत्रापि यज्ञस्यैव भवतां देवतात्वप्रतिपादनात् ।

कार्य करती हैं तौ वाणी वेद मन्त्रों का उच्चारण करती रहै, निष्प्रयोजनता
 इस लिये नहीं है कि वेद रक्षा, और ईश्वर स्तुति आदि कार्य होते हैं ।
 इस उत्तर से पाया जाता है कि आप यज्ञ का उपकारक वेदमन्त्रों को नहीं
 मानते । उपकारकता ही अङ्गता है । सो आप अन्यत्र कहीं जानते ही नहीं
 “याज्ञदैवताः, यह पद भी “ यज्ञ ही है देवता जिन मन्त्रों का, वे मन्त्र
 याज्ञदैवत हैं, इस अर्थ में चिन्तनीय ही है । और इस अर्थमें आपकी मतमें
 “पुनरुक्ति, दोष भी है क्योंकि “स याज्ञो वा, यहाँ पर भी आपने यज्ञ
 को ही देवता माना है । ‘याज्ञदैवतो मन्त्रः, इस वाक्य का वस्तुतः अर्थ यह
 है कि “जिच मन्त्रमें कोई देवतालिंग आदिष्ट नहो वह मन्त्र, यज्ञदैवताक है
 अर्थात् उस मन्त्र का विष्णु देवता है, विष्णु शब्द से नैरुक्त लीग आदित्य-
 सूर्य का ग्रहण करते हैं । अथवा विसामन्त्र “दैवत” श्लोकनां वाहिये अर्थात्
 अग्निदेवताक समकना चाहिए । आगे चल कर स्वामी जी देवताओं की

‘याज्ञद्वैवतो मन्त्रः’ इति निरुक्त वाक्यस्य परमार्थस्तु अनादिदेवतासिंघो मन्त्रो याज्ञो वा स्यात् द्वैवतो वा इत्ययमेव ! यज्ञो देवानायस्य मन्त्रस्येति याज्ञः । यज्ञश्च विष्णुः । “विष्णुर्वै यज्ञः” इति विज्ञानात् । विष्णुश्च ‘यज्ञ किञ्चित् प्रबलितनादित्यकर्मैवतत्’ इति वक्ष्यमाणत्वात् आदित्यएव धुर्यान सनासनातो नैरुक्ताऽयम् । तथाचादित्यदेवतो मन्त्रः स इत्यर्थः । एवं द्वैवतोऽपि । देवता एव देवता अस्य मन्त्रस्यासौ द्वैवतो मन्त्रः । देवता पुनः सर्व देवेषु प्रधानत्वात् सर्वदेवतात्मत्वाच्चानिरेव । “अग्निर्वै सर्वा देवताः” इत्युक्तेः । तस्मादागतेयः स मन्त्रो वास्यःदित्यर्थः । किञ्च यज्ञसम्बन्धिनीनां देवतोर्ना परिगणनमपि ‘अत्र परिगणनं’ इत्यादिग्रन्थेन क्रियते । तथाहि— ‘गायत्र्यादिछन्दोन्विता मन्त्रा ईश्वराज्ञा यज्ञः यज्ञांगं प्रजापतिः परमेश्वरः नरः कामः विद्वान् अतिथिः माता पिता आचार्यश्चेति कर्मकारणहृदीन्प्रत्येता देवताः सन्ति । परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदेवते भवत इति निश्चयः’ । इति बृहद्देवतादिप्राचीनग्रन्थेषु नैताः क्वचिदप्यस्माभिरवलीकृता देवताः । दयानन्दस्यैवापूर्वयमाविष्कृतिरिति प्रतीतः । तत्र तावत् ‘गायत्र्यादि छन्दोन्विता मन्त्रा’ अपि देवताः सन्तीति ब्रुवाणः प्रतिवचनीयः, कस्येन देवता इति संज्ञायामेव ? उतान्यस्य ? नान्त्यः, निर्वचनासम्भवात् । देवतानाम् असम्बन्ध-प्रतिपादकवाक्यविरोधाच्च । आद्यो कथं जातनाश्रयः ? । नहि सम्भवति

गिनती करते हुए लिखते है ‘गायत्री आदि छन्दोंसे युक्त मन्त्र, ईश्वराज्ञा, यज्ञ, यज्ञांग, प्रजापति, परमेश्वर, नर, काम, विद्वान्, अतिथि, माता-पिता, आचार्य, ये सब कर्मकारणहृदीको ये देवता हैं । परन्तु मन्त्र और ईश्वर, यज्ञ देवता हैं यह निश्चय है। “बृहद्देवता” आदि प्राचीन ग्रन्थों में नही ये देवता कहीं देखे नहीं गये, बस दयानन्द की ही यह नई ईजाद है । इनसे पूछना चाहिए कि जब तुम गायत्री आदि छन्दों से युक्त मन्त्रों को देवता मानते हो तो तादृशमन्त्र किसके देवता हैं ? मन्त्रों के ही हैं वा अन्य किसी के ? अन्य किसी के तो कह ही नहीं सकते क्योंकि अन्य पदार्थान्तर कथन ही नहीं किया । और देवताओं का मन्त्रों के साथ सम्बन्ध है, ऐसे २ अपने वाक्यों का भी विरोध आवेगा । यदि पूर्वपक्ष माना जाय तो ‘आत्माश्रय’ दोष आता है । यह कैसे हो सकता है कि मन्त्रों के देवता मन्त्र ही हों ? अथवा चतुर नट भी अपने कंधे पर नहीं चढ़ सकता । (शङ्कर)

गन्त्रा एव देवता मन्त्राणाविति नहि निपुणातरोऽपि नटवरः स्वस्वस्थमारोहं प्रभवेदिति । ननु यदि कस्यचिन्मन्त्रस्य प्रतिपाद्यो विषयो मन्त्रस्वरूपनिरूपण-
नेन स्यात् अस्त्येव तस्य मन्त्रस्य तदतिरिक्तमन्त्रदेवताकत्वमिति नोक्तदोष
इति चेन्न । नैष निश्चयो भवतां, यत्तदतिरिक्तमन्त्रस्वरूपनिरूपणपरत्व-
नस्य मन्त्रस्य । तथा च मन्त्रसामान्यस्वरूपप्रतिपादकत्वात्, तस्यापि च
मन्त्रान्तर्गतत्वात् प्रस्फुट एवात्माश्रयो दोष इत्यसं पक्षवितेन ।
इतः परं 'अन्यच्च'त्यारभ्याप्रकरणपरिसमाप्ते यथाकथञ्चिदुचितप्रायमेव
सर्वमुक्तमिति न तु साम्प्रतं समीक्षामर्हति । परं तत्र तत्र दर्शन-
विरोधः, यत्किमपि प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये यतः कुतश्चित् प्रमाणोद्धरणसाहसः
वेदव्याख्यावसरेऽनुपदं विनिपातः, दयाकृतितन्त्ररीत्यतिक्रमः क्वचित्, क्वचिच्च
सर्वथानर्थाकपदविन्यासः, इत्यादयो दोषास्तु यथास्थानं स्वयमेव विद्वद्भिर्वि-
चारणीया एव ॥

अथ वेदसंज्ञा विचारः ।

“अथ कीयं वेदो नान ? मन्त्रभागसंहितेत्याह । किञ्च मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदानाम-
यदि किसी मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय, मन्त्र के स्वरूप का निरूपण करना
ही हो तो तादृशनिरूपण, मन्त्रभिन्न ही है इस लिये आत्माश्रय दोष नहीं
आसकता । (उत्तर) यह निश्चय आपका है ही नहीं कि इस मन्त्र को
देवतासिद्धित मन्त्रस्वरूप निरूपकता है । किन्तु मन्त्रसामान्यस्वरूप प्रति-
पादकता ही माननी पड़ेगी ऐसी दशा में आत्माश्रय दोष स्पष्ट ही है क्यों
कि मन्त्रसामान्यस्वरूप-मन्त्रान्तर्गत ही है । इस से आने स्वामी जी ने “अ-
न्यच्च” यहां से प्रारम्भ करके प्रकरण समाप्तिपर्यन्त प्रायः ठीक ही लिखा
है— इस लिए समीक्षा करने की आवश्यकता नहीं, पर लिखते २ कहीं दर्श-
नों का विरोध, दयाकरण की रीति का उल्लङ्घन आदि और निरर्थक पदोंका
रखना आदि बहुत से दोष हैं जिन्हें विद्वान् लोग स्वयं विचार सकते हैं ।

वेद संज्ञा विचारः—

“अथ कीयं वेदो नान— यहां से लेकर, रचितत्वाच्च यहां तक” दयान-

अथनिति कात्यायनोवतेः ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा क्लृप्ता न स्वीक्रियत इति ।
 देवं वाच्यम् । न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति । क्लृप्तः पुराणेतिहास-
 संक्षयत्वात्, वेदव्याख्यानात्, अपिभिरुक्तत्वात्, अग्नीश्वरोक्तत्वात्, का-
 त्यायनमिन्नैर्ऋषिभिः वेदसंज्ञायाः स्वीकृतत्वात्, अनुप्यबुद्धिरचित्वाच्चेति”
 एतावता भाष्यभूमिकानुच्यते हि दयानन्दो ब्राह्मणग्रन्थानामवेदतां साध-
 यितुं प्रवर्त्तते । अद् हेतुबोधार्थं निरूपिताः । हेतुत्वमप्येषां सम्भवति न
 केत्यनुपपद्येवास्माभिः निरूपयिष्यते । इदमेव तावदत्र वक्तव्यम्-यत्कीर्यं वेदो
 नभवेति प्रश्नमुत्थाप्य यदिदमुत्तरितं दयानन्देन-मन्त्रभागसंहितेत्याह” किन्तु
 तात्पर्यमिति ? अथपि ‘मन्त्रभासंहिता’ इति पदस्य साधुत्वमपि चिन्त्यं,
 तथापि किमतेनेति क्लृप्त्वा एतदेव विचार्यते-अत्रपदे योज्यं भागशब्दः स
 कनर्थमाह इति । भागः, अंशः, अवयवः, इत्येतेपर्याया एव, तथाचति ‘मन्त्र-
 भागो वेदः’ इत्युक्ते कस्य भागः इत्याकांक्षा जायते, सांघाशिनमन्त्राणुपप-
 द्यनाना फलप्यंशिनमवयवित्वेन वा कल्पयति । तस्य च मन्त्रात्मकभागं विहाय
 काश्चिदन्वयोप भागोऽस्ति इति स्पष्टमेव विज्ञायते । सध ब्राह्मणत्वरूपेव ।
 एवं दयानन्दः स्वधृत्वेनैव ब्राह्मणानां वेदत्वमाह । अन्यथा सर्वेऽपि तन्मत-
 नुयापिनो यथाकथमपि निरुक्तपदस्य भागशब्दस्य प्रयोजनं प्रदर्शयन्तु वर्षसह-

न्द ने ब्राह्मण ग्रन्थों की अवेदता सिद्धि के लिये यत्न किया है । और इस
 विषय में ई खः हेतु दिये हैं, ये हेतु कैसे हैं ? इसकी सफाई अभी आगे चल
 कर होजायगी । अभी तौ हमें यही कहना है कि “वेद क्या है-?, इस प्रश्न
 के उत्तर में ‘मन्त्र भाग संहिता’ ऐसा लिखा है, यह सर्वथा अपने मत के
 ऊपर ही कुठाराघात है । विचारिये- इस उत्तर का क्या तात्पर्य है ? इस
 उत्तर में जो भाग शब्द है, वह अंश वा अवयववाची ही माना जासकता है,
 अर्थात् तौ “वेद-मन्त्रभाग है” ऐसा कहने से किसका भाग है ? यह अवश्य
 आकांक्षा होगी । और उम आकांक्षा की पूर्ति के लिये अवश्य कोई अवयवी
 नामना पड़ेगा तौ यह सिद्ध हो जायगा कि मन्त्रभाग से अतिरिक्त भी
 कोई भाग है और यह ब्राह्मणभाग ही तौ है, वस इस प्रकार से दयानन्द ने
 अपने मुद्दे से ही ब्राह्मणों को वेद मान लिया । अन्यथा दयानन्दी लोग
 भाग शब्दका प्रयोजन हजार वर्ष लगाकर भी यत्नाये- उमे हन सम्मानपूर्वक
 करन लेंगे । “ब्राह्मणों को वेदत्व नहीं है” इसके साधन के लिये जो आप

इत्येवमपि इति स बहुमानमस्माभिसद्गोप्यते । किंच ब्राह्मणानां वेदसंज्ञक-
 रभाभावसिद्धये प्रदर्शिता हेतवोऽपि साध्यमर्थे यथायथं साध्यमिति नवा इत्यपि
 नाप्रतं विवेचनीयम् । तत्रादिना हेतुः- 'पुराणेतिहाससंज्ञकत्वमिति' । अनु-
 नानमयोगवेदशः- ब्राह्मणग्रन्था वेदसंज्ञकत्वाभावस्ततः पुराणेतिहाससंज्ञक-
 त्वात् । एतच्चायुक्तम्— ब्राह्मणानामैतरेयादीनां वेदसंज्ञकरत्वाभावं सिपा-
 धयिषुर्भवान्कथमिव तेषामसिद्धमेवाद्यावधिपुराणेतिहाससंज्ञकत्वं हेतुत्वे-
 नोपन्यस्येत ? अथ पुरातनार्थप्रतिपादकत्वात् ऐतिहासिकार्थप्रतिपादकरत्वाच्च
 पुराणेतिहाससंज्ञकत्वं सिद्धमेव ब्राह्मणानामेवेति चेत्-नैतादृशपुराणेतिहास-
 संज्ञकत्वं न वेदसंज्ञकरत्वविरोधि । निरीक्षितवयेन् कश्चिदनयोः संज्ञयोर्विरोधो
 भवता, तर्हि व्यापट्टाम्, यदि चेतिकृत्ताभिधुपु भारतादिषु पुराणाभिधेषु पा-
 द्यादिषु च वेदव्यवहाराभावात्पुराणेतिहाससंज्ञकत्वमभ्येत्येव वेदसंज्ञकरत्ववि-
 रोधीति चेत् तर्हि पाष्मभारतादीनां पुराणेतिहाससंज्ञकरत्वमन्यवानो भवान्
 कथमिदम्युक्तमप्युक्तं शक्युयात् । एवं च न पुरातनार्थप्रतिपादकरत्वनाञ्चं
 वेदसंज्ञानपाकत्वं नहति । वेदानां त्रैकालिकार्थप्रतिपादकरत्वं तु सर्वास्ति-
 कृतं ब्राह्मीकृतमेव । किञ्च त्रैकालिकनयनसिद्धयतो वेदाः पुरातनार्थमपि प्रति-

ने हेतु द्विये हिं—वे भी विचारणीय हिं । (१) पक्षो हेतु यह है कि "पुरा-
 णेतिहाससंज्ञकत्वमिति । यहाँ ऐसा अनुमान प्रयोग होगा— ब्राह्मणग्रन्थ
 वेदसंज्ञक नहीं हैं, पुराण वा इतिहास संज्ञा होने से, परन्तु पुराणेतिहास-
 संज्ञकत्व हेतु का अन्यास अयुक्त है क्योंकि ऐतरेयादि ब्राह्मणों की पुराण
 वा इतिहास संज्ञा अभी अथ सिद्ध ही नहीं हुई । यदि कहें कि पुराणने अर्थ
 के प्रतिपादक होने से पुराणत्व और ऐतिहासिक अर्थ के प्रतिपादक होने से
 इतिहासत्व ब्राह्मणग्रन्थों का सिद्ध ही है, तो ऐसा पुराणत्व वा इतिहासत्व
 वेदसंज्ञा होने का विरोधी नहीं हो सकता । ब्राह्मणग्रन्थ वेदसंज्ञक भी रहें
 और पुराणेतिहाससंज्ञक भी, दोनों संज्ञाओं का कहां विरोध आपने देखा
 है ! कहीं देखा हो तो बताइये । यदि कहें कि सद्भाभारत, पद्मपुराणा-
 दिकों में इतिहासत्व, पुराणत्व प्रसिद्ध हैं और वेदसंज्ञकत्वाभाव प्रसिद्ध है
 तो यह भी आप नहीं कह सकते क्योंकि आपकी उन्हें इतिहास या पुराण
 जानते ही नहीं ? आप न जान कर यह कैसे कह सकते हैं ? इस लिये
 पुरातन-अर्थका प्रतिपादक होना—वेदसंज्ञा का विरोधी नहीं है । वेद

पादयन्तीति तेषानप्युक्तहेतुनाऽवेदत्वमेवस्यात् । तस्मात्पुराणोतिहाससंज्ञक-
त्वादित्ययं हेतुत्वाभास एव किञ्चिद्ब्राह्मणानां वेदसंज्ञकत्वाभावे हेतुत्वेनोपन्यस्तस्य
पुराणोतिहाससंज्ञकत्वस्य ब्राह्मणानां वेदसंज्ञकत्वाभावेऽहेतुत्वोदपि नोक्तं सा-
धीयः । अकृत्स्नैरवस्तुनो नानानामधेयत्वं कस्याप्यनुभवविरुद्धम् । एकपक्ष
कृत्स्नग्रीवादिभ्यो पदार्थो घटः कलशो द्रव्यमित्येषं उच्यते अत एव इत्यस्ति
आभिधानिकानामनुभवः । तस्मादितिहासादिसंज्ञकत्वेन वेदसंज्ञकत्वाभास-
साधनभाषानोदकमात्रम् । वेदव्याख्यानादित्यपरो हेतुरपि न ब्राह्मणानां
वेदसंज्ञकत्वाभावसाधकः । तथाहि—अत्र ब्राह्मणानि न वेदाः वेदव्याख्यानरू-
पत्वात् इत्येव न्यायकारः संभवति । हेतुश्चायमनैकान्तिकः । वेदपदस्य प-
देषुवाच्यकलापस्य पदान्तरैरुपार्थक्यं न हि वेदव्याख्यानं नाम । तच्च वेदं वेद-
मन्त्रे षड्पुलभ्यते ।—

“प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वारूपसि परितामभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो
अस्तु वयं शंस्यामपतयो रयीणाम्” इति याज्ञुषोमन्त्रः । ७० २३६ म० ६५

“प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानि परितामभूव । यत्कामास्ते
जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं शंस्यामपतयो रयीणाम्” इत्युच्यते ।

“नवो नवो भवसि जायमानोऽन्हाङ्के तुरुपसामेष्यग्रम् । भागं देवेभ्यो विदधास्या-
यन्मघन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः” इत्याचर्वणः ।

तीनों कालों के अर्थ को बतलाने वाले हैं- यह बात सब आस्तिक मानते हैं
तीनों कालों के अर्थों को कहने वाले वेद पुरातन अर्थ को भी प्रतिपादन
करते ही हैं इसलिये आप के दिये हेतुसे वेदपी वेद नहीं रहेंगे । इस
लिये पुराणोतिहाससंज्ञकत्वात् यह हेतु नहीं हेत्वाभाव है ।
ब्राह्मण यदि वेदसंज्ञक भी और पुराणादि संज्ञकभी रहें तो क्या कति है ?
एक वस्तु को अनेक नाम से सार में देखेही जाते हैं । जैसे एकही चढ़को कलश
घट, द्रव्य, इत्यादि अनेक नामों से पुकारते हैं । इस उक्त हेतुसे ब्राह्मणों
को अवेदत्व विद्व करना आशा मोदकमात्र है । ब्राह्मणों के वेद न होने में
वेदसंज्ञकत्वात् आपने यह दिया है कि 'वेदव्याख्यानात्, यह भी हेत्वाभाव है
फो' कि व्यभिचारी है । यहाँ पर न्याय प्रयोग इस प्रकार रहेगा । ब्राह्मण,
वेद नहीं है, वेदों के व्याख्यान रूप होने से । अब विचारिये - वेदों का
व्याख्यान क्या है ? वेदसंज्ञकों का दूसरेपदोंसे अर्थबतलाना ही वेदव्याख्यान

“नवो नवो भवतिजायमानोऽन्हाङ्कं तुरुषसा मेत्स्यम् । भागं देवेभ्यो वि-
दधात्यायं प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घनायुः” इ यृषः ॥ प्रथमयोर्मन्त्रयो विश्वा-
रूपाणीतिपदघटितादाद्यमन्त्राद्विश्वाजातानीतिपदघटितस्य द्वितीयमन्त्रस्य
धरमयोश्च भवसिजायमान इतिचषभानेऽस्मिन्निति विदधास्याय-
न्निति च विलक्षणपदघटितादाद्यमन्त्राच्चतुर्थस्य मन्त्रस्यभवति
जायमान इति उच्यतेत्यस्मिन्निति विदधात्यायमित्तिच विलक्षण-
पदघटितत्वेन भिन्नतयावेदपदानां पदान्तरेणार्थकथनरूपस्यवेदव्याख्यानत्व-
स्यदुरपन्हवतया तदन्तर्भावैशैवानैकान्तिकम् । अयञ्चहेतुःस्मर्यमाणकर्तृ-
कत्वस्योपाधे त्रियसानत्वात् सौपाधिकेऽपि । तथाहि—यत्रयत्र वेदत्वाभावो
सद्भाभारतादिग्रन्थे तत्रतत्र स्मर्यमाणकर्तृकत्वमितिसाध्यव्यापकत्वम् ।
वेदव्याख्यानरूपत्वहेतुस्तुपूर्वोक्तैश्चनीयु वेदमन्त्रेष्वपि, नचतत्रस्मर्यमाण-
कर्तृकत्वमितिसाधनाद्यापकत्वम् । तस्माद्भवत्येवोपाधिःस्मर्यमाणकर्तृ-
कत्वमिति । अल्लन्यायप्रयोगोपरिचितस्य पदवाक्यप्रमाणानभिज्ञस्या-
धिकप्रत्याख्यानेन ऋषिभिरुक्तत्वादित्ययमपि हेतुर्नोक्तार्थसाधकः । अत्रहि
ब्राह्मणानि नवेदाऋषिभिरुक्तत्वादित्ययमेवत्यायाकारः। ऋष्युक्तत्वस्यऋगादि-
साधारणत्वादासाधकोऽप्यहेतुः । ऋगादीनप्यपाठिषुरेवमहर्षयो नतावता-
तेषांवेदत्वव्यापातः। यदि ऋष्युक्तत्वपदेन ऋषिप्रणीतत्वमेवाभिप्रोयते भवता

कहा जासकता है, सो ऐसा व्याख्यान तीस्वयं वेदमन्त्रों में भी विद्यमान
है— देखिये “मजापते०” यह मन्त्र यजुर्वेद अ०२३म०६१ का है । और ऐसा ही
मन्त्र ऋग्वेद का है । “नवोनवो०” यह मन्त्र अथर्वण वेदमें है और ऐसा
ही ऋग्वेद में । इन मूलग्रन्थोंके मन्त्रों में कहीं २ समानार्थक पदों काही
सेद है। अर्थात् तत्तत्पद व्याख्यान स्वरूप ही हैं। इसलिये “वेदव्याख्यानात्”
यहहेतु ध्यमिचारी है । और यहहेतु व्याप्यत्वासिद्धिभी है क्योंकि कि इसमेंस्मर्य-
माण कर्तृकत्व रूपउपाधि विद्यमान है । इसलिये कि भारतादि पेंजहर्षवेदत्वइष्ट
नहीं यहाँ स्मर्यमाणकर्तृकता (जिनके कर्तास्मरण किये जायं) है और वेद-
व्याख्यान रूपहेतु, पूर्वोक्तमन्त्रों में है, वहाँ स्मर्यमाण कर्तृकता नहीं
है । जो न्याय प्रयोग कौं जानते ही नहीं उनकेग्रन्थ का अधिक खण्डनकर-
नावयर्थ है । आपका तीसरा हेतु ऋषिभिरुक्तत्वात् ऋषियों ने ब्राह्मण ग्रन्थ
बनाये हैं, यहअर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ वेदनहीं क्योंकि ऋषियों नेबनाये हैं यह
न्यायका आकार है । इसन्याय, ऋष्युक्तत्वहेतुसाधक नहीं है क्योंकिऋष्युक्त

सोपु दर्शनाञ्जनकादिकालान्तर- गतवस्तुत्पत्तिभरत्वं ब्राह्मणानामुत्प्रेक्षते, तथा सूर्यचन्द्रनक्षत्रवित्तिश्रुतेषु पूर्वा-व-द्रुतयोः सृष्ट्यभिधायकरत्वेन तदुत्पत्ति-कालानन्तरकालोत्पत्तिकरत्वेनानि यत्त्वं स्यादिति वृद्धिमिच्छतस्त्वंमूलस्यापि हानिरिति महदनिष्टमेतत्प्रसज्येत । तस्मात् सूर्याचन्द्रनक्षत्रोःसृष्ट्यभिधायको-ऽपि वेदो न तदुत्पत्तिकालानन्तरकालोत्पत्तिको वेदवानथानानर्थपूर्वकरविर-हादित्यनायत्याऽभिदधानो भवात्कस्मादकस्मादेव ब्राह्मणानां वेदत्वानपनपते। तथाचयाज्ञादलस्यजनकादिनामदर्शनमात्रं नावेदत्वमाधत्तं ब्राह्मणानामिति शम् । इतः परं " अनीश्वरोक्तत्वा " इति हेतुस्तु सर्वथाप्युपेक्षणीय एव। यतोहि- 'अनीश्वरोक्तत्वम्' ईश्वर-भिन्नोक्तत्वेनैव ग्राह्यम् तस्य ऋष्युक्तत्व-नाधारणमिति पूर्वोक्तहेतोरनतिरिक्तत्वात् पुनरुक्तत्वरूपनिग्रहस्थाना-पत्तिः । एवं गिरुक्तहेतुप्रत्याख्यानप्रक्रियाऽत्राप्यतिदेश्या विद्वद्भिरित्यु-परम्यतेऽस्माभिः ।

बतलान् तौ तुम्हारी क्या हानि है ? यदि ऐसा न माने तो " सूर्य-चन्द्रनक्षत्रो " इत्यादि संहिताभाग का भी अवेदत्व मानना पड़ेगा। क्योंकि जैसे जनक याज्ञवल्क्य आदि के संवाद आत्राने से जनकादि के समय के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों को माना जाता है वैसे ही सूर्य चांद्र की उत्पत्ति के बाद ही वेदों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी-इस प्रकार मानने से वेदों को अनित्यतापत्तिहोगी। इस तरह मूल वेद भी उड़ जायेंगे-यह बड़ा अनिष्ट होगा। इसलिये सूर्य चांद्र आदि की सृष्टि बतलाने वाला भी उनकी उत्पत्तिके बाद नहीं मानना चाहिये, क्योंकि वेद वाक्य अर्थ पूर्वक नहीं होते " ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमयोऽनुधावत् " यह बात अगत्या आपको भी स्वीकार करनी पड़ेगी। इससे सिद्ध होता है कि याज्ञवल्क्य जनकादिका नाम आत्रानां मात्र, ब्राह्मण ग्रन्थों को अवेदता का साधन नहीं। इससे वाद चौथा हेतु "अनीश्वरोक्तत्वात् " यह भी उपेक्षणीय है, क्योंकि 'अनीश्वरोक्तत्व' क्या वस्तु है। इस का विचार करने पर यही कहा जा सकता है कि जो ईश्वर से भिन्न ऋषियों से कहा गया हो तो यही वात " ऋष्युक्तत्वात् " इस पूर्व हेतु से प्रसिद्ध है इसलिये यह पुनरुक्ति रूप निग्रहस्थानोपत्ति है। जो बातें पूर्व हेतु के खण्डनार्थ पेश की हैं वे सब बातें यहाँ भी उद्धरावनीय हैं।

अथ " कात्यायनमिन्नै ऋषिभिर्वेदमञ्जायानस्वीकृतं यात् " इत्ययं पञ्चमीहेतु ब्राह्मणानां वेदत्वभावसाधकः । वस्तुतस्त्वयं साहसोक्तिरेव केवलं दयानन्दस्य । कात्यायनमिन्नेनापस्तम्बेनापि " मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् " इत्यादि मन्त्रपरिभाषासूत्रेषु ब्राह्मणानां वेदत्वस्य स्पष्टमुक्तत्वात् किञ्च सर्वाम्भित्कगिरीधार्यं जैमिनीयदर्शने द्वितीयाध्यायान्तर्गतमध्यमपादस्य द्वात्रिंशत्तमे सूत्रे मन्त्रं किलक्षयिषुरीचार्यो जैमिनिरिव प्रतिपादयामास, - "तस्रोर्वेदेषु मन्त्राख्याः" शेषे ब्राह्मणशब्दः" इति । अत्रहि "शेषे ब्राह्मणशब्दः" इति द्वितीय सूत्रीत्या शेषे मन्त्रभागादवशिष्टे वेदैकदेशे ब्राह्मणशब्द इत्यर्थाद् वेदस्य मन्त्रब्राह्मणत्वात्कप्रभेदद्वयवत्त्वसिद्धिः । यद्याचार्यो वेदैकभागत्वनवावागमिष्यद् ब्राह्मणस्य, कथमसौव्यधास्यत "शेषे ब्राह्मणशब्दः" इति नहि महामारताच-रामासजं शेष इत्यनुमत्तः कदाप्याचक्षीत । तस्मादवश्यं शेषशब्दमहिम्नाऽऽचार्यस्य ब्राह्मणे वेदभागत्वमभिमतमित्यवगम्यते । अत एव ब्राह्मणस्वरूपनिर्वचनप्रकरणे शब्दस्वामिनोऽपि "अथ किलक्षयं ब्राह्मणम् । मन्त्राश्च ब्राह्मणान् वेदः । तत्र मन्त्रलक्षणं वक्तुं परिशेषसिद्धत्वाद्ब्राह्मणलक्षणमवचनीयम् । मन्त्रलक्षणमवचनेनैव सिद्धं यस्यैतल्लक्षणं न सम्भवति-

" कात्यायन से भिन्न ऋषियों ने ब्राह्मणों को वेद संज्ञा नहीं मानी " यह पांचवां हेतु है । वस्तुतः यह भी दयानन्द का साहसमात्र है । क्योंकि कात्यायन से भिन्न आपस्तम्ब ऋषिने " यज्ञपरिभाषा सूत्रो" में "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस प्रकार स्पष्ट ही ब्राह्मणों को वेदत्व माना है । और देखिये- महर्षि जैमिनि ने अपने मीमांसा सूत्रों में लिखा है "शेषे ब्राह्मणशब्दः" अ० २ पा १ सू० ३२ । यहां पर अर्थ किया है कि मन्त्रभाग से अचे हुए वेदैकदेश में ब्राह्मण शब्द आता है अर्थात् वेद के दो भेद हैं १ मन्त्र, दूसरा ब्राह्मण (यदि जैमिनि आचार्य वेदैकदेश, ब्राह्मणों को न मानते तो "शेषे ब्राह्मणशब्दः" ऐसा न कहते । महाभारत का रासायण ग्रन्थ "शेष" है ऐसा कोई भी समझदार नहीं कह सकता- इस लिये अवश्य जानना चाहिये कि जैमिनि आचार्य, ब्राह्मणों को वेद मानते हैं । इसी लिये जैमिनि सूत्रों के भाष्यकार शब्दस्वामी लिखते हैं "अथ किं लक्षणं ब्राह्मणमित्यादि, तात्पर्यं यही है कि ब्राह्मणों को वेदत्व है । ऐसी स्थिति में "कात्यायनसे भिन्न ऋषियों ने ब्राह्मणों को वेद संज्ञा नहीं मानी, ऐसा

यद्वा ब्राह्मणमिति परिशेषसिद्धिं ब्राह्मणमिति व्युत्पत्तयत्कालात्प्रायः ननु नै-
 कादिभिर्वेदसंज्ञायाः न स्यात्कृतत्वात्, इति कुर्ध्वमप्रलपन् सतांशोचनीयो लोका-
 चांशोपहसनीय एव । किन्नायं दुराग्र इति लोको "ब्राह्मणं गवेदः" इत्येतादृशं
 नपुनर्यद्वेदापितुमानासिद्धस्य कस्यापि धान्यं दर्शयेत्तदासी "कात्यायन-
 भिन्नैश्चरिभिर्वेदसंज्ञायाः न स्यात्कृतत्वात्, इति वक्तुं क्षयेतापीत्यलं पल्लवितेन ।
 'मनुष्यबुद्धिरचितत्वात्, इत्ययमग्निनीहेतुः । अत्र हि ब्राह्मणानि वेदागम-
 वन्ति मनुष्यबुद्धिरचितत्वात्, इत्येवमन्यायप्रयोगः सम्भवति । सच सर्वथाप्यन-
 वगतन्यायप्रयोगस्य प्रयोगः । मनुष्यबुद्धिरचितत्वसिद्धयनन्तरमेव ब्राह्मणेषु
 वेदत्वाभावः साध्यितुं शक्यते, तत्तुनाद्यापि सिद्धम् । अपिच महर्षिर्गीतमो
 वेदप्रामाण्यनिरूपणसरे स्थूला निखनन न्यायेन वेदस्यैव प्रामाण्यं ब्रह्मयितुमा-
 शयञ्छे "तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुद्देश्यम्" इति । तत्रानृतादीनां
 योन्मुदाहरणान्युपात्तानि वात्स्यायनमुनिना तानिसर्वांशं ब्राह्मणग्रन्थानामेव
 अतएवोपर्यनृतं ब्राह्मणानां वेदत्वमिति । अतु "यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु
 मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति न चैव गन्त्रभागे" इति
 तन्न, विश्वारासहत्वात् । तथा हि-लौकिकेति पृत्तप्रदर्शनं ब्राह्मणग्रन्थेषु किंतेषां
 अक्षरक चितत्वपरिचयकमुतापीरूपेण वाभासप्रयोजकनयादिमत्ताप्रयो-

धर्म्य कहने वाला, सत्पुरुषों को शोचनीय है और इन्हीं का पात्र है । यह
 दुराग्रही महात्मा "ब्राह्मण, वेद नहीं है" ऐसा-श्लघिका क्या किसी प्रामाणिक
 का भी यदि वचन दिखादेता ही उपयुक्त वचन कहनी सकता था । अस्तु
 क्या अधिक विस्तार किया जाय । सबसे अन्त में, ब्राह्मणों के वेद नहोने में
 यह हेतु दिया है कि "मनुष्य बुद्धिरचितत्वात्" अर्थात् ब्राह्मण मनुष्यों की
 बुद्धि से रचित हैं । यहाँ ऐसा न्यायाकार होगा, ब्राह्मण, वेद नहीं है, मनु-
 ष्यबुद्धिरचित होने से, । पर ऐसा प्रयोग न्यायशास्त्रानुसिद्धाकाही होसकता है
 यहाँ कि मनुष्यबुद्धिरचितत्वरूप- हेतु की सिद्धि होने के बाद ही इसहेतु
 से ब्राह्मणों में वेदत्वाभाव सिद्ध किया जासकता है, सो अभीपर्यन्त हेतु सिद्ध
 ही नहीं है । दूसरी बात यह है कि महर्षि गीतम ने वेदों का प्रामाण्यनि-
 रूपण करने के अवसर में वेद की प्रामाण्यता को हट करने के लिये आशङ्का
 की है कि "तदप्रामाण्यमित्यादि" इस सूत्रमें अमृतादिकों के वात्स्यायन
 मुनिने गितने उदाहरण दिये हैं वेसब ब्राह्मणग्रन्थों के ही दिये हैं । इससे

कथमिति ? नाद्यः- ग्रन्थेलौकिकेतिहासदर्शनस्य वञ्चकरचित्तव्यभि-
 चारित्वात् । महिसर्षोःीतिहासो लोकेवञ्चके र्थ्यंवीत्युपेक्षेताप्यनुत्पत्ताः
 कश्चिदिति । नद्वितीयः-वेदानां सर्वविद्यास्थानतया सृष्ट्युत्पत्त्यादि क्रमाभि-
 थानवत् प्रकृतजनसौकर्याय याज्ञवल्क्यप्रभृतिनामपुराणैः ब्रह्मविद्याय पदे-
 शस्यापि वेदेषु पपन्नत्वात् । अपौरुषेयत्वमपि वेदस्य तदवस्थमेव । नतृतीयः
 नादिचतादृशीणां नामनात्रदशनेनैत्रां लक्ष्येषु सादिमत्त्वशङ्का इत्यस्यान्यत्रोक्त-
 त्वात् । किञ्च 'तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणो तिहासादिनामास्तीत्यादिनां
 कुतः ? ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावत् इत्यन्तेन गन्थेन यत्प्राह
 तदिदं सर्वमपि तस्य शास्त्रानवबोधनिवन्धनविहन्मनामात्रम् । वात्स्यायन-
 मुनिर्नाहि 'प्रसाक्षं नदृष्टुं ब्राह्मणं नेतिहासपुराणां प्रासाख्यमन्यनुहायते
 इत्युक्तम् । तत्प्रानाययमङ्गीकुर्वाणश्चायं कथमितिहासपुराणात्मकतां ब्राह्म-
 णस्याभ्युपगच्छेत् । तथात्वेनहि ब्राह्मणं नब्राह्मणप्रासाख्यवस्थापनं युक्त-
 स्यादिति । अपिच 'तत्र देवाहुराः संयत्ता आसन्नित्यादिना 'जगतः पूर्वा-
 वस्थाकथनपूर्वकाणिवचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ग्राह्याणीत्यन्तेन
 गन्थेन यत्प्रललापाभ्यं मुण्डो, तदिदमस्याभ्यत्यनिष्ठापादकम् ।
 सिद्धं हि किं महर्षि गोतम और वात्स्यायन मुनि द्वौ ब्राह्मणौ को वेद

ज्ञानते हैं । और गोतम सूत्रतया वात्स्यायन भाष्य को स्वामी दयानन्दने
 अपने बनाये सत्यार्थप्रकाश में भी प्रसाख कोटि में माना है आगे चलकर
 स्वामी जीने लिखा है कि "ब्राह्मण ग्रन्थों में मनुष्यों के नामोक्तेखपूर्वकजैसे
 इतिहास पायेजाते हैं, जैसे मन्त्र भाग में मही" यह भी सनका लेख, अवि-
 चार से है, देखिये- लौकिक इतिहासों का ब्राह्मणग्रन्थों में आना क्या
 इस बातका परिचायक है कि (१) वेदुतों के बनाये हैं ? अथवा इतिहास
 आने से वे(२)पौरुषेय होगये ? अथवा (३) अनादि नहोंरहे ? यह १ तापत्र
 इन लिये ठीक नहीं कि लौकिक इतिहासों का दिखाना धूर्त रचित होने
 का प्रसाख नहीं क्यों कि इतिहास ग्रन्थों के कर्ता धूर्तहोते हैं- इस बातकी
 कोई भी समझदार नहीं मान सकता । द्वितीय पक्षभी ठीक नहीं क्यों कि
 वेदों को सब विद्याओं का स्थान बतलाया है सृष्टि की उत्पत्ति आदि
 के क्रम के कथन की तरह साधारण मनुष्यों को समझाने लिये याज्ञवल्क्य
 दिनाम लेतेकर ब्रह्मविद्या का उपदेश देना सुषंगत है । इससे वेदकी अपौ-

यत्तथासति " हिरण्यगर्भः समवर्त्तताये " ऋ० ७ अ० ७ व० सं० ३॥ "अहं
 मनुर्भवं सूर्यश्चाह" क्लीवां ऋषिरस्मि विप्रः " अथ० १ अ० ३ अ० ६ व० १६
 न० ॥ इत्यादिर्संहिताभागस्यापि ऐतिहासिकार्थप्रतिपादकतया पुराणत्व-
 पत्तिदुर्वारैव स्यात् । निरुक्तसंहितानन्त्रस्य सृष्टिपूर्वकालीनार्थप्रतिपादकत्वेन
 निरुक्तभवंदमिमतेतिहासपदार्थताया अवर्जनीयत्वात् । प्रजायंन्ते " यस्माद्-
 द्वाह्याणानीति सञ्ज्ञीपदमितिहासादिस्तेषां सञ्ज्ञंति, तद्यथा ब्राह्मणान्येवेति-
 हासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंभीश्चेति " । तदिदमस्य
 कथनं हास्यायैव केवलम् । प्रमाणमन्तरेणैव ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानी-
 यात् इतिवदन्कथं देवानांप्रियो हास्यास्पदीसूतो न स्यात् । किञ्च ' सञ्ज्ञी-
 पद' मित्यत्र 'सञ्ज्ञिप्रदमितिवक्तव्येदीर्घो' करणसंयुत्पन्नतामेवास्य द्रढयति ।
 यत्तूक्तं " अन्यदप्यत्र प्रमाणमस्तिन्यायदर्शनभाष्ये ' वाक्यविभागस्य चार्थ-
 ग्रहणात्' अ० २ अ० २ सू० ६० । अस्योपरिवात्स्वयानभाष्यम्- ' प्रमाणं
 शब्दे यथालोके विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः' । अयमभिप्रायः-

रुषेयंतानष्ट नहीं होती । तृतीयपक्ष भी श्रुत है, क्योंकि ऋषियों के नाम
 मात्र आजाने से ब्राह्मण ग्रन्थों के सादिनस्व की शङ्का नहीं हो सकती, यह
 बात स्थानान्तर में पुरुषष्ट निरूपित है । आगे चलकर "तथा ब्राह्मण ग्रन्थान-
 नानेव" त्यादि,, ग्रन्थसे जो ब्राह्मण ग्रन्थों का ही पुराण, इतिहास, नाम
 घटाया है, वह भी शास्त्रानभिज्ञताका बोधक है ! क्योंकि जिसवात्स्यायन मुनि
 के भाष्य की व प्रमाण कोटि में मानते हैं वही वात्स्यायनमुनि लिखते हैं
 "प्रमाणेन खलु०" इत्यादि । अर्थात् प्रमाणभूत ब्राह्मण ग्रन्थों से ही
 इतिहासपुराणों का प्रामाण्य सिद्ध है, वात्स्यायन को प्रमाण मानते हुए
 ब्राह्मणों को इतिहास पुराण नाम कैसे दे सकते हैं ? ब्राह्मणसे ही ब्राह्मण
 का प्रामाण्य व्यवस्थापित करना अपुक्त है । " आगे चलकर " तत्र देवापुरा
 इत्यादि ब्राह्मणि " इत्येतत्पर्यन्त को लुक् मुण्डो ने प्रलाप किया है, की
 यह उसने सिये भी अनिष्टापादक है क्योंकि " हिरण्यगर्भः ० अहं मनु-
 र्भवं " इत्यादि मन्त्रों को ऐतिहासिक अर्थका प्रतिपादक होने से संहिता
 साग को भी दुर्निवार पुराणता प्राप्त होगी । पूर्वोक्त मन्त्र, जधकि सृष्टि से
 भी पूर्वकालीन अर्थका प्रतिपादक है तो आपके कथनानुसार उसमें भी इति-
 हासो बंधकता आगई । " यस्माद् ब्राह्मणानि " इत्यादि ग्रन्थ से ब्राह्मणों

ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव न वैदिका इति" तदस्य दुर्भाषलोकत्वबोध-
यति । तथाहि—“प्रभाषां शब्दो यथालौके विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां
त्रिविधः” इति वात्स्यायनग्रन्थस्य यदती “अयमभिप्रायः ब्राह्मणग्रन्थशब्दा
लौकिका एव न वैदिकाः” इत्यर्थमापष्टे सद्यन्तं स्थवीयः साहस्यार्थप्रतिपिपा-
दयिष्यार्थं वात्स्यायनो महर्षिः “प्रभाषां शब्दोऽलौके विभागश्च ब्राह्मणवाक्या-
नां त्रिविधः ” इति यथापदरहितमेवाकथयिष्यत् । ननु प्रभाषां शब्दो
यथालौके ? इति साहस्यार्थकथयापटघटितम् । पठतिपठयैवेति यथालौके
शब्दः प्रभाषां तद्यथावेदोऽपीत्युच्यते इत्यर्थम् । वेदे ब्राह्मणसंज्ञानां च वाक्यानां
विभागस्त्रिविध इत्यर्थस्य तात्पर्यं द्विपयत्वात् । यन्तु “ नचत्वार्येव
प्रभाषानि किन्तु द्वीत्या” द्युक्तम् । तद्युक्तवद्वारायानं पुरस्तादितो-
हनोच्यते । यच्चीत्—“ अन्यच्च ब्राह्मणानितु वेदव्याख्यानान्देवसन्ति
नैव वेदाख्यानीति । कुतः ‘ इतिवोर्जां त्वेति ’ शतपथे काचहं १ अध्या० ७
इत्यादीनि सन्त्रप्रतिक्रानि धृत्या ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकारिणात् ”

को संज्ञा और प्रतिहार संज्ञा बतलाई है । ये सब इनका कथन हमें ही
पैदा करता है । बिना प्रभाषा के अन्त स'ट अफवाद् करना सर्वथा अनुचित
है “ संज्ञी-पदम् ”, ऐसा लिखने में व्याकरण की मोटी अशुद्धि है । ऐसी
अशुद्धियां स्वामी जी की दुर्बुद्धता का हंका पीट रही हैं । आगे लिखा है
“ अन्यपदमप्यत्र प्रभाषासस्तीत्यादि ”, इस वात्स्यायन भाष्य को लिखकर
अभिप्रायनिकाला है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के शब्द लौकिक ही हैं, वैदिक
नहीं । बलिहारी बुद्धि की । इसदुर्भावका क्या ठिकाना है । बुद्धि की स्थलता
से इतना भी न सूत्रपढ़ा कि यदि भाष्यकार को वैसा अर्थ अभिसत होता
तो अपने उक्त भाष्य में “यथा पद ” रहित ही पाठ बनाते । माध्यकार का
अभिप्राय तो यह है कि जैसे लोक में शब्द प्रभाषा है वैसे वेद में भी
इत्यादि । “ नचत्वार्येव०, इत्यादि ” ग्रन्थ के विषय में पूर्व ही लिख चुके हैं
कि यह सर्वथा असंगत है । फिर यहां पिष्ट पेषण की आवश्यकता नहीं ।
आगे लिखा है “ ब्राह्मण ग्रन्थ वेद व्याख्यानरूप है, वेदसंज्ञक नहीं, क्यों
कि सन्त्रों की प्रतीकों को लेकर ब्राह्मणों में वेदों का व्याख्यान विद्यमान है
यह सब अज्ञान का विलास है, क्योंकि यहां न्यायशास्त्रानुसार न्याय प्रयोग

इतितत्सर्वमज्ञानविजृम्भितमात्रम्। यतो ब्रह्माज्ञानानिनवेदाः वेदवाक्यधारणपूर्वक-
वेदव्याख्यानरूपत्वात् । इत्यादिरेवानुमानप्रयोगः सम्भवति । सवस्मयं सायण-
कृतवस्य रागवत्पुरुषकृतं कन्वस्य चीपाद्ये रुद्रभावतेनापाकरणीयइति न
किञ्चिदेतत् । पुरस्ताच्च कृतव्याख्यागमेतदिति । नच ' इषत्वंज्जैत्वे ' त्यादि-
प्रतीकमुपादाय ब्राह्मणेषु व्याख्यानदर्शनात् स्फुटन्तेषां तदनन्तरकालिकत्व-
मिति कथं ब्राह्मणानां वेदतेतिवाच्यम् । क्रमिकेषु संहितामन्त्रेणैवपि पूर्वोत्तर-
भावस्यावर्जनीयतया वेदत्वव्यवस्थितौ पूर्वोत्तरभावस्याकिञ्चित्करत्वात् इति ॥
यत्तु ब्रूते मुण्डी—, 'अन्वञ्च महाभाष्ये केषां शब्दानां लौकिकानां वैदिकानां च
तत्र लौकिकारत्नावत् गौरवः पुरुषो हस्ती शकुनिर्गो ब्राह्मण इति वैदिकाः
खल्वपि 'शक्नो देवीरभिष्टये' 'इषत्वंजैत्वा' अग्निमीले पुरोहितं, 'अन्नं प्रा-
याहिवीत्ये' इति । यदि ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसंज्ञाभीष्टाभूत्तर्हि तेषाम-
प्युदाहरणमदात् । अतएव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा
प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि " इति, ऋग्वेदस्य महाभारतः ।
प्रतीकानिति वक्तव्ये नपुंसकीक्तिर्वक्तुर्वैदुष्यकलैद्यमेव सूचयति । किञ्च नहि
वैदिकोदाहरणतया भाष्यकारेण न घृतानि ब्राह्मणवाक्यानीत्येतावतैव तेषा-

यद्दी होगाकि "ब्राह्मण ग्रन्थ, वेद नहीं हैं, वेदवाक्यों को धरके व्याख्यान
रूप होने से" सो यह हेतु भी व्याप्यत्वात्किट्ट है क्योंकि इस में स्मयंसायण
कृतं कत्व और रागवत्पुरुषकृतं कत्व (रागी पुरुषका बनोया हुआ होना) ये
दो वषाधियां विद्यमानहैं ऐसा हेतु साध्यसाधक नहीं होता यह पूर्व भी कह चुकेहैं
यह शङ्का ही सकती है कि " जब वेदमन्त्रों की प्रतीकें धरके ब्राह्मणों ने
व्याख्यान किया है तो ब्राह्मणों की वेदों के पीछे ही कालमें मानना चाहिये
अर्थात् जो वेदों से पीछे बने हैं तो वेद नहीं हो सकते, परन्तु यह शङ्का
निर्मूल है- क्योंकि संहिता मन्त्र भी तौ क्रम से ही एक दूसरे के बाद ही
व्यवस्था होते हैं- उनमें भी पूर्वपर भाव लगा हुआ है तो क्या वेद
व्यवस्था करते हुए यह कहियेगा कि पीछे से मन्त्र वेद ही नहीं ? ।
आगे मुण्डी महात्मा लिखते हैं "महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने वैदिक
शब्दों के उदाहरण देते समय चार वेदों के ही प्रतीक-मन्त्रभाग दिये हैं,
ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्य नहीं, यदि भाष्यकार ब्राह्मणों की भी वेदसंज्ञा मानते
हैं तो अनपेक्ष्य उनको भी आदि वाक्य लिखते" यह भी मुण्डी का व्यामोह

मन्वेद वसिद्धिः । अन्वयो संहितारथानामप्यन्वेषामभिर्हिष्टिवाक्यानां वेदत्वानुपपत्तेः । नच संहितानामाद्यमन्त्रेषु प्रतीकत्वेनोपस्थापितत्वात् सङ्घटितानां तास्मान्नवयवेन वेदावसिद्धौ त्रां ऽक्षेपु क्रय्यापि चावस्थानिर्द्देशात् कयन्वितेषां वेदत्वसिद्धिरिति वाच्यम् । सिद्धिलक्षणानास्य तात्संदिह्यतोत्तरभागरूपतया संहितामन्त्रधारणानि विशिष्टायाः सम्राज्योपनिषत्कायाः संहितायाः प्रदर्शनस्य सिद्धत्वादिति । यच्च पाठ पुरवधूतपः—“किन्तु यानि गीरश्च इत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि तानि ब्राह्मणादियन्त्रेष्वेव घटन्ते इतः तेष्वीदृशपाठव्यवहारदर्शनात्” इति तदसारम् । यत्रुःसंहितायाश्चतुर्विंशतितमेऽध्याये ‘उक्तान् सञ्चरा एताः शुनासीगीयाः’ इत्यादि पशुनां बहूनां सर्प, व्याघ्र, नृगोदीनां अन्वेषां परिणामाच्च नानोत्कीर्तनस्याऽसकृद्दर्शनात् । सर्वथाप्ययं स्वातन्त्र्यमेव विभक्तिं नुगृही । यदप्युक्तम्— “द्वितीया ब्राह्मणे” अ० २ पा० ३, ‘चतुर्थ्यर्थे बहुलं सन्दिनि’ अ० २ पा० ३ ‘पुराणोक्तेषु ब्राह्मणकारणेषु’ अ० ४ पा० ३, इत्यध्यायीसूत्राणि । अत्रापि पाणिन्याचार्यैर्वेदब्राह्मणयोर्भेदेनैव प्रतिपादनं कृतम् । तथापि पुराणैः प्राचीनैर्ब्राह्मण्यपिभिः प्रोक्ताब्राह्मणकल्पग्रन्था वेदव्याख्यानाः सन्ति, अतएवैतेषां पुराणोत्तिहाससंज्ञकृतास्ति

है, एक अर्थव्यापनोद् ही नहीं किन्तु लिखते २ शब्द में भी गड़बड़ी कर काते हैं “प्रतीकान्” ऐसा पुंलिङ्ग शब्द कहना चाहिये या पर आप “प्रतीकानि” नपुंसक लिखकर अपनी परिच्छताई की नपुंसकता दिखा रहे हैं । अस्तु । विचारने की बात है—क्या ब्राह्मणग्रन्थों के वचन, भाष्यकार ने उदाहरण में नहीं रखे—इसी लिये ब्राह्मण अवेद हीजायगे । जिन वाक्यों की भाष्यकार बतलावे, वेही वेद होते हैं ऐसा मान लिया जाय तो अग्य संहितास्थ वाक्य भी अवेद होजायगे ? यह कहना श्रयुक्त है कि “संहिताओं के पटले २ मन्त्रवाक्य भाष्यकार ने दिये हैं— इस लिये उन मन्त्रवाक्यों से घटित संहिताभाग को तो वेदत्व सिद्ध ही है परन्तु ब्राह्मण भाग को नहीं” क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थ, सब संहिताओं के उत्तरभागरूप हैं— इस लिये संहिता मन्त्रप्रतीक रख देने से ब्राह्मण, उपनिषत् सहित समग्र संहिता का बोध सिद्ध होजाता है । आगे महात्माने लिखा है कि “गीरश्चः” इत्यादि भाष्यकार प्रदर्शित उदाहरण ब्राह्मण ग्रन्थों में ही घटते हैं” यह भी निःसार लेख है क्योंकि यजुर्वेद के २४वें अध्याय में बहुल से पशु, पत्नी, सर्प, व्याघ्र आदि.

यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाऽभीष्टा भवेत्तर्हि चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसीत्यत्र छन्दो
ग्रहणं व्यर्थं स्यात् । कुतः द्वितीया ब्राह्मणानि ब्राह्मणशब्दस्य प्रकृतत्वात् ।
अतो विज्ञापते न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसंज्ञास्तीति ।" इति, तत्सर्वथाप्यनव-
गतव्याकृतितन्त्रतत्त्वस्यैव चेष्टितम् । तथाहि 'द्वितीयाब्राह्मणे' ब्राह्मणविषये
प्रयोगे उपबहूपणितमानर्थस्य दीव्यतेः कर्मणि द्वितीया विभक्तिर्भवति ।
'गामस्यतद्दहः सभायां दीव्येषुः' इत्यत्र शतस्यदीव्यतीत्यादिवत् "दिवस्तद-
र्थस्य" इति सूत्रेण गोरस्येति षष्ठीप्राप्ती गामस्येति द्वितीया विधीयते । अत्र
ब्राह्मणात्मकवेदे कदेशे एव द्वितीयेष्टा, ननु मन्त्रब्राह्मणात्मके त्वदाभिमलश्रुति-
च्छन्द आम्नाय निगमवेदादिपदव्यपदेश्ये सर्वत्रेति युक्तमुत्तरसूत्रे 'चतुर्थ्यर्थे
बहुलं छन्दसी'त्यत्र मन्त्रब्राह्मणरूपे छन्दोनामविषये चतुर्थ्यर्थे षष्ठीविधा-
नम् । 'पुरुषसूक्तस्य मन्त्रसः, पुरुषसूक्तस्य मन्त्रसः' इति अत्रहि छन्दसीत्यभि-
धानेनाचार्यः सल्लिपृक्षति मन्त्रब्राह्मणरूपं सफलमेव वेदमिति । यज्ञोक्तं-
"अन्यच्च कात्यायनेनापि ब्राह्मणावदेग सहचरितत्वात् सहचरोपाधिं सत्त्वा
ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा सम्भतेति विज्ञायते । एवमपि न सम्पगस्ति; कुतः,
एवं तेगानुकृत्वा दतोऽप्यैर्ह्यपिभिरशुद्धीतत्त्वात् । अनेनापि न ब्राह्मणानां

चार २ गिनाये हैं । क्या कहें ! स्वामी जी सर्वथा स्वतन्त्र ही बिना विचारे
लिख देते हैं । आगे आप कुछ अष्टाध्यायी के सूत्र लिख कर लिखते हैं कि
"इन सूत्रों में भी पाणिनि आचार्य ने वेद और ब्राह्मण को भिन्न २ ही
माना है, यदि छन्द और ब्राह्मण दोनों की वेदसंज्ञा इष्ट होती तो "चतु-
र्थ्यर्थे बहुलं छन्दसी" इस पाणिनि सूत्र में छन्दोग्रहण व्यर्थ होता, क्योंकि
"द्वितीया ब्राह्मणे" इस सूत्र से ब्राह्मण शब्द चला ही आता, इस से जाना
जाता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं है, यह सब व्याकरणशास्त्र
के तत्त्व को न जानने वाले स्वामी की चेष्टा है । क्योंकि 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं
छन्दसी' इस सूत्र में छन्दोग्रहण से मन्त्र ब्राह्मण दोनों लिखे जाते हैं और
'द्वितीया ब्राह्मणे' इस सूत्र में केवल ब्राह्मण का ग्रहण है इत्यादि- बातें
व्याकरण लोग जानते हैं । आगे लिखा है कि "कात्यायन मुनि ने भी
वेद सहचारी होने से ब्राह्मणों को वेद माना है अर्थात् सहचार सपाधि से
ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा की है- परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि उसने ऐसा
कहा ही नहीं तथा अन्य ऋषियों ने इस प्रकार ग्रहण नहीं किया।

वेदसंज्ञा भवितुमर्हतीति । इत्यादि बहुभिः प्रमाणैर्बन्धनायामिव वेदसंज्ञान्
 ब्राह्मणग्रन्थानामिति सिद्धम्, इति तदख्यगननयगहुपायितम् । क एव
 वैदिकः प्रतिपादितवान्, यत् कात्यायनोऽभिपद्यते—“सहचारीपाधिना ब्राह्म-
 णाणां वेदसंज्ञासम्भवात्, । इति । किञ्च यद्यं सर्वथाप्यवधिगतशास्त्रतत्त्वोऽननु-
 स्थितान्यार्यकुलवागोऽभिपद्यते “अन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात्, इति तदध्यस्य वैदुष्यं
 स्पष्टयेव प्रकृत्यति । ब्राह्मणानां वेदभावस्य सर्वविस्मयतत्त्वं निरूपितम-
 स्नाभिः प्रागेव । एवञ्च “किञ्चनोः । ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदत्वप्रामाण्यं
 कर्तव्यमाहोस्विन्नेति । अत्र ब्रूमः । नैतेषां वेदत्वप्रामाण्यं कर्तुं योग्यम-
 स्ति । कुतः । ईश्वरीकामावात् तदनुकूलतयैव प्रमाणाहंत्वाच्चेति । परन्तु
 सन्ति तानि परतःप्रमाणयोग्यान्वयेव, इत्यस्य सर्वं शास्त्रविपरीतोऽयमुपसंहारो-
 ऽस्यास्पदत्वायामेनमेवोपसंहारति । ब्राह्मणप्रमाणस्य मन्त्राविशेषणाऽप्यकृ-
 शितत्वात्, । अतएव पुराणप्रामाण्यव्यवस्थापनप्रसङ्गेन “प्रमाणेन खलु ब्रा-
 ह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते,, इत्याहस्मवात्स्यायनः । ब्राह्म-
 णानां स्वतः प्रामाण्यविरहे कथमिव परधीयप्रामाण्यव्यवस्था सम्भवस्तेषामि-
 ति । तस्मात् श्रुतिवैदशब्दाऽनायनिगमपदानि मन्त्रभागमारभ्यौपनिषदन्ता-
 नां बोधकानीतिशास्त्रविदां परासंशः इति ॥

इति वेदसंज्ञाविचारः ॥

इत्यादि,, यह भी आकाश में कुल्ला किया है अर्थात् व्यर्थ की बकवाद है ।
 किस वैदिक ने यह प्रतिपादन किया है कि कात्यायन यह कहता है कि
 सहचारीपाधि से ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा संभव है ? शास्त्रतत्त्व को त्र जानने
 वाले और आचार्यकुल में दीक्षा प्राप्त न करने वाले स्वामी का यह कथन कि
 ‘अन्य ऋषियों ने ब्राह्मणों का वेदत्व नहीं माना’ इसकी विद्वता की स्पष्ट
 प्रकट कर रहा है । ब्राह्मणों का वेदभाव सब ऋषियों को संमत है यह
 बात हमने पहले ही बतला दी है । अगले-ग्रन्थका उपसंहार ती स्वामी जी
 अपनी हीसे के लिये अपना ही उपसंहारक है । क्योंकि ब्राह्मणों की प्रमा-
 णता निराबाध है—यह पूर्व बार-बार दिखा चुके हैं । इसी लिये पुराणों की
 प्रमाणाता व्यवस्थापन के प्रसङ्गसे वात्स्यायन मुनिने कहा है कि “प्रमाणभूत
 ब्राह्मणग्रन्थों से ही इतिहास पुराणों की प्रमाणाता है,, यदि ब्राह्मणों की
 स्वतः प्रमाणाता न होती तो पुराणादिकों की प्रमाणाता के बोधक वे कैसे

समझे जाते । इस लिये शास्त्रज्ञोंका विचार यही है कि "श्रुति, वेद, आदित्याय
निगमादि पद, मन्त्रभाग से लेकर उपनिषद्पर्यन्त ग्रन्थों को बोधक हैं ।
इति शिवम् ।

इति सूक्तिकाभासस्य पूर्वभागः समाप्तः ।





❀ श्रीहरिशरणम् ❀

भूमिकाभासस्योत्तरभागः

अभिप्रकरणद्वयेन ब्रह्मविद्यावेदोक्तधर्मश्चनिरूपितः । तत्रनास्तरसभा-
कं किञ्चिद्विशिष्टं वक्तव्यम् । नास्त्येतद् विवादास्पदीभूतं, यद्देवेषु ब्रह्म-
विद्यास्ति नवेति । नापि वेदोक्तधर्मनिरूपणं निरुद्धयते केनापि । परंतत्र तत्र-
शास्त्रसिद्धान्तं सर्वेषां पृथग्व्यय स्वकल्पितार्थनिरूपणमेव शास्त्रैकसंभारंगप्रवृत्ता-
नां विदुषां दुनोति चेतासि । खिन्नमनस्कैरस्मान्भिरप्यत एवदूरतः परिहर्तव्यो दुर्ज-
नस्य समागमः, इति न्यायमनुसरद्भिरापातत एवकानिचिद्वाक्यानि ततः समुद्भूतस्य
प्रकृतएवार्थोऽनुसरिष्यते । तथाहि—“सनानीव आकूतिः” इति ऋचोऽव्याख्या-
नावसरे (समानमस्तुवोसनः) इति प्रतीकं धृत्वा “अप्रप्रनाथापु—“कामः संकल्पो
विचिकित्साश्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्हीर्षीर्भीरिति तत्संघं मनएवतस्मादपि पृष्ठत
उपस्पृष्टो ननसा विजानाति” इत्युक्तम् । अत्रोच्यते— कस्मिन्क्षये समुपन्यस्त-
मिदं प्रमाणम् मनसः साभ्ये ? मनसिवा । नाद्याः, अत्रवाक्ये तस्यार्थस्यानिरूप-
णात् । नान्त्यः, प्रकरणविरोधात् । नहि मनः स्वरूपनिरूपणसत्र प्रकान्तमस्ति ।
अपि च ‘शुभगुणानानिच्छाकामः, इत्युक्तमपि न युक्तम् । शुभैतरगुणानानि-

आगे के दो प्रकरणों से ब्रह्मविद्या और वेदोक्तधर्म का निरूपण किया
है । इस विषय में हमें कुछ विशेष नहीं कहना है । यह कोई विवादास्पद
बात नहीं है कि वेदों में ब्रह्मविद्या है या नहीं ? वेदोक्तधर्म निरूपण के
लिये भी कोई रुकावट नहीं है । पर इतना ज़रूर है कि स्थले स्थले शास्त्र
सिद्धान्तको छोड़ दिया और अपने कल्पित अर्थको बतलाया यही बातशास्त्रा-
नुसारी विद्वानों के चित्तों को दुखाती है । इसी लिये हमें भी खेद होता है
अतः स्वामी दयानन्द के कठवाक्यों का उद्धरण करके प्रकरण परिमाण अर्थ
का अनुसरण किया जायगा:—

“सनानीव आकूतिः” इस ऋचा के व्याख्यान के समय “समानमस्तुवो
सनः, इस प्रतीक को धरके” कामः संकल्पो” इत्यादि प्रमाण लिखा है । इनसे
पूछना चाहिये कि यह प्रमाण किस विषय में दिा है ? मनकी सत्ता ये
यामनमें ? पहलापक्ष इस लिये ठीक नहीं कि उचवाक्य में मनकी सत्ता का
निरूपण ही नहीं किया गया द्वितीयपक्ष इसलिये ठीक नहीं कि प्रकरण
का विरोध है । यहां पर मनके स्वरूप का निरूपण उपक्रान्त नहीं है । काम

इच्छायां कान्तत्वापत्तेः । इच्छायात्र कान्तपदाभिलष्यन्मभिसत् शास्त्रविदाम् ।
 किञ्च 'पूर्वसंशयं' कृतत्वापुनर्निश्चयकरणेच्छा संशयो विचिकित्सा" इति वि-
 चिकित्सालक्षणं तु दयानन्दस्यैव शोभते । प्रथमस्तु सुधियोगिनि । सूत्रनेतिकया
 चनिभास्यन्तुयत् ईश्वरधर्माद्युपरि सदैवनिश्चयरक्षणम्" इति कीदृशोय-
 लोकभाषायाः साधोयाननुवादाः । किञ्चहुना पदवाक्यप्रयोगपरिपाठ्यगमि-
 क्षस्याधिकप्रत्याख्यानेन । किञ्चपदुक्तम् "अन्यच्च-चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः
 यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सधर्मः ॥ शनयोरर्थःवेदद्वारायास्त्यधर्माचरणस्य
 प्रेरणास्ति तथैवसत्यधर्मोत्पद्यते । योऽनर्थादधर्माचाराद् वहिरस्त्यतो धर्मा-
 र्थोऽलक्षणाऽर्थो भवति" अत्रवाक्ये 'धर्मोऽर्थोऽलक्षणाऽर्थो भवतीति, त्वस्याभिप्रायो
 नास्नाभिरवगतः । इयमेवग्रन्थादौ प्रतिज्ञाता दयानन्दस्यपुरातनीत्याख्याशैली
 किञ्चइष्टसुखं सम्यक्प्राप्तं भवत्यत्रसुखस्यइष्टं तिविशेषणं किंप्रयोजनकम्? अनिष्ट-
 सपिकिञ्चित्सुखमभिसत् किं दयानन्दस्य? अलं परलक्षितेन, दिग्दर्शननाश्रमस्मा-
 कमेतत् विद्वान्सःसद्ब्रह्मविवेकशालिनः स्वयमेवविवेचयितुं प्रभवन्ति इति ।

का यह लक्षण कि "शुभगुणानामिच्छा कामः" अर्थात् शुभगुणों की इच्छा
 का नाम काम है, इस लिये ठीक नहीं कि अशुभगुणों की इच्छा का नाम
 काम, ही न रहेगा? शास्त्रवेत्ता लोग इच्छायात्र की काम समझते हैं । आगे
 आपने विचिकित्सा का बहुत बढिया लक्षण किया है आप फर्माते हैं पूर्व
 संशय करके निश्चय करने की इच्छा ही संशय वा विचिकित्सा है ऐसालक्षण
 दयानन्द को ही शर्मा देता है । विद्वान् लोग विचारे' जरा गहरी निगाहसे
 देखें आगे की सा लेख है "ईश्वरधर्माद्युपरिसदैव निश्चयरक्षणम्" यह कैसा
 लोकभाषा का सुन्दर अनुवाद है । पदवाक्यों के प्रयोग की परिपाटी को
 नजानने वाली का कहां तक खरबहन किया जाव ।

"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" यहाँ से लेकर भवति" तक संस्कृत वाक्या-
 वली है सधर्मं 'धर्मोऽर्थो - लक्षणाऽर्थो भवति, इसवाक्य का अर्थ लाख
 कोशिश करने परभी इनारी समझमें नहीं आया । यहाँ ग्रन्थ के आदि में
 प्रतिज्ञात स्वामीजीकी पुरानी शैली है ! अफसोस !! "इष्टसुखं सम्यक्
 प्राप्तम्" इसवाक्य में सुखका विशेषण 'इष्ट', पद किसलिये संनिविष्ट है
 क्या स्वामी जी कोई अनिष्ट भी सुख मानते हैं ? अधिक विस्तार करना
 अनावश्यक है । विद्वान् लोग स्वयं विचारे' ।

अतः परं सृष्टिविद्याविषयः संज्ञेपतो निरूपितो दयानन्देन । तन्नास्मा-
कमपि किञ्चिद्भव्यमस्ति । तथाहि—“ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् ”
इत्यादयः कतिचन मन्त्राः समुद्धृताः सन्ति पूर्वम् ततः—“ एतेषामभिप्रायार्थः
यदिदं सफलजगद्दृश्यते तत् परमेश्वरेणैव सम्यग्रथयित्वा संरक्ष्य प्रलयावसरे
वियोग्यवचिनाश्चते पुनः पुनरेवसंभवसदाक्रियत इति (नासदासीत्) यदा कार्यं
जगन्नोत्पन्नमासीत्तदाऽसत्सृष्टिः प्रकशून्यमाकाशमपि नासीत् । कुतः तद्भव्यव-
हारस्यवर्तमानाभावात्” इत्युक्तम् । अथोच्यते—मन्त्रपदे ‘न असत् आसीत्
तदानीं’ इत्येव प्रतिपादितम् । तत्र ‘असदि’ इत्यस्य ‘शून्यमाकाशमपि
नासीत्’, इत्यर्थः कुत उपात्तो भवता । किञ्च कारणस्वरूपनिरूपणपरा श्रुति-
रियम् । नासदासीदित्यनेन सृष्टेः प्राक्तस्यासत्त्वं निषेधति । सर्वस्या अपिश्रुते-
र्यथार्थस्तथाग्रे विधास्यते । ‘यदाकार्यंजगन्नोत्पन्नमासीत् तदा, इत्युक्तं अपि,
सृष्टेः प्रागिति कथनं निष्फलमेवाभाति, तदेति सर्वान्मैवनिश्कर्तार्यस्य
गतत्वात् । तस्माद्वा एतस्मादिदंयादिश्रुतिव्याख्यानावसरे स्वगोचरंभव्यं
बहुजगत्स्य पारमार्थिकं सत्तानित्यसं चाङ्गीकृत्यात्र तस्यैव प्रकृतननादृश्य-
तुच्छतां प्रतिपादयन् ‘मुखमस्तीति वक्तव्यं दृशहस्ता हरीतकी’ तिलोकीकिं
चरितार्थयति । अत्रुद्दिक्कौशलमविचलितमतिमत्तं तुच्छतां चात्मनो यथायथं
परिचाययति । प्रलयकाले तदसत्त्वेप्रमाणं प्रदर्शयति—‘तद्भव्यवहारस्यवर्तमानाभा-
वात्’ इति । अहोधातव्यमुचिह्नः—व्यवहाराभावमात्रेणायदयवस्तुनस्तुच्छतामभि-

इसके बाद संज्ञेपसे सृष्टि विद्या विषय को निरूपण किया है । उस
विषय में भी हमें कुछ बक्तव्य है:—

“ नासदासीत् ० ” इत्यादि कई मन्त्र पूर्व उद्धृत किये हैं फिर उनका
अभिप्राय बतलाया है “एतेषाम्- ग्रन्थ से लेकर भावात्” तक अब विचारना
चाहिये कि मन्त्र में न, असत्, आसीत्, तदानीम्, इत्यादिपद हैं। उनमें ‘असत्पद
काशून्य या आकाश अर्थकहाँसे आगयादेखिये यह श्रुति, कारणके स्वरूपको
बताती है, ‘नासदासीत्’, इससेसृष्टिसे पूर्वजगत्के अभावका निषेधकिया है। सन-
ग्रन्थका का अर्थ आने क्रिया जायगा । ००००” तस्माद्वा०, इत्यादि श्रुतियों
के व्याख्यानावसरे में अपने ही सत्यार्थप्रकाशोदि ग्रन्थों में आकाश को
पारमार्थिक औरनित्यमानना और यहाँ उसे तुच्छ बताना “गुह है इसलिये
दृश हाथ को हड़ होती है ” ऐसी लोकोक्ति को चरितार्थ करना है ।

धर्त । तथा सत्यात्मनोऽप्यमर्त्तं स्यात् , कीदृशस्यापि व्यवहारस्य तदीयस्य तदानीदसत्त्वात् । किञ्च - (' नो सदासीत्तदानीं) तस्मिन्कालेसत्प्रकृत्यात्मक-
 रव्यक्तं सत्संज्ञकं यत्रजगत्कारणं तदपि नो प्राप्तीन्नावर्त्तत (नासीद्द्र०) पर-
 माणवोऽपिनासन् (नोव्योना परीयत्) व्योनाकाशमपरं यस्मिन् विराहाख्ये
 सोऽपि नो आसीत् किंतु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य
 परमकारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत (किमावरीवः) यत्प्रातः कुहकस्यवर्षा-
 काले धूमाकारेण वृष्टं किञ्चिच्चजलं वर्त्तमानं भवति । यथानैतत् जलेन पृथि-
 व्यावरणं भवति नदीप्रवाहादिकं च चलति । अतएवोक्तं तत्रजलं गहनं
 गभीरं किंभवति । नेत्याह किंत्वावरीवः । आवरकमाच्छादकं भवति नैव
 कदाचिदास्यासीदात्पत्वात् तथैव सर्वं जगत् तत्सामर्थ्यादुत्पद्यति तच्छर्भं कि
 शुद्धे ब्रह्मणि किं गहनं गभीरमधिकं भवति । नेत्याह । अतस्तद् ब्रह्मणः कदा-
 चिन्नैवावरकं भवति । कुतः । जगतः किञ्चिन्मात्रत्वाद् ब्रह्मणोऽनन्त-
 रत्वाच्च ॥ १ ॥ इति मध्यमन्त्रस्य व्याख्यानमुपदर्शितम् । एवं च सर्गात् प्राक्
 जगन्मूलकारणभूता प्रकृतिरिति नासीत्, परमाणवोऽपिनासन्, विराहपिना-
 भूत् । केवलं शुद्धं ब्रह्मैवाभूत्, इति मन्त्राशयं प्रदर्शयतो दयानन्दस्याभिमत
 एव मायावादाः , अभिमन्तव्यवशः सः । मन्त्रवर्षिकारवा-
 दिति । किञ्चात्र मन्त्रबलेन प्रलयकाले प्रकृत्यादीनामभावं प्रतिपाद-
 यन्नन्यत्र च स्वनिर्मितेषु सत्यार्थप्रवाशादिग्रन्थेषु किमिति

परपरविरुद्ध लिखना अपनी तुच्छता काही परिचायक है । प्रलय काल
 में प्रकाश के न होने से देखिये-जया अजीबहेतु दिया है " उससमय-आकाश
 व व्यवहार नहीं था ,, स्वामी जी की धृष्टता देखी । व्यवहाराभावमात्र
 से बहुत की तुच्छता का प्रतिपादन कर रहे हैं, यदि ऐसाही मान लिया
 जाय तो उस समय आत्मा का व्यवहार न होने से आत्मा का भी असत्त्व
 जानना पड़ेगा । क्योंकि आत्मा का भी उससमय किसी प्रकार का
 व्यवहार नहीं था ॥

" नो सदासीत्तदानीं ,, यहां से अनन्तरत्वाच्च ,, यहां तक संस्कृत दे
 खनाइये । यहीं इस मन्त्रकी व्याख्या है । इस व्याख्यो में यह लिखा है
 कि सृष्टि से पूर्व जगत की कारणा भूत प्रकृति भी नहीं थी, परमाणु भी
 नहीं थे, विराट् भी नहीं था, था केवल शुद्ध ब्रह्म इस आशय का- मन्त्रार्थ

नित्यत्वेन महत्त्वा रभत्या निरुक्तान् पदार्थान् न्यरूपयत् ।
 एवं 'मम मुखे नास्ति जिह्वा' 'माता मे बन्ध्या' इतिबद् वदतो व्याघातएव
 दयानन्दस्य । गौतमकपिलादिमहर्षिप्रणीतानि शास्त्राणि च वेदविकृतत्वात्
 हेयतामुपगतानि, तत्र महता प्रयत्नेन सर्वस्य जगती मूलकारणतया नां नि-
 त्यानां प्रकृतिपदमात्रवादीनां पदार्थानां निरूपणात् । अस्तुत एवमं मुखं
 तत्वाथमेवोकस्य मन्त्रस्य नाधिगतवान् । अतएव (क्रिमावरीवः) इति मन्त्री-
 कं धृत्वा 'क्रिमावरीवः कुहकस्ये'ति मन्त्रपदे 'कुहक'मिति एकं पदमभिसत्य
 तस्मात् षष्ठीप्रत्ययं स्वीचकोर । शीतकाले प्रभातपतनीयस्यतुषारस्य 'कुहक'
 इति संज्ञा निरुक्तार्थवाचकस्य 'कुहरा' इति लोकप्रसिद्धशब्दस्य साम्यमुपा-
 दायैव प्रतिपादयामासेति स्थितं प्रतीतम् । यतो नञ्चाभिधानिनस्य कस्यसि-
 त्तादृशं वाक्यमुपलभामहे, येन तुषारापरपर्यायता दयानन्दकपोलकल्पितस्य
 'कुहक' पदस्य प्रतीयेत । यदि क्वचित्केनचित् दयानन्दमतावलम्बिनोक्ता कु-
 हकव्याख्या समुपलब्धा स्यात्, तदा तद्बोधनेनावश्यमनुयाच्या व्ययम् । यतो
 हि समुदायीपावसुमती प्रयोलोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या एकशतम-
 ध्वयुंशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः इत्यादि भूयसिषडद्विषये सम्भाव्यत

प्रदर्शन करने वाले दयानन्द की मायावाद इष्ट ही है । और वही मन्तव्य
 है क्योंकि मन्त्राक्षरों से प्रतीत होरहा है । यहां ती मन्त्रबल से प्रत्ययकाल में
 प्रकृति परमाणु आदि का अभाव बता रहे हैं और फिर अन्यत्र अपने वनाये
 सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों में बड़ी तूलतवील के साथ क्यों प्रकृत्यादिकों
 को नित्य बता रहे हैं ? क्या यह "मेरे मुख में जिह्वा नहीं" है,
 अथवा मेरी माता बन्ध्या है" इस लोकोक्ति की तरह वदतो व्याघात नहीं
 है ? अब जो गौतम कपिलादि महर्षियों के वनाये शास्त्रों के असाध
 मानते थे वे सब त्याग्य हीगये । उन शास्त्रों में तो बड़े कोर से परमाणुवाद
 और प्रधानवाद का नित्यभाव से निरूपण किया है और जगत् का मूल
 कारण माना है । सब पूछो तो स्वामीजी ने उक्त मन्त्र-ना अमली अर्थही नहीं
 समझा, इसी लिये 'क्रिमावरीव' कुहकस्य' इस मन्त्रपद में कुहक शब्द को
 एकपद मानकर उससे षष्ठी विभक्तिकी है । शीतकालमें प्रभातकाल पड़नेवाले
 तुषार की 'कुहक, यह संज्ञा, लोकप्रसिद्ध 'कुहए' शब्द को देख कर ही की
 मांझूम होती है । क्योंकि किसी कोशकार ने 'कुहक' का तुषार अर्थ किया

एवैकेनाऽनुपलब्धस्यार्थस्यापरेण प्राप्तिरिति । तथाच 'यत्प्रातः कुहकस्यावर्षा-
फाले-इत्यारभ्य यदुक्तमत्र नञ्प्रव्याख्याने सर्वे तदज्ञानदिग्भ्रमितामज्ञम् ।
अहो ! महदाश्चर्यं करी सजातनी दयानन्दस्य ग्रन्थादौ प्रतिज्ञाता व्याख्या-
रीतिरियम् । स करोत्क्षेपं मुञ्चैवसुनीनामृषीणां चावलम्बनञ्चैः समुद्घोषयति ।
रे । येषां कृपाकटाक्षेण अनवरतप्रवेशे च जगतां हृदि विराजते भारतभर्मगी-
रवम्, स एव ऋषयो वा मुनयो वा पूर्वाचार्यावापि किमिति वैधर्मिकैर्वैदेशि-
कैश्च हास्यास्पदतां स्वकृत्यैर्नीयन्ते त्वया । किं बहुना-सदसद् विवेकशालि-
नो विशालश्रेमुषीकाः कवय एवान्न विचारयितुमर्हन्तीति ।

सन्धार्यभूतः—'नासदासीदिति'-अग्रे सृष्टिः प्रतिपादयिष्यते; अधुनाततः
प्रागवस्था निरस्तसमस्तप्रपञ्चा या प्रलयावस्था सा निरूप्यते— तदानीं
प्रलयदशायामवस्थितं यदस्य जगतो मूलकारणं तन्नासत् शशत्रिपाणवन्निरुपा-
ह्यं नासीत्, नहि तादृशत्कारणादस्य सतो जगत उत्पत्तिः सम्भवति; तथा
नो सत् नैव सत् आत्मवत्सत्त्वेन निर्वाच्यमासीत् । यद्यपि सदसदात्मकं
प्रत्येकं विलक्षणं भवति, तथापि भावाभावयोस्तु सहावस्थानमपि न सम्भवति
कुत्रस्तयोस्तादात्म्यमित्युभयविलक्षणमनिर्वाच्यमेवासीदित्यर्थः । ननु नो

ही नहीं है, जिससे दयानन्द की कपोलकल्पित अर्थ-ज्ञान लिया जाय। यदि
किसी दयानन्दी ने कही आकाश वा पातालमें कुहक-शब्दकी वैसे व्याख्या
उपलब्ध की हो तो कृपा कर हमें भी वह बतावे। ऐसी व्याख्या से समझ
सकते हैं कि यह सोह नाया है। यही स्वामी जी की प्राचीन मुनियों
की झेली है। जिसकी इतनी खुगडुगी पीटी जाती है! जिन महात्मा मुनियों
के कृपाकटाक्ष से और निःसीम परिश्रम से लोगों के हृदय में भारतीयधर्म
का गौरव आज भी देदीप्यमान हो रहा है, उन्हें ऋषियों वा पूर्वाचार्यों
की हंसी क्यों करवाते हो ?

सन्ध्या का वास्तविक अर्थ यह है :-

"नासदासीदिति" आगे सृष्टि का प्रतिपादन किया जायगा, अब सृष्टि
से पहली अवस्था अर्थात् प्रपञ्च रहित प्रलयावस्था का निरूपण किया जाता
है (तदानीम्) प्रलयदशा में, इस जगतका मूल कारण वस्तु (असत्-न-आसीत्)
शशत्रिपाण (खरगोश के साँगे) के तुल्य तुच्छ पदार्थ नहीं था क्योंकि ऐसे
कारण से इस विद्यमान जगत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? (न-सदासीत्)

सदिति पारमार्थिकत्वस्वल्प निषेधो यदि, सद्दर्शननोऽप्यनिर्वाच्यत्वप्रसङ्गः
 अथोच्यते "न आनीदधात" निति तस्य सुत्वमेव वक्ष्यते, परिशेषान्नायाया
 एवात्र सरवं निषिध्यते इति, एवमपि तदानीनिति विशेषज्ञानार्थकं, व्याख-
 हारिकदशायामपि तस्याः परमार्थिकसत्त्वाभावात् । अथ व्याख्यारिकसरवस्य
 निषेधः, एवमपि व्याख्यारिकगतत्वात्; पृथिव्यादीनां भावानां तदापि विद्य-
 मानत्वात् कथं नो सदिति निषेधः । एवं प्राप्ते आह—'नासीद्रज इत्यादि' ।
 लोकार्जाभ्युच्यन्ते इति यास्कः । अत्र च सामान्यापेक्षया एक्यवचनम् । द्यो-
 न्नोवक्ष्यमाणत्वात् तस्याधस्तनाः प्राप्तालादयः पृथिव्यन्तं जगत् इत्यर्थः ।
 तथा द्योमाज्ज्वरिणं तदपि नो नैवासीत् । पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे
 वचते; परशब्दाच्छान्दसस्तातेरर्थे अकिप्रत्ययाः । परो द्योन्नः परस्तादुपरि-
 देशे ध्रुलोकप्रभृतिसत्यज्ञोकान्तं यदस्ति तदपि नासीदित्यर्थः । अनेन षतुर्देश-
 भुवनार्थं ब्रह्माण्डरूपं निषिद्धं भवति । अथ तदावरकत्वेन पुराणेषु प्रसिद्धानि
 यानि विषयदादिरूपाणि भूतानि तेषामवस्थानप्रदेशं तदावरगणितिसं चार्त्त-
 पन्खेन क्रमेश निषेधति—'किनावरीवरिति' । किनावरशीर्षं तत्त्वं आवरक-
 भूतजातं आवरीषः अत्यन्तसावृणुयात्, आवायोभावात्तदावरकपिनासीदि-
 त्यर्थः । पृथीतेर्षब्दं लुगन्ताच्छान्दसे लङि तिपि रूपमेतत् । यद्वा—'किमिति'
 प्रथममेव किं तत्त्वसावरकनावृणुयात्, आवायोभावात्, आन्निभनाणवत्तदपि
 स्वरूपेण नासीदित्यर्थः । 'कस्यशर्मन्' कस्य वा भौवतु! जीवस्य शर्मणिसुखे
 सुखदुःखसाक्षात्कारलक्षणे वा निमित्तभूते सति तदावरकं तत्त्वसावृणुयात् । जी-
 वानामुपभोगार्थाहिं सृष्टिः, तस्यां हि सत्यां ब्रह्माण्डस्य भूतैरावरणं प्रलय-

न सत् आत्मा के लिये, सरव से निर्बचन योग्य भी नहीं था इस लिये
 भावाभाव दोनों से विलक्षण, अनिर्बचनीय ही था । यदि 'नो सत्, शब्द से
 पारमार्थिक सत्ता का निषेध किया जाय तो आत्मा भी अनिर्बचनीय
 ज्ञानता पड़ेगा, इस लिये आने लिखा है 'न आनीदधातम्' अर्थात्
 आत्मा का सरवनिषिद्ध नहीं है किन्तु माया की सत्ता निषिद्ध
 है । "तदानीम्—उस समय" यह विशेषण इस लिये दिया है कि
 पारमार्थिक सत्ता तो मायाकी व्यवहार दशामें भी इष्ट नहीं है परन्तु कदाचित्
 आशङ्को होकि पृथिवी आदि की व्याख्यारिकसत्ता उस समय थी, इसी लिये
 फिर लिखा है "नासीद्रज इत्यादि" अर्थात् लोकलोकार्जान्तर भी नहीं थे

दशायां च भोक्तारो जीवा उपाधिविलयात् प्रविलीना इति कस्य कश्चि-
दपि भोक्ता न सम्भवति इत्यावरणस्य निमित्तत्वाभावादपि तन्न
घटते इत्यर्थः । एतेन भोः प्रपञ्चयत् भोक्तृपक्षोऽपि उदानां नासीदि-
त्युक्तं भवति । यद्यपि सावरणस्य प्रक्षान्तस्य निषेधेन तदन्तर्गतसप्तसत्त्वमपि
निराकृतं तथाप्यापो वा इदमग्रे सलिलनासीदित्यादिश्रुत्या कश्चिदपि स-
द्भावमाशङ्कत तं प्रत्याघट्टे—अस्मभः किनासीदिति—गहन दुःप्रवेशं गभीरं दुरवस्था-
न अत्यगाधनीहृशमस्मभः किनासीत् ? तदपि नैवासीदित्यर्थः । श्रुतिस्ववा-
न्तरप्रलयनिरूपणपरिेति ।

इतोऽग्रेसमृद्घृतानां सन्त्राणानसृत्युरासीदित्यादीनां प्रेतल "सर्वं सुगमार्थ-
मेवार्थं भाष्येवदयामि" इत्यतिदिश्य नकञ्चिदर्थोऽत्र विहितः । प्रकरणस्यास्य
भाष्येवचापिभाकारि । अतस्तद्विषये नास्माभिवक्तव्यं किमपीति । इयं विसृष्टि-
रित्ययं सन्त्रस्तु व्याख्यातस्तत्रोच्यते । (इयं विसृष्टिः) "यतः परमेश्वरादियं
विसृष्टिः प्रत्यक्षा विविधा सृष्टिरावभूवोत्पन्नसीदस्तितासप्यदधे"
इत्यादिना अहोपादानकारव जगतां प्रतिपादयन्तङ्गीकृत एव
वेदान्तसिद्धान्तः । तथाचान्यत्रैतत्प्रत्याख्यानप्रतिपादयिष्यामी

पातालादिर्षयिषीष्यन्त तर्ही ये अन्तरिक्ष और उसके ऊपर के लोक कोई
भी नहीं थे अर्थात् सनस्तब्रह्माण्ड नहीं था इत्यादि मूलसंकृत में विसृष्टि है
इससे आगे स्वामी जीने 'न सृत्युरासीत् इत्यादि सन्त्रों का उद्धारण करके
लिखा है कि 'इनका अर्थ भाष्यमें किया जायगा, इनसन्त्रों का और प्रकरण
का कोई भाष्य ही नहीं इस लिये इस विषय में कहा ही गया था । "इयं
विसृष्टिः" इससन्त्रकी व्याख्याकी है "लिखा है जिस ब्रह्मसे यह प्रत्यक्षभूत अनेक
प्रकार की रचना हुई" इत्यादि लेख से पाया जाता है कि जगत ब्रह्मोपादान-
करके यह वेदान्त सिद्धान्त अङ्गीकृत है । परन्तु स्थानान्तर में इस वेदान्त
सिद्धान्त का उल्लेख है ये सब जो समय पायसीय न्याय (जैसे कोई गोबर को ही
दूधदाने लगे जैसे) का अनुसरण करने वाले स्वामी का व्यर्थ प्रयास है ।
'प्रकृतज्ञानार्थं लीना भवति' इन अक्षरों से भी वेदान्त सिद्धान्त ही
निकलता है । 'अङ्ग वेद' इत्यादि पदोंके व्याख्यान में भी विद्वान् हृष्टि
आप लिखते हैं— 'अङ्ग' है अङ्गकेतुल्य जीव ! (वेद) जो विद्वान् उसे
ईश्वर जानता है— वह परमानन्द की प्राप्त होता है और जो नहीं जानता

सयपायसीयंन्यायगनुतिष्ठतोस्यमुधैव प्रयासः । ब्रह्मोपादानत्वस्यैव चोपोह्लसः
 "प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणोपरब्रह्मसाक्षर्यं च लीनाचभवती"त्युक्तमपि दया-
 नन्दस्येति । (अंगवेद) इत्यस्यव्याख्यानं तु विदुषादीयमानत्वधाननभिलाष-
 तिः तथा हि— "(अंगवेद) हे अङ्गमिव जीवते भीवेद् सविद्वान् परमानन्दसाधनोति-
 यदितं सर्वपां मनुष्याणां परमिष्टं सच्चिदानन्दादिलक्षणं नित्यं कश्चिन्नैव वेद-
 वानिश्चयार्थं उपरमं सुखमपि जाम्रीति" । अहो विशदीकृतं लोकोत्तरं वैदु-
 ष्यं मुण्डना । श्रीयं जीवोऽङ्गमिवेति नाद्यावध्यवगत मन्माभिः । विद्वान्सर्व-
 यथायथं विचारयन्तु । परमानन्दप्राप्तिस्तु विदुषां नारयमन्त्रस्य प्रतिपादनी-
 योविषयः । किञ्च हुना— अस्माकं स्वयमेवार्थोभिनस्ततथाहि— उक्तप्रकारेण यथे-
 दं अगतसर्जं न दुर्विज्ञान एव' सृष्टं अगतं तद्दर्शनपीत्याह इयमेति । यतः उपा-
 दानभूतात्परमात्मनः इयं विसृष्टिः विविधागिरिन्दी समुद्रादिरूपेण विचित्रा-
 सृष्टिः आवभू धर्माजाता, सोऽपि किल यदिवादधेधारयति यदिवानधारयति
 एवं च कोनामान्यो धर्तुं शक्नुयात् यदिधारयेत् ईश्वर एव धारयेत् नान्यइत्यर्थः

यह परमसुख की नहीं 'पाता, यहां परिदृताई का खातमा कर दिया है—
 यदि अपने ही मतानुसार अर्थ करना था तो 'अङ्ग' शब्द को संबोधनार्थ
 क्यों नहीं रख लिया । आर्य समाज की प्रतिनिधिसभा बतलावे यह अङ्ग
 तुल्य जीव कौनसा है ? अपने अङ्ग की तुल्यता या दूसरे के अङ्ग की
 जिनको अपनी ही बात याद नहीं रहती वो भाष्य करने बैठे हैं ? यहां
 विशिष्टाद्वैतवाद तो याद नहीं आगया ! अजीब साया है ! स्वामी जीके
 ग्रन्थ क्या हैं मदारी की पिटारी है — जो चाही सोही निकल पड़ता है
 वस्तुतः इस मन्त्र का प्रतिपादनीयविषय "विद्वानों को आनन्द प्राप्ति नहीं
 है" किन्तु वास्तविक अर्थ यह है जैसे यह अगतसृष्टि दुर्विज्ञेय ही वैसेइस
 की अवस्थिति भी— यह बात इस मन्त्र में प्रतियादित है (इयम्) यह पर्वत
 नदी समुद्रादिरूपसे वर्तमान सृष्टि, (यतः) जिस उपादान भूत्वसे आवभू व
 उत्पन्न हुई है वदभी (यदिवादधे इत्यादि) धारण करता है या नहीं, अर्थात्
 उसके सिवाय और कौन धारण कर सकता है, यदि धारण कर सकता है
 तो वही परमात्मा धारण कर सकता है उससे भिन्न कोई नहीं इस कथन
 से ब्रह्म की उपादान कारणता सिद्ध होती है । इसी लिये भगवान् व्यासने
 वेदान्त में सूत्र लिखा है 'प्रकृतिश्च प्रतिष्ठाहस्तानुपरोपात्' । अ०सू०

एतेन कार्यस्य धारयितृत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मण्य उपादानकारशास्त्रमुक्तं भवति
 सथास्वपारमर्षे सूत्रप्रकृतिप्रथमप्रतिष्ठादृष्टान्तानुपरोषादिति । यद्वा अनेन अर्धर्षेण
 पूर्वोक्तस्य सृष्टिदुर्ज्ञानत्वमेव प्रद्वयतिक्रोधेदेत्यनुवर्त्तते इयं विविधा सृष्टियत्तत्रात्र-
 भूवशासनन्तादभ्यायेति कोवेदमकोऽपि नास्त्येवजगतोऽन्नस्य कदाचिदनी-
 दृशं जगदिति ब्रह्मवोभान्ता भवन्त्यपि यतः अनिकर्तुः प्रकृतिरित्युपादानसं-
 ह्यायां पञ्चम्यास्तसिद्धयस्मात्परमात्मन उपादानभूतादात्म्यस्य तं परमात्मानं
 कोवेदमकोऽपि प्रकृतितः परमात्मभूतयोः जगत्कर्ममिति ब्रह्मवो भान्ताः । तथा
 स एवोपादानमतः परमात्मा स्वयमेव निमित्तभूतोऽपिसन् यदि वा दधेद्विदधे
 इदं जगत्ससर्ज यदिवानससर्ज । असंदिग्धेः संदिग्धवचनमेतत् श्लाघाविचेतप्रमाणं
 स्युरिति यथा । स एव विदधे तं को वेद अज्ञानतोऽपि ब्रह्मवो जडात्प्रधा-
 नादकर्तृकमेवेदं जगत्स्वयमजायतेति विपरीतं प्रतिपन्ना विदधतो विधान-
 मज्ञानतोऽपि स एवोपादानभूत इत्यपि कोवेदमकोऽपि उपादानादन्यः
 तदस्य एवेश्वरो विदधइति हि ब्रह्मवः प्रतिपन्नस्य देया अपि यं न जानन्ति,
 तद्वर्षावीनानरमेषां तत्परिज्ञाने कौव कथेत्यर्थः । यद्येवंजगत्सृष्टिरत्यन्तदुरव-
 बोधना तर्हि साकथं प्रमाणापहृतिमध्यस्त इत्याश्रयतत्सद्भावे ईश्वरः वदं
 प्रनाशयति-यो अस्येति । अस्य भूतभीतिकारणकस्य जगतो योग्यत्वं ईश्वरः
 परमे उत्कृष्टे सत्यभूते ध्योमनि आकाशे आकाशव्यञ्जिते स्वप्रकाशे यद्वा

इस सूत्र का वास्तविक अर्थ शास्त्र साध्य में द्रष्टव्य है अथवा इस आधी
 ऋषांसे पूर्वोक्त सृष्टि की दुर्ज्ञानता का दृढीकरण किया गया है (इयं-
 विसृष्टिरित्यादि) जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई उसे कौन जानता है।
 ब्रह्म से ऐसे भ्रान्त वादी हैं जो कहते हैं कि जगत् उत्पन्न ही नहीं
 हुआ-किन्तु ऐसे ही चला आता है। ब्रह्म से ऐसे भ्रान्त वादी हैं जो
 कहते हैं कि प्रकृति या परमाणुओं से जगत् बना है, इतने से उपादान-
 भूत परमात्मा को कौन जानता है। कोई भी नहीं? वही परमात्मा स्वयं
 निमित्तबनकर (यदि वा दधे यदि वा न इस जगत् को उत्पन्न कर
 चुका है वा नहीं? कहे "शास्त्र यदि प्रमाणा होता" यह अचिन्दिग्ध अर्थ
 में संदिग्ध वचन है वैसे यह भी है। उसी ने रथा है उसे कौन जानता है।
 न जानकर ही ब्रह्म से (कापिलादि) वादी कहते हैं कि बिना कर्ता केही
 स्वयं जगत् प्रकृति से जगत् उत्पन्न होता है ब्रह्म से कहते हैं कि परमात्मा
 तदस्य रहता हुआ ही जगत् को पैदा करता है। ऐसे विलक्षण भगवान्

अवति (तर्पणायां दन्वेषोपि) दृश्यन्त इति मनिन्ने ह्यवशिक्नुतीतीदृपतिपथः
 अवतरत्यरेत्यादिना वकारोपधयो संट् सप्तम्यां लुक् नडिसदुद्धयोरिति नलोप-
 मतिषधः । व्योमनि विशेषण तृप्तेनिरतिशयानन्दस्वरूप इत्यर्थः ।
 यद्वा अवतिर्गत्यर्थः । व्योमनि विशेषण गतव्ये देशकालवस्तुभि-
 रपरिच्छिन्न इत्यर्थः । अथवा अवतिज्ञानार्थः, व्योमनि विशेषण ज्ञातरि
 विशिष्टज्ञानात्मनि ईदृशे स्वात्मनि प्रतिष्ठितः । श्रूयते हि—स नत्कुमार-
 नारदयोः संवादे—सभगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति । स्वे महिम्नीनि । ईदृशो
 यः परमेश्वरः सो 'अग' अनेति प्रसिद्धी लोपिनामवेद जानाति यदि
 सा नवेद न जानाति को नामान्ये जानीयात् सर्वज्ञ ईश्वर एव तर्हि स्पष्टि
 जानीयात् नान्य इत्यर्थः । इति ॥ इतोऽप्यधिकं जिज्ञासुभिरवलोकनीयमृचां
 माधवीयं भाष्यमिति ।

अथाग्रे आम्रकरापरिसमाप्तेः पुरुषसूक्तमात्रमुदाजहार यजुर्वेदस्य तत्र
 वेदभाष्यावसरे यारीतिरङ्गीकृता मन्त्रव्याख्यायास्ततोऽन्यैव काचित् भाष्यभू-
 तिकायामभिहिता । ततपय कारचन मन्त्रव्याख्याः समुदाहरिष्यन्ते विदुषां
 विनोदाय । तथाहि—पुरुषसूक्तस्य तृतीयो मन्त्रो भाष्यभूमिकायान्तर्यं
 व्याख्यातः—

“ एतावानस्य महिमा ततोऽप्यायांश्चपूरुषः ।

पादोऽस्य विश्वामृतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ” । ३

को देवता लोगभी नहीं जानते तौ उसके जानने में अर्वाचीन लोग कहाँ
 तकसफलप्रयत्न हो सकते हैं। यदि जगत् सृष्टि का जानना अत्यन्त कठिन
 है तौ वह प्रमाणा का विषय कैसे है। ऐसी आशङ्का के होने पर जगत् सृष्टि
 होने में ईश्वर वेद का प्रमाण देते हैं:—“यो अस्य ” ति' इस जगत् का जो
 स्वामी ईश्वर है वह परम (व्योमन्) आकाशवत् निर्गल स्वप्रकाश में
 अथवा अपने आनन्द स्वरूपमें अथवा देशादि से अपरिच्छिन्नरूपमें अथवा
 विशिष्टज्ञान रूप स्वात्मा में प्रतिष्ठित है । सन कुमार और नारद के संवाद
 में यह श्रुति आती है “ सभगवः ” इत्यादि । ऐसी परमेश्वर भी जानता है
 वा नहीं जानता । दूसरा कौन जानेगा । सर्वज्ञ ईश्वर ही उस सृष्टि
 को जान सकेगा अन्य नहीं, यह तात्पर्यार्थ है । जिन्हें अधिक देखनाहीवे
 माधवीय भाष्य देखें ।

इसके आगे यजुर्वेद का सभाष्य पुरुषसूक्त है, वेदभाष्य करते समय

(एतावानस्य) अस्य पुरुषस्य भूत भविष्यद्वर्तमानस्थो यावान् संसारे ऽभित्तावान् महिमा वेदितव्यः । एतावानस्य महिमा चर्त्तहि तस्य महिम्नः परिच्छेद इयत्ताजातेति गम्यते । अत्र ब्रूते (अतो एवायांश्च-पुरुषः) नैतावन्मात्र एव महिमैति । किं तर्हि ? अतोऽप्यचिन्तयो महिगाऽनन्तस्य तस्यास्तीति गम्यते । अत्राह— (पादोऽयं ०) अस्थानन्तसामर्थ्य-स्वैश्वरस्य (विश्वा) विश्वानि पृथिवीपर्यन्तानि सर्वाणि भूतानि एकः पादोऽस्ति एकस्मिन्देशांशं सर्वं विश्वं वर्त्तते (त्रिपादस्या ०) अस्य द्विविधोत्तनात्मके स्वरूपेऽमृतं मोक्षसुखमस्ति । तथास्य द्विविधोत्तके संसारे त्रिपाज्जगदस्ति । प्रकाशमानं जगदेकगुणमस्ति । प्रकाशकं च तस्मात् त्रिगुणमिति स्वयं च मोक्षस्वरूपः सर्वाधिष्ठाता सर्वापास्याः सर्वानन्दः सर्वप्रकाशकोऽस्ति ॥३॥ इति अत्राभिधीयते- निरुक्तसन्त्र-व्याख्यायां 'यावान् संसारोऽस्तीत्यत्र संसारपदवाच्यं किमिति ? किं नित्या-नित्यं दृश्यादृश्यसाधारणं प्रज्ञाशुद्धरूपम् ? उत्तपावत्कार्यमात्रम् ? इति ।

जिस रीति का अवलम्बन किया है-उससे भिन्न ही रीति भाष्यभूमि का मैं जालून होती है, विद्वानों के विनोद के लिये कुछ सन्त्र व्याख्या उदाहृत करेंगे:-

पुरुष सूक्त का तीसरा मन्त्र भाष्य भूमिका में इस प्रकार व्याख्यात है:-

“एतावानस्ये”त्यादि-

स्वामी जी का सन्त्रार्थ संक्षिप्त रूप से यह है कि-

“इस पुरुष की यह सब संसार महिमा है और इससे बढ़कर भी है, भगवान् के एकदेश में पृथिव्यादि सब कुछ है और इनके अपने स्वरूप में मोक्ष सुख है” ।

यहाँ यह पूछा जासकता है कि इस सन्त्र की व्याख्या में “यावान् संसारेऽभित्ति” यहाँ संसार पद का क्या अर्थ है ! नित्य अनित्य दृश्य अदृश्य प्रज्ञाशुद्ध का स्वरूप वा कार्य मात्र ? पहला पक्ष इस लिये ठीक नहीं कि स्वामी जी के मत में नित्य चेतनात्मा और नित्य प्रकृति के विषय में ईश्वर का किसी प्रकार का नाहात्म्य नहीं कहा जासकता ? क्योंकि परमात्मा प्रकृति या जीवात्मा को बनाता नहीं है । यदि बनावे तो वे अनित्य मानने पड़ें । “सर्वं शिवा”-सबका मालिक, होना ही इनके ऊपर ईश्वर का

नाद्यः- दयानन्दनयेचिदात्मना नित्यानां नित्यापाश्च प्रकृतेः सर्वोपादान-
कारणभूतायाः त्रिपये कीदृश्यापि महिम्नो निरूपयितुमशक्यत्वात् परमा-
त्मनः । नहि परमात्मा जीवात्मनं प्रकृतिं वा निर्मिमीते । तेषामनित्यत्व-
प्रसङ्गात् । ननु सर्वेशितृत्वमेव साहात्म्यं परमात्मनो नोत्पादकत्वं विनाशक-
त्वं वेत्तिचेत्, सत्यं, सर्वेशितृत्वमपि परमात्मनः स्वरूपं ? अथनिर्धर्मके ब्रह्म-
णि काल्पनिकधर्मापादनम् ? उत वास्तविकधर्मापादनमिति ? स्वरूपे
सर्वशास्त्रसम्मतता तत्र धर्माधर्मापेक्षा न सम्भवति । नहि नित्यं परिपूर्णप्रति-
शक्तिं किञ्चिद्दस्तु कार्यापादने सहकार्यन्तरमपेक्षते, तथासति स्वरूपनाश एव
तस्य स्यात् । उत्तरयादी धर्माधर्मसापेक्षत्वं च परमात्मनः 'वैषम्यनैर्घृण्येत्
सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति' इत्यादि वैषम्यनैर्घृण्यधिकारणे द्वितीयस्य प्रथमे
साधु निरूपितं भगवतावादरायणेन । अत्रैव श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्या
अपि- "पुनश्च जगज्जन्मादिहेतुत्वमीश्वरस्याक्षिप्यते स्थूषानिखननन्यायेन
प्रतिज्ञातस्यार्थस्य दृढीकरणाय । नेश्वरोजगतः कारणमुपपद्यते । कुतः । वैषम्य-

नीहात्म्य है" ऐसा मोनना इन तीन विकल्पों से ठीक नहीं । सर्वेशितृत्व
ब्रह्म का स्वरूप है वा निर्धर्मक ब्रह्म में काल्पनिक धर्म का आपादान करना
है वा वास्तविक धर्म का ? यदि स्वरूप पक्ष माना जाय तो जगत् निर्माणमें
सर्वशास्त्रसंमत धर्माधर्म की अपेक्षा न रहेगी, क्योंकि नित्य परिपूर्ण अप्रति-
हतशक्ति परमात्मा द्वितीय सहकारी की अपेक्षा नहीं करेगा, यदि दूसरे
की अपेक्षा करे तो स्वरूपनाश की प्रसक्ति ही जगत् की उत्पत्ति और प्रल-
यादि में परमात्मा को धर्माधर्म सापेक्षता है इस बात की भगवान् व्यास ने
द्वितीयाध्यायके पहले पाद में वैषम्यनैर्घृण्यधिकारणमें अच्छे प्रकार निरूपण
किया है इसी विषय पर भगवत्पाद शङ्कराचार्य ने लिखा है "स्थूषानिखनन
न्याय से अर्थात् घुन काठ को सज्जबूत गाड़ने के लिये खोद कर ठीक गाड़ते
हैं इसी रीति से अपनी कहों दुई बातको पुण्ड करने के लिये-ईश्वर, जगत्
की उत्पत्ति आदि का कारण है- इस पर आक्षेप किया जाता है :-
ईश्वर जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्यों कि वैषम्य और नैर्घृण्य दो
दोष आते हैं । किन्हीं देवादिकों को अत्यन्त दुखी बनाता है, किन्हीं पशु
आदिकों को अत्यन्त दुखी करता है, किन्हीं सुख दुःख भोगने वाले मनु-
ष्यादिकों को बनाता है इस प्रकार विषम-सहित बनाने वाले परमेश्वर में

नैर्घृण्यप्रसंगात् । कांश्चिदयन्तमुखभाज करोति देवादीन् । कांश्चिदत्यन्त-
दुःखभाजः पश्यादीन्, कांश्चिन्मध्यमभोगभाजो मनुष्यादीन्त्येवं विषमां
सृष्टिं निर्मिनाश्रयेश्वरस्य पृथग्जनस्येव रागद्वेषोपपत्तेः । श्रुतिस्मृत्यवधारित-
स्वच्छत्वादीश्वरस्वभावविलोपः प्रसज्येत । तथा स्वस्तजनैरपि जुगुप्सितं नि-
र्घृण्यत्वमतिक्रूरत्वं दुःखयोगविद्यानां सर्वप्रजोपसंहाराच्च प्रसज्येत । तस्माद् वैष-
म्यं नैर्घृण्यप्रसङ्गान्नेश्वरः कारणमित्येवं प्रापते ब्रूनाः— वैषम्यनैर्घृण्येनेश्वर-
स्य प्रसज्येते । कस्मात् सापेक्षत्वात् । यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरोविषमां
सृष्टिं निर्मितीते, स्यातामेतौ दोषो वैषम्यं नैर्घृण्यं च ! नतु निरपेक्षस्य
निर्मातृत्वमस्ति सापेक्षोहीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मितीते । किमपेक्षत इति
चेत् । धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः । इत्येवमुत्पत्त्यादीधर्माधर्मावपेक्षमाण-
स्य परमात्मनो न निरंकुशत्वमीशितृत्वमिति । न द्वितीयः— “निर्गुणं नि-
ष्क्रियं शान्तं निरवद्यं” असङ्कोच्यं पुरुषः” इत्यादिश्रुतिश्रुतैर्निर्धर्मके सिद्धे
ब्रह्मणि कात्पनिकधर्मादात्ने तत्रैव स्वसिद्धान्तादपच्युतेः स्पष्टत्वात् ।

गामूली आदिभिर्यो को तरह रागद्वेष मानना पड़ेगा । और श्रुति स्मृति प्रति-
पादित स्वच्छतादि ईश्वर के स्वभाव का लोप ही प्रसक्त होगा । और दुष्ट
लोग भी जिसकी निन्दा करते हैं ऐसा नैर्घृण्य प्राणियों को दुःखी करने से
तथा प्रजा का उपसंहार करने से लगेगा— इह वैषम्य और निर्दयता दोष
प्रसङ्ग से ईश्वर जगत् का कारण नहीं होसकता इस पूर्व पक्ष के उत्तर में
कहते हैं कि— ईश्वर में वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं आ सकते क्योंकि
धर्माधर्म की अपेक्षा से ही ईश्वर, सृष्टि का निर्माण करता है यदि निर-
पेक्ष होकर अरेला ईश्वर सृष्टिका निर्माण करता तो येदोनों दोष आसकते
थे अन्यथा नहीं” ॥ इस प्रकारउत्पत्ति आदि में धर्माधर्म की अपेक्षा रखने
वाले परमात्मा को निरंकुश ईशितृत्व नहीं है । द्वितीय पक्ष इसलिये ठीक
नहीं कि “निर्गुणं निष्क्रियम्” इत्यादि श्रुतियों से यद्यपि ब्रह्म निर्धर्म है
पर ऐसा मानने से आप अपने सिद्धान्त से निर जायने अर्थात् आपके मत
में जो ब्रह्म निर्धर्म नहीं माना गया जगदादि की कर्तृता, परमात्मा में
कात्पनिक शोष मानते कहां हैं ? आपनी यथार्थ कर्तृता परमात्मा में मानते
हैं । तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि वस्तुतः निर्धर्मक ब्रह्म में सत्यधर्म का
आपादान करना ‘मेरे मुख में सिद्धा नहीं” इत्यादि वाक्यों के तुल्य अपने

महि जगदादिकार्यनिकृपितकर्तृत्वं करत्वनिष्कं परमात्मनि तयाभिमतम् ।
 तत्रतत्र परमार्थसत्त्व एव कर्तृत्वस्य परमात्मनि त्वया निरूपयामात् । एवमन्तती-
 योऽपि वस्तुतो निर्धनंके ब्रह्मसिद्धत्यधर्मापादानैः ममसुखेतिहानास्ति, माता मेव-
 न्ध्या” इत्यादिवाक्यवत् स्पष्टपदस्यवचीव्यापातः । नहिकश्चिदप्यनुत्तमं स
 एव समुत्प्रेक्षेतापि । तथाचनित्यानित्यसाधारणदृश्यादृश्यविषया यावद्ब-
 ह्मायवगोचरा महिमता कथमपि न सम्भवति भवदभिमते परमेश्वरेऽनुपपत्ते-
 रिति । नान्तयः— कार्यं साक्षप्रत्यपि महिबलेशितृते न स्वतन्त्रस्य निरपेक्षस्य
 परमात्मनस्तवाभिमते । युक्तञ्च तत्— एतच्चावकमण्डपमसुखदुःखभेदव्याप्राण-
 भृत्यपञ्चसुखदुःखकारणं मुधाविधादि चानेकविधं विरचयतः प्राणभूदभेदो-
 पत्तापानुपपत्तकर्मण्यसहायस्यात्रभवतः परमेश्वरस्य रक्तद्विष्टादिदोषानापत्तेः ।
 तथाचम तस्यैवद्वैतानस्थो योवानुसंसारोस्ति तावागस्यपुत्रवस्य महिमावेदि-
 तव्यमिति सर्वपैतःप्रलापनात्र मुग्धिजनः । अस्य मन्त्रस्य यथार्थस्तथाग्निवद्वेते
 किञ्च एतावानस्य महिमावेत्तहि तस्यमहिम्नः परिच्छेदइयता जातेतिगम्यते
 इत्यादिना तस्य परिच्छिन्नत्वापादनसाक्षं मन्त्रपदैरेवोत्तरमाह—अन्नमूते
 (अतोऽप्यार्थाश्चपूरुषः) नैतावन्नाम एवमहिमेति । किंति ? अतोऽप्यधिकत-
 मोमहिमाऽनन्तस्य तस्यास्तीतिगम्यते । इत्येतदपि सुविदोवेदार्थोत्तमिहज्जात-

वाक्यका विघात ही करना है कोईसमकदार ऐसेविचार भी नहीं सकता । इस
 लिये नित्यानित्य समस्त ब्रह्मायव विषयक- महिमता आप के माने हुए
 परमेश्वर में किसी प्रकार भी सुसंगत नहीं हो सकती । अन्त्यपक्ष इस लिये
 ठीक नहीं कि कार्य साक्ष के प्रति महिमता और ईशितृता, स्वतन्त्र निरपेक्ष
 परमात्मा को तुरहे अभिमत नहीं । युक्तियुक्त यही बात है कि माणियों
 के धर्माधर्म की अपेक्षा से जगत् को सगवान्पदा करते हैं इस लिये परमे-
 श्वर में कोई रागद्वेषादि दोष नहीं आसकते । इस लिये “यात्रान् संसारो-
 स्ती”त्यादि सुखी का प्रलापनात्र है । इस मन्त्र का यथार्थ अर्थ आगे
 कहा जायगा । और देखिये—एतावानस्य, इत्यादि ग्रन्थ से परमेश्वर महिमा
 की अवधि की आशङ्का करके मन्त्राक्षरों से ही उत्तर दिया है कि “अनन्त
 परमेश्वर की हरसे अधिक महिमा है” पर यह भ्रष्टोत्तर मन्त्रार्थके अज्ञान
 का विलास है । वस्तुतः इस मन्त्र में चकार भिन्नक्रम नहीं है, यदि ऐसा
 ही तो पूर्वपुरुष की अपेक्षा से इस पुरुष का आधिपत्य श्रुति से प्रतिपादित

विजृम्भणमात्रम् । तान्न चकारो भिन्नकृत्, तथासतिपूर्वापेक्षयाऽप्यपुरुषस्य
 उभावस्त्व' श्रुत्या प्रतिपादितं भवेत् । नचैतत्सम्भवति एतावानस्यमहिमा
 इतिपूर्वसम्भ्रमतिपादितपुरुषातिरिक्त एव तदपेक्षयाच उच्ययान्पुरुषस्तथासति
 अतोऽयथायाश्चपुरुषाः, इतिचन्त्रपदेनिरूपिताः स्यात् । तथाचान्त्रपुरुषपदस्य प्रति-
 पादनसंशयमेव । वस्तुतश्चकारोऽवधारणार्थः-अतोऽयथायानेवपुरुषाः, इति ।
 यतोऽप्य एतावान् नहिमा, अतोऽयथायानेवपुरुष इत्यर्थः । तदेवचविशदीकृत-
 गुत्तरेशंसन्नाद्धेन पादोऽस्यविश्वेत्यादिनेति । अथ "अत्राह (पादोऽस्य०) अ-
 स्थानन्तसान्तर्यस्येश्वरस्य (विश्वेश) विश्वान्निप्रकृत्यादिपृथिवीपर्यन्तानि
 सर्वाणिभूतान्मेकः पादोऽस्ति एकस्मिन्देशांशे सर्वं विश्वं वर्तते" । इतियद्-
 क्तं तदपिच युक्तमाभाति । प्रकृत्यादिपृथिवीपर्यन्तानीति व्याख्यापदानां
 तात्पर्यस्य निरूपयितुमशक्यत्वात् । नहिप्रकृतिमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानि स-
 र्वाणिभूतानिपेव । भूतातिरिक्तानां प्रकृतिमहदहङ्कारेन्द्रियाणामपि सत्त्वात्
 प्राणिजातमेव भूतपदेनोच्येतचेत् ? प्रकृत्यादिपृथिवीपर्यन्तानीत्येतत्पादो-
 पन्यासप्रयासो नुशैबदयानन्दस्येति । इत्थंप्रकृत्यादिपृथिवीपर्यन्तानांसर्वे-
 षांभूतत्वभावाद् न शास्त्रपरिशीलनविशदक्षेमुपीकृतानामात्मनःख्यापयतीति
 विद्वांसपेव विदाङ्कुर्वन्तु इति । किञ्च 'एकः पादोऽस्ति, इत्यस्यैव एकस्मिन्

हो । पर यह ही नहीं संकला क्यों कि दोपुरुषों का प्रतिपादन श्रुति को इष्ट
 नहीं । वस्तुतः सन्त्रगत 'चकार, निश्चयार्थक है ।

सन्त्रार्थ यह है कि इतनी उक्त पुरुष की महिमा है इस लिये वह सब
 से बड़ा ही है, इसी बात को अगले सन्त्राद्ध से स्पष्ट किया है कि "सबलगत्
 इव का एक हिस्सा है इत्यादि" । आगे देखिये-"अत्राह से लेकर देशांशे
 सर्वं विश्वं वर्तते इत्यन्त" । सब यह अयुक्त है 'प्रकृत्यादि पृथिवी पर्यन्त
 इन पदों का क्या तात्पर्य है । प्रकृति से लेकर पृथिवीपर्यन्त सब 'भूत,
 नहीं हैं । भूतों से अतिरिक्त प्रकृति, महान्, अहङ्कार, इन्द्रियां भी तौ है ?
 यदि भूतपद से प्राणिसमूह ही लिया जाय तो क्या छर है ! तो फिर
 प्रकृत्यादि, यह ग्रन्थ व्यर्थ है । प्रकृत्यादि पृथिवी पर्यन्तों को भूत कहने
 वाले स्वामी दयानन्द, अपनी शास्त्रज्ञता खतरा रहे हैं- इस विद्वान् लोग
 समझें । ऊपर आपने देखा 'एकस्मिन् देशांशे सर्वं विश्वं वर्तते' यह 'पादो-
 ऽस्य' का भावार्थ मालूम होता है । यहां देश के पीछे 'अंश' की और 'सर्व' के

देशांशे सर्वं विश्वं वर्तते, इति भावाद्यः प्रतीयते । अत्र सम्भवत्येव कदाचि
 दद्यानन्दनैकदेशनिखिलार्थबोधकयोःपि देशसर्वशब्दयो र्यथाक्रम निरूपकार्य-
 बोधकर्ता प्रति सर्वथापि न विश्वस्तं स्यात् । अतएव तौ द्वावपिशब्दा-
 वंश विश्वलाङ्गुली निरूपितौ । वस्तुतस्त्वेकस्मिन् देशे सर्वं वर्तते, इत्ये-
 तावतैवेष्टसिद्धौ तथा प्रतिपादननातन्वो वैदुष्याविश्रयस्ततामेव सूचयती-
 ति । अथ “ (त्रिपादस्या०) अस्य दिविद्योतनात्मके स्वस्वरूपेऽनृतं नोक्ष-
 सुखमस्ति । तथाऽस्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपादजगदस्ति ।
 प्रकाशयमानं जगदेकगुणमस्ति प्रकाशकं च तस्मात् त्रिगुणमिति ” ।
 अस्योक्तस्याऽस्मान्मिस्तु सर्वथापि नावगतोऽर्थः । इहापि द्योतनात्मके स्वस्वरूपे-
 नृतमित्यत्र स्वरूपेण स्वपदमुपस्थापितमेव, किंस्वरूपस्यापि परात्मता
 शङ्का ? यथा भीतो द्योतनन्दस्तश्चित्तयेऽपरं स्वपदं व्यवस्थापयामास । तथा
 किं विधे द्योतके संसारे कीदृशं त्रिपादं जगदिति ? किं तदेकगुणं प्रकाशयमानं ?
 किंच त्रिगुणं प्रकाशकम् ? किंपुनरत्र दद्यानन्दस्याभिसतम् ? विद्यात्र युक्तम् ?
 इति बहुधा सावधानं विचारयन् नहसमुत्तमं सर्वमपि नास्ति सिद्धम् । अत-
 स्तन्नित्यत्र सम्प्रति प्रार्थयन्ति सानुनयं सम्प्रथमं साङ्गलियन्धं च पराप-
 दर्शिनो विवेकशालिनो विद्वांसः । तेषामिच्छा सावधानं यथाविचारं परि-

पीछे विश्वकी पूछ लगाई है, देश और सर्व के ऊपर विश्वास नहीं हुआ
 “ एकस्मिन् देशे सर्वं वर्तते ” इतना लिखना मात्र पर्याप्त था पर यहाँ
 भी उपर्युक्त पश्चिद्धताई प्रकट की है । अग्नि की संस्कृत देखिये और उसका
 भाव प्रसक्तिये — भला इनसे कोई पूछे कि ‘ स्वस्व रूपे, मैं एक और स्वशब्द
 क्यों घुसेड़ दिया । क्या स्वरूप मात्र कहने से काम नहीं चलता था ।
 हाँ नहाराज ! यह तो बताइये द्योतक संसार कौनसा है । और उसमें
 त्रिपाद जगत् क्या बला है, यह त्रिगुण प्रकाशक क्या है । युक्तयुक्त का
 कुछ तो विचार किया होता । हमें तो यह उलूल जुलूल कुछ नहीं
 समझ में आता, विचारशील विद्वान् ही इसे सोचें । इसी नन्त्र के
 व्याख्यान से अन्त में परमात्मा को मोक्षस्वरूपता को प्रतिपादन किया है
 और प्रकरणान्तर में मोक्ष को अनित्य ठहराया है—वच-धृष्टता की जीत
 हुई ! सदबुद्धि भगई । वैदिक मार्ग दौड़ गया । क्या कहें । विद्वान्
 भी इस मार्ग से डर गये । यह केवल एक नन्त्र के व्याख्यान के विषय में

शीलयन्तु । इति । अथ मन्त्रव्याख्यानोपसंहारावसरे परमात्मन एव मोक्ष-
स्वरूपतां प्रतिपादयन्नपि सोऽज्ञस्यान्यत्र प्रकरणोद्भवमित्यत्रैव स्वीकारंति
जितं चाच्छ्रयैः, नतं सुबुद्ध्या, समाक्रान्तं चाविचारशीलतया, पलायितं वेदि-
मुपस्था, किं बहुना भीतं सन्मार्गप्रवर्तकै रपि विद्वद्भिरित्यलं परलक्षितेन ॥
इति ॥ अत्रास्माभिः क्षेत्रज्ञमेकस्य सन्त्रस्य व्याख्यानमुपदर्शितम् । इत्यमेव
स्वतन्त्रनिबन्धेषुप्रायशो मन्त्रव्याख्यानानेषुसर्वत्रापि निरर्थकपदोपन्यासाः,
मूलव्याख्यानयो मियोविरोधाः, क्वचित् स्वोक्तस्यैव व्याघाताः, क्वचित्
शास्त्रसिद्धान्तघाताः, व्याकृतितन्त्रानभिज्ञता, स्वैरस्वकलिपतांशप्रतिपादनम्,
अनगललेखनशैली, इत्येतेभ्यश्च बहवो दोषास्तत्रज्ञानुस्यूताः सन्ति ।
तत्सर्वं स्वयमेव विद्वद्भिरविचारणीयम् । अस्माकं तु दिग्दर्शनमात्रमेवेति ॥
अतः परं यजुर्वेदभाष्ये कुलसभ्यस्य सन्त्रस्य व्याख्यानं यथाप्रतिज्ञमत्र
समुद्घ्रियते । स्याद्दिह-(पलायान्) दृश्यादृश्यं ब्रह्मासद्वरूपं (अस्य)
जगदीश्वरस्य (सहिमा) नाहात्म्यम् (अतः) अस्मात् (व्यायान्)
अतिशयेन प्रशस्तो महान् (च) (पुरुषः) परिपूर्णः (पादः) एकोऽशः
(अस्य) (विश्वा) विप्रजानि सर्वाणि (भूतानि) पृथिव्यादीनि (त्रिपात्)
त्रयाः पादा यस्मिन् (अस्य) जगत्स्रष्टुः (असृत्म्) नाशरहितम् (दिवि)

ही हजने लिखा है, ऐसे ही जितने स्वामी जी के मन्त्र व्याख्यान हैं
उनमें व्यर्थ पदों का उपन्यास, मूल और व्याख्यान का परस्पर विरोध, कहीं
अपनी ही बात का खण्डन, कहीं शास्त्रसिद्धान्त की हानि, व्याकरण शास्त्र
से अनभिज्ञता, मनमाने अर्थ की कल्पना, अनगल लेखना, इत्यादि बहुत
से दोष हैं जो विद्वानों को स्वयमेव जानलेने चाहियें, हमारा तो दिग्दर्शन
कराना मात्र कार्य है । इसके आगे यजुर्वेद का भाष्य बनाते हुए जो इस
मन्त्र का व्याख्यान किया है वह भी देखते चलिये—मूलों भाष्य पहिये—
और इस भाष्य से मिलान कीजिये आपको बहुतसा भेद मिलेगा—जो कि
सर्वथा अनिवार्य है और स्वामी जी की पूर्वोपरानभिज्ञता का द्योतक है
हमारे मत में तो कोई दोष नहीं क्योंकि इस पुरुष सूक्त में विराट् रूप-या-
वद् ब्रह्माण्डाभिमानो चेतनात्मा का ही निरूपण है । जैसे अस्मदादि
देहेन्द्रियादिविशिष्ट शरीरी हैं वैसे वह भी ब्रह्माण्ड रूप शरीर के होने
से शरीरी है, इसी लिये " ततो विराडनायत " इत्यादि श्रुतियां भी

द्योतनात्मके स्वस्वरूपे ॥३॥ इति ॥ अत्र हि 'भूतानि' पृथिव्याद् निःसृज्येदा-
दिभाष्यभूमिकायांतु प्रकृत्यादीनि । अत्र पुनस्त्रिपादस्य मृतं वर्तते, भाष्यभूमि-
कार्जांतु त्रिपाद् जगदस्ति, एकगुणप्रकाश्यापक्षया प्रकाशकं च त्रिगुणमस्ति ।
इत्थं निरूपितमेवास्माभिरस्य कृता मिथोविरोधः । अस्माकं तु जैनेदीषाः
कथमपि सम्भवन्ति । यतो हि पुरुषतूक्तं जगत् विराडारूपस्य यावद् ब्रह्माण्डमि-
मानिनश्चेतनस्यात्मन एव निरूपणम् । यथास्मदादयो देहेन्द्रियादिविशिष्टाः
शरीरिणस्तथा सोऽपि ब्रह्माण्डशरीरत्वात् शरीरी एव । अतः "ततो विराड-
जायत" इत्यादि तदुत्पत्तिप्रतिपादिकाः श्रुतयोऽपि संगच्छन्ते । यद्यप्यात्मा
नित्यशुद्धत्वादिस्वरूपस्तथापि उपाधेरनित्यत्वादीत्पत्तिकत्वाच्च तथैव व्यव-
हारः । अस्मदादीनामिवेति । स एवचोपहित आत्मा सृष्ट्यादिसारभते,
तदेव प्रकृत्येदं सूक्ष्मम् । तथाचास्य मन्त्रस्यायमर्थः— अतीतादिकालविशिष्टं
यावज्जगदस्ति सर्वोप्येतावानस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयज्ञानधर्मविशिष्टो-
विभूतिर्नतु वास्तवं रूपम् ; वास्तवपुरुषस्तु अतः अस्मात् महिम्ना जगज्जा-
लात् ज्यायंश्च अतिशयेनाधिकः । एतदुभयं स्पष्टीक्रियते । अस्य पुरुषस्य
विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादप्रचतुर्थांशः ।
अस्य पुरुषस्यावशिष्टं त्रिपादस्वरूपं असृतं विनाशरहितम् । तत् दिवि द्योत-

संगत होजाती हैं । यद्यपि आत्मा नित्य शुद्धबुद्ध है— वह अज्ञ है तथापि
उपाधि को अनित्य और उत्पन्न होने से आत्मा में भी उत्पन्न होने का
व्यवहार होता है । जैसे अस्मदादि नित्य हैं पर शरीरों की उत्पत्ति से उत्प-
त्तिरव व्यवहार होता है । वही उपाधियुक्त आत्मा सृष्टि आदिका आरम्भ
करता है— उसी को लेकर सूक्त प्रवृत्त हुआ है । इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ
यह है कि— "भूतादि कालयुक्त जितना जगत् है वह सब उस पुरुष ही महि-
मा अर्थात् शक्ति विशिष्ट विभूति है, वास्तव स्वरूप नहीं । वास्तव पुरुष
तो इस जगज्जाल से अत्यन्त अधिक है । ये ही दोनों बातें आगे स्पष्टीकृत
हैं— अर्थात् इसी पुरुष के कालत्रयवर्ती सब प्राणी—चौथा हिस्सा हैं और
बचे हुये तीन पाद असृत अर्थात् विनाश रहित हैं । वह ही पुरुष अपने
स्वरूप में स्थित है" यद्यपि "सत्यं ज्ञानसमन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियां ब्रह्म
की इयत्ता का अभाव बोधन करती हैं इस लिये चार हिस्सों का निरूपण
करना ठीक नहीं परन्तु यह जगत् ब्रह्मस्वरूप की अपेक्षा बहुत छोटा है—

नात्मके स्वप्रकाशे स्वरूपेऽवतिष्ठत इति शेषः । यद्यपि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यास्मानात्स्थानन्तस्य ब्रह्मण इयत्ताया अभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथाप्यस्य जगतो ब्रह्मरूपापेक्षयाऽल्पीयस्त्वमिति विवक्षणा तथोपन्यासा इति ॥ एवं सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् सृष्टिविद्याप्रकरणे यजुर्वेदस्य पुरुषसूक्तमेव समुद्घृतम् । या तत्र शैली स्वीकृता दयानन्देन व्याख्यायाः सात्त्विकानामिदं शिष्यप्राया, अतस्तत्र न किञ्चिदधिकं वक्तव्यमस्ति । विमलमतिभिर्विद्वद्भिरेव सर्वं विभावनीयमिति ।

इति संक्षेपतः सृष्टिविद्याविषयः ।



अतः परं यथाक्रमं पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः, आकर्षणानुकर्षणविषयः प्रकाश्यप्रकाशकविषयः, गणितविद्याविषयः, इत्येते चत्वारो विषयाः संक्षेपतो निरूपिताः सन्ति । एतत्प्रकरणचतुष्टयस्य इदमेव प्रयोजनम्,— यदेते निरुक्ता विषया वेदेषु सन्ति, तथा च सर्वविद्यानां मूलस्थानं वेद इति । तदेतस्मिन् प्रयोजनविषये नास्माभिः किञ्चिद्वक्तव्यम् । निःसन्देहसत्येव

यह कहने की इच्छा से यह कहा गया है । इस सृष्टिविद्या प्रकरण में यजुर्वेद के पुरुषसूक्त का ही समुद्धरण स्वामी जी ने किया है और जो दयानन्द ने व्याख्याशैली स्वीकार की है वह तो हम दिखा ही चुके, कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, विद्वान् लोग स्वयं विचार लेंगे ।

इति संक्षेप से सृष्टिविद्याविषयः ॥



इसके बाद क्रम से (१) पृथिव्यादि लोकों के भ्रमण का विषय (२) आकर्षणानुकर्षण विषय (३) प्रकाश्य-प्रकाशक विषय (४) गणितविद्या विषय । ये चार विषय बताये हैं । इन चारों प्रकरणों के बताते का प्रयोजन यही है कि ये सब विषय वेदों में हैं और इस प्रकार सब विद्याओं का मूल स्थान वेद है । इस प्रयोजनविषय में हमें कुछ वक्तव्य नहीं है क्योंकि निःसन्देह सब विद्याओं का स्थान वेद है । भगवत्पादशङ्कराचार्य ने "शास्त्रयोनित्वात्" इस सूत्र के व्याख्यानोत्तर में स्पष्ट रूप से विविध विद्याओं का

सर्वविद्यानां स्थानं वेदः । श्रीनन्दः भगवत्पादाचार्यैरपि 'शास्त्रयोनित्वा-
दि'ति सूत्रव्याख्यातवसरे "नह्यत ऋग्वेदादिः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपवृ-
द्धितस्य मदीपवत्सर्वार्थावधौतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिःकारणं ब्रह्म । नही-
दृश्यस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञान्यतः संभवोऽस्ति-
द्वत्यादिग्रन्थेन स्पष्टमेव विविधविद्यावृद्ध्यनयं वेदस्य प्रत्यपादि इति ।
परं तत्रतत्रोक्तार्थं प्रमाणाद्यितुमुपन्यस्तानागितस्ततः संगृहीतानां श्रुतिस्मृति-
प्रमाणात्मानमर्थ एव दूनयति विदुषां चेतांसि । यद्यपि सर्वत्रैव श्रुत्यादि-
व्याख्यायानियं व्यवस्था, तथापि विस्तरमिथा साम्प्रतमेकस्यैव मन्त्रस्य
व्याख्यानमुपदर्शयते । तदेव वैदुषीख्यापनायालं स्यात् । तत एवच विद्वद्भिरपि
'अन्तःप्रविश्य पश्यामि यावन्नमं च दारुचेत्येतत्साक्षोत्कृतं स्यात् । तच्च "आ-
कृष्णेन० इति" सैपात्रयस्त्रिंशत्संख्येत्वारिंशी यजुर्वेदीया । अत्र दयानन्दो
चदति "अत्रारुर्षणद्विद्यास्तीति । (आकृष्णेन०) सविता परमात्मा सूर्यलो-
को वा रजसा सर्वैर्लोकैः सहाकृष्णेनाकर्षणगुणेन सह वर्तमानोऽस्ति" । इत्य-
हो धाट्यं मुग्धिः । धाट्यं वा एतदुच्येत, लोकप्रसारकरत्वं वा प्रकीर्त्येत,
सर्वथापि सौकर्यं बोध्यायेत । वस्तुतः सर्वाणीयंकृतिः सुकृतिनो दयानन्दस्य
वैदेशिकविद्याहृतहृदयैः शास्त्रप्रदक्षितसत्पद्धतिरेवावगतमूलमिति मन्यमानै-
र्महाशयैः सुरभारतीमपि तद्वीभाग्येन अप्राप्तेन पुनानैः मित्रत्वमुपागतैः

स्थान वेद है इस बात का प्रतिपादन किया है । पर इसी बातको प्रमाणात्
करने के लिये एधर उधर से संगृहीत श्रुति स्मृति प्रमाणों का मनमाना अर्थ
कल्पना करना विद्वानों के चित्त को दुःखित करता है यद्यपि सर्वत्र स्थानी
जी की व्याख्या में यही दशा है पर इस समय विस्तार भय से केवल एक
मन्त्र की व्याख्या ही बतलाये देते हैं—वही उनकी स्वामी जी की पण्डिताई
के लिये पर्याप्त है । उन्हीं से सम्बन्धित लोग " अन्तः प्रविश्य विज्ञातं " इस
प्रज्ञानमन्त्र की कड़ानी को खोल कर लेंगे । देखिये " आकृष्णेन० " यह मन्त्र
यजुर्वेद के ३३वें अध्याय का ४४वां मन्त्र है । इस पर स्वामी जी लिखते हैं
"अत्रारुर्षणद्विद्याऽस्तीत्यादि" इति धृष्टता कहें वा लोकप्रसारणा । जो ही
अज्ञाना ज़रूर है । वस्तुतः ऐसा मानना होता है कि तपस्वी दयानन्द देव-
वाणी को सूँघकर ही पवित्र करनेवाले विदेशीय विद्याओंके घोर प्रक्षपाती
उनके मित्र बने हुए किन्हीं लोगों के संसर्ग से ऐसा लिखने की विवश हुए

कैश्चिद्दपि संतर्गादेवेति सम्भावयामि । अन्यथा कथमयमनर्थः नभापद्येत । अथ 'सविता' पदस्य 'परमात्मा सूर्यलोको वा' इत्ययमर्थो विहितः । तत्र दुर्जनतोऽपन्यायेन सन्मन्त्रव्याख्यादां यथाप्रतिष्ठं दयानन्दस्याकर्षणविद्याग्रन्थे स्वीक्रियेतापि, तथाप्यस्मिन्ग्रन्थे चोक्तार्थाऽस्य भवितुमर्हति । यदि परमात्मापि सर्वलोकैः सदाकर्षणगुणेन सह वर्तमानोऽङ्गीक्रियेत, तदा परमात्मवेदनोपयैकदेशि वनेषु परमात्मनः स्यात् । नच सर्वद्रष्टुः सर्वविशारदात्मनस्य तस्य केनापि परिच्छिन्नतत्वं सम्भवति । नचैतदात्मोक्रियते सामानिकैरपि । सर्वलोकत्रिधाः संज्ञनसर्वं तु परमात्मन्यसङ्गच्छूयते । "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी द्यावापृथिव्यो विद्युते तिष्ठतः" । "अमृतस्यैव सेतुविधरसो लोकानामसंभेदाय" इत्यादिषु ॥ अत्र तावदाकर्षणविद्याप्रतीत्येव न सम्भवति । 'आकृष्येन' इत्येत्याकर्षणगुणेनेत्यर्थं प्रतिपादयन् स्वहार्दकेषु कठोरं श्लेष्यं बहिराकृष्य प्रसारयति । यद्यपि 'आ' इतिपदं 'वर्तमान' इत्यनेन सम्बद्धं, तथाप्ययमाकर्षणगुणेन 'व्यवहृताश्चेति पाणिनीयमभिधानं सर्वथा विशिष्टस्य कृच्छेनेति पदेन योजितवान्, एवमप्यलनाशपर्ययां सिद्धयाम्, दुर्गतमवैतदन्य नैवर्गिकमिति । किञ्च मन्त्रेण द्वितीयाहुं 'रथेनादेवो याती'-त्यत्र वेदव्याख्यायामरे 'आ' पदमूलिलस्यापि न तस्यार्थः कश्चिद् व्यधायि ।

है । अन्यथा ऐसा अनर्थ कैसे हो सकता था । 'सविता' पदका परमात्मा वा सूर्य लोक यह अर्थ किया है यदि दुर्जनतीय न्याय से स्वामी जी का अर्थ मान भी लिया जाय अर्थात् इस मन्त्र में आकर्षण विद्या है— यह बात स्वीकार भी करनी जाय, परन्तु इस पक्ष में यह पूर्वोक्त अर्थ इस मन्त्र का नहीं हो सकता । क्योंकि यदि परमात्मा सब लोकों के साथ आकर्षण गुण से विद्यमान है तो उसमें एकदेशिता आजायगी । और वह एकदेशिता सनातनधर्मी वा आर्यसत्पत्नी किसीको भी इष्ट नहीं है क्योंकि एकदेशिता वा परिच्छिन्नता सबको धारण करने में समर्थ परमात्मा में हो नहीं सकती । ईश्वर की श्रुति बार २ सब लोकों को धारण करने वाला धनला रही हैं " हे गार्गी ! इसी अक्षर परमात्मा की आत्मा में सूर्य लोक और पृथिवी लोक धारण किये हुए स्थित हैं" "लोकों की यथावत् स्थितिके लिये सबका धारण करने वाला यह परमात्मा पुत्र के तुल्य है" इत्यादि । इस मन्त्र में आकर्षण विद्या का प्रतिपादन है— यह असंभव है । 'आकृष्येन' इस पदका आकर्षणगुणेन यह अर्थ

गद्यपीदं याती, ति क्रियापदेन संबध्यते, तद्विनैषयातिगच्छतीत्युक्तम् । अत्र पुनर्मन्त्र एव तत्पदं नोपात्तम् । अतः शङ्कैव सा दूरापिता, चतुरोऽयमस्मिन्कर्माणि प्रणीयत इति । मन्त्रार्थस्तु सविता देवः । हिरण्ययेन हिरण्ययेन रथेन आधात्ति आगच्छति । किङ्कुर्वन्, कृष्णेन रजसा रात्रिलक्षणं न सहप्रावर्त्तमानः । पुनश्च मया कुर्वन् अद्यत देवादिकं मर्त्यं मनुष्यादिकं च निवेशयन् स्वस्वप्रदेशेषु स्थापयन् भुवनानि पश्यन् कानि साधु कुर्वन्ति कान्यसाध्विति विचारयन् इति । सर्वमन्यत्सुधीभिर्विभावनीयम् ।

इति संक्षेपतः पृथिव्यादिलोकभ्रमणादिविषयाः ।

अर्थेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणोपासनाविद्याविषयः संक्षेपतः

ससालोचनपूर्वकं निरूपयते ।

अत्रोक्तप्रकारं प्रलम्बितकायं शीर्षकमुल्लिख्य प्रकटितएव प्रार्थनायाचनयोर्निर्णयोऽपूर्वोभेदः । अर्थयाचघातवोरकार्थपरत्वेऽपि कथमर्थभेद इति तादृशयोगिकानबुद्धिवेद्यमेवैतत् । विशदमते ! निरूपितेऽपि प्राग्भवतास्तुतिविषये, वक्ष्यते चेति भवदुक्त्याऽनुमिते तस्य निरूपयिष्यमाणात्वेचात्र शीर्षके पुनस्तदुल्लेखः किंप्रयोजनक इति न ज्ञायते । किञ्च यन्थादीं निरूपयमाणे प्रार्थनोपि पयः कुतो न व्यवस्थापितमेतत् ? । कथञ्चिद्भवत्वप्येवम्, तथाप्यवलोकनीयमेवास्-

करना अपने हृदय की कृष्णता को ही फैलाना है और इस पदका वर्तमान, पदके साथ सम्बन्ध है यहाँ आपने व्यवहृताश्च, इस पाणिनिसूत्र की भूलकर कृष्णन, इस पदके साथ मिला दिया । इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं—यह इनका स्वाभाविक दुर्व्यसन ही गया है । मन्त्र के उत्तरार्द्ध में "रथेना देवो" इसकी वेद व्याख्या के समय 'आ, इस पद का उल्लेखकरके भी कुछ अर्थ नहीं किया । यद्यपि 'आ, पद 'याति, इस क्रिया पदके साथ सम्बद्ध है— उसको छोड़कर "याति-गच्छति" यह लिख दिया । यहाँ ती उस पदको ही नहीं रक्खा । भगड़ा ही कुछ न रक्खा ।

मन्त्रार्थ-वस्तुतः यह है:—

सवितादेव हिरण्ययेन रथेन आता है, रात्रिके साथ वार २ भ्रमण करता हुआ । देवता और मनुष्यादिकों को अपने २ प्रदेशों में स्थित करता हुआ और कौन अच्छा करते हैं और कौन खुरी करते हैं— इसका विचार करता हुआ । अधिक विद्वान् लोगों के विचारने योग्य है ।

भक्त्यम् लत्र 'तेजोऽस्ति, इतिपदस्थाने वीर्यमस्ति, इतिरभसादेव लिलेख । तदनुयायिनस्तु न केवलं वेदार्थाऽनभिज्ञाः, अपितु सर्वथाप्यक्षांमात्राऽनभिज्ञाः कयमिवशोधयेयुस्तत्स्थलम् ? तस्यच'तेजोधेहि, इति स्वारसिकमर्थसुपहाय स्वकल्पितमेव 'असंख्यातंतेजःइत्यर्थेनिरूपयतिप्रयोजनंत्वस्य सूक्ष्मैतिकयानिभाल- यन्तोऽप नपश्यामः । किञ्च "शरीरयुद्धिशीर्यंफूत्यादी" त्यत्रसमस्तपद शरीर- बुद्धीतिपदद्वयं मुधैव । कुतः सन्निवेशितनित्यवश्यमनुयोक्तृदोष्य वैयाकरण- शृगाला । 'ओकाः, इतिपदस्यार्थः- सत्यविद्यावल', निति स्वकपोलकल्पित- पथ, कान्तिस्तुपरसार्थः । किञ्चायंमन्त्रो यजुर्वेदभाष्यावसरेऽन्यथैव व्याख्यातः अत्रसाधत- 'हे ईश्वर ! इतिप्रतिपादितम् । तत्रपुनः- 'हेराधन् ! इत्येव । तत्रच सोमरूपदिवतामुपन्यस्यराजद्विषयकमर्थं विदधताऽनेन वक्षिताएव परमतयोलौकिकाजनाः । अह ! एतादृशेऽप्येतिनिबिडेलनसि विनिपातोऽजना- नाम् । कइमे तदनुयायिनःसामाजिकाः येऽत्रावधानं ददति ? किमस्तिकरिष- तादृशः संकृतज्ञोविद्वान् ? यःसावष्टम्भमुद्घोषयितुं संसर्गः स्यात्, यत्स्वानि- कृतोवेदार्थः स्वारसिक इति ? वीर्यमित्यस्य वीर्यवदर्थं प्रतिपादनं किनायुक्तम् किबहुना-सत्यमर्थं मन्त्रस्य दिदृक्षुभिरवलोकनीयमेवीववटादिभाष्यनिति द्वितीयातुमन्त्रः- 'सयीदमिन्द्र, इत्यादिः । एतन्मन्त्रोद्धारकालेभू यान्भागो

इति संचेपतः पृथिव्यादिभ्रमणादिविषयः ।

अब ईश्वर, स्तुति आदि का विषय निरूपण किया जाता है:-

यहां पर एक लम्बा हैडिंग देकर प्रार्थना और याचना का अर्थ पूर्वभेद बताया है। अर्थ और याच घातु एकार्थक है फिर भी इनका अर्थ भेद कैसे होगया—यह बात योगियों की बुद्धि से ही जानी जासकती है। महात्मन् ! आपने जब स्तुति विषय पूर्व बताया था और "वदमते, कहकर आगे बतलाने वाले थे फिर यह किस प्रयोजन से वीक्षण आपने इसे चुने, दिया इसका कुछ मतलब ? ग्रन्थ के आदि भाग में जहां प्रार्थना विषय बताया था वहां ही इसकी दयवस्था क्यों नहीं की। खैर जो ही अब इनका भाव्य देखिये 'तेजोऽस्ति, इस पदके स्थान में 'वीर्यमस्ति, यह फटलिय मारा उनके अनुयायियों की इतनी फुरसत कहां की इस स्थलका शोधन करें। केवलवेद प्रचार करना ही उन्हें अभीष्ट है न? स्वारसिक अर्थ का छोड़ कर 'असंख्यात तेषांसे अर्थ करनेका क्या प्रयोजन है। सो सूक्ष्म विचार करने से भीपता नहीं

मन्त्रस्य विस्मृत इति प्रतीयते । मन्त्रार्थस्त्वपूर्वतामेव विभ्रति । सामाजिकजन-
पसिद्धाष्टादशहोरापरिमितसमाधेरेतदेवफलम् । तथाहि-मन्त्रगतं ' इन्द्रः '
इति प्रथमान्तपदं ' हे इन्द्र ! हे परमेश्वर ! ' इतिसम्बोधनत्वेन व्याचक्षुषी ।
यजुर्वेदभाष्यावसरे पुनः प्रथमान्तत्वेनैवेत्यतिविस्मयारूपदम् । ' मघवा नः ' इत्ये-
कमपिपदं भाष्यावसरेसमुचितमङ्गीकृत्य अत्र ' मघवा ' ' नः ' इतिपदच्छेदं च-
कार । भाष्येऽर्थासांगत्येऽपि सुकृतः पदोपन्यास इत्येव बहुमन्यताम् किञ्चान्न
' रुचन्तामि ' तिपदस्यार्थः ' सम्भवेतान् ' इत्येवकृतः । भाष्ये पुनः ' समवे-
ताभवन्तु ' इति । पूर्वापरपरिज्ञानशून्यस्य सतो बालानामिवेयं पदेपदे
प्रदस्त्रलति कथमिवश्रंसकरि स्यात् । न प्रतीतः स्वामिनेमेऽर्था विजयाप्रभा-
वेणैव प्रतिपादिताः उक्तान्यस्यकस्यचिद्हेति । किंच ' अर्थात् ' इति पदोपन्या-
से चातुर्थ्यं विभ्रति स्वामी, श्रीचित्त्यानीचित्यं स्थलस्थाविचार्यं क्वचिदेव निरू-
पयति । तत्समकक्षमेव भातुपदमिवभजमानं ' कृपया ' इति पदम् । न
ज्ञायते-सन्नमन्त्रार्थेप्रकाशने किमित्ययं संकीचयत्यात्मानम् । प्रकृतमन्त्रस्या-
थपेव स्वारसिकोऽर्थः सम्भवति । तथाहि-प्रधानयागानन्तरं पुरोडाशशेषमाशन-
समयेहोतरि आशियं प्रयुञ्जाने सति यजमानो जपति(इन्द्रः)परमेश्वरः (सयि)
यजमाने (इदम्) अस्रमदमिप्रेतम् (इन्द्रियं) वीर्यं (दधातु) स्थापयतु ।

लगता । " शरीर बुद्धि शीर्यःफूर्त्यादि " इससमस्तपद में शरीर और बुद्धि
ये दोनों पदव्यर्थ क्यों हाल दिये हैं ! कोई इसवैयाकरण केसरी (वा शृगाल)
से पूछे तो सही । " श्रीकः ,, पदका ' सत्यविद्यावलम् , यह अर्थ कपोल-
कल्पित है । " कान्ति ,, अर्थ वास्तविक है । और लीला देखिये-यजुर्वेद
भाष्य करते समय आपने इस मन्त्र का भिन्नही अर्थ किया है । यहाँ (भू-
मिका में) ' हे ईश्वर ! , ऐसा सम्बोधन दिया और वहां (वेद भाष्यमें)
हे राजन् !, लिख दिया,। वेदभाष्यमेंहीमरूप देवता को रखकर राजविषयक
अर्थ करके क्या सचमुच लोकवचन नहीं की है ? उनके अनुयायी कौनसे
सामाजिकहैं जो इस विषयमेंसावधानहों । क्या कोई ऐसा संस्कृत का विद्वान्
समाजमेंहै । जो ज़ोरके साथ यह कह सके कि स्वामीजी का किया वेदार्थ
यथार्थहै ? वीर्यपदका ' वीर्यवत् , अर्थ करना क्या अयुक्त नहीं है । बहुत क्या
लिखें टीका २ वेदार्थ जानने वालों को उबटोदिके भाष्य देखने
चाहिये ' । ' मयीदमिन्द्र, यह दूसरा मन्त्र है । इस मन्त्र के
उद्धरण काल में बहुतसा मन्त्र भाग, मालूम होता है भूलगये

किंच (रायः) धनानि (सघवानः) घनवन्तश्च (अस्मान्) यज्ञमानान्
 (सचन्ताम्) सेवन्ताम् । अन्यच्च (अस्माकं) यज्ञमानानाम् (आशिषः)
 अमीष्टार्थस्याशंसनानि (सन्तु) विद्यान्ताम् । किंच (नः) अस्माकं (आ-
 शिषः) पूवो क्ताः (सत्याः) अवितथाः (सन्तु) भवन्तु । इति ॥ तृतीय-
 स्तु मन्त्रः प्रार्थनाविषयको " यां मेधां " इत्यादिः । मन्त्रार्थः स्पष्ट एव, परं
 ' देवगणाः ' इत्यस्य ' विद्वत्समूहाः ' इत्यर्थो न युक्तः प्रतिभाति । ' देव-
 समूहाः ' इति युक्तम् । किंच ' पितरः ' इत्यस्य ' विज्ञानिनः , इत्यर्थः
 कयारीत्याकृत इति नावगम्यते । ' पितृगणाः , इति युक्तोऽर्थः । ' स्वाहा-
 शब्दार्थः ' 'सुहुतं भवतु , इति भवति । परं सर्वे तत्परित्यज्जयायं मुच्ये
 अत्रेत्यादिना ग्रन्थेन अन्यदेव किञ्चिद् व्यवस्थापयति । परं तत्र न युक्तम् ।
 नहि निरुक्तकारेण स्वाहाशब्दार्थं तवाभिनतप्रमाणेषु किञ्चित्प्रमाणपु-
 द्दिशितम् । नचायं निरुक्तप्रतिपाद्यो विषयः । यैवलं निर्वचनानि प्रदर्शयन्ति
 तत्तच्छब्दानाम् । प्रमाणनिर्वचनशब्ददोषश्च महानस्ति विशेषः । अन्यथा
 दयानन्दस्तदनुयायी वा कश्चिद्दिशदं प्रकीर्षयेत्, स्वाहाशब्दार्थं किं तत्प्रमाणं
 निरूपितं निरुक्तकारेण । एवं च ' स्वाहाशब्दस्यायमर्थः , इति लिखित्वा
 योऽर्थो निरुक्तपदानामभिहितः सर्वथापि स निरगल एवेति । वास्त-

मन्त्रका अर्थ तौ बस अपूर्व ही है । यह १८ पंटे समाधि लगाने का फल है ।
 देखिये-सन्त्रगत ' इन्द्रः , इस प्रथमान्त पदको " ह परमेश्वर । " इस
 प्रकार संबोधन समझ के धारणयान किया है । और यजुर्वेद भाष्य करते
 समय प्रथमान्त समझ कर ही । कहिये कैसा आश्चर्य है । यजुर्वेद भाष्य
 करते समय ' अघवानः , यह एक पद था पर यहाँ भूमिका में ' सघवा ,
 और ' नः , दोपद निकल आये ? देखा वैचित्र्य । भाष्य में अर्थ चाहे
 असंगत हो पर पदों का उपन्यास ठीक कर दिया यही बहुत समझिये ।
 यहाँभूमिका में ' सचन्ताम् , पद का अर्थ ' समवेतान् , किया और भाष्यमें
 ' समवेता भवन्तु , कर दिया । पूर्वोपर विचार शून्य स्वामी दयानन्द का,
 यह पद २ पर वालकों की तरह गिरना न मालूम कैसे कस्याएकर ही
 सकता है । मालूम नहीं, स्वामीजी ने ऐसे अर्थ भङ्ग पीकर किये थे या क्या
 समझ कर । चाहे उचित स्थल हो या अनुचित- अर्थात् , और ' कृपया ,
 पद जरूर छाल देंगे । मालूम नहीं मन्त्रों के यथार्थ अर्थ करने में स्वामी

विकस्तु "स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा, स्वावागाहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं इचिजुं हौतीति वा" इत्येतस्य निरुक्तग्रन्थस्य सु सुष्टु आह-सु आह-शोभनमाहेत्यर्थः । यदेव सम्प्रदानदेवतायै किञ्चिदाश्वस्येत्यनेन मन्त्रेणाह-तुभ्यमिदमिति' तदेवेति पर्यवसितोर्थः । एवमस्य सुः पूर्वपदम् आह-इत्पुत्तरपदम् । अथवा अन्यदिदं ब्राह्मणानुगतं निर्वचनम्- "स्वावागाहेतिवा" इति । अत्रच स्वशब्दः पूर्वपदं, उत्तरपदं पुनस्तथैव । एवंच स्वास्वकीया वागेवाह-जुहुधीति, तत्स्वाहेत्यर्थः । विज्ञायते हि "तं स्वावागभ्यधदजुहुधीति तत् स्वाहाकारस्यजन्म" इति । अथवा- "स्वं प्राहेति वा" ।

जी वयां संकुचित होते हैं । इस मन्त्र का विसा ही ठीक अर्थ है जो पुराने भाष्यकारों ने किया है । देखिये :- प्रधान यज्ञ के बाद पुरोडाश खाने के समय होता जब आशीर्वाद देता है तो यजमान कहता है :- (इन्द्रः) परमेस्वर (नयि) मुझ यजमान में (इदम्) इस (इन्द्रियम्) बलको (दधातु) स्थापन करे । और (रायः) धन (मघवानः) धन वाले (अस्मान्) हम यजमानों को (सचन्ताम्) सेवन करें । (अस्माकम्) हम यजमानों के (आशियः) इष्ट वस्तु की इच्छाएँ (सन्तु) हों और (नः) हमारी (आशियः) शुभ इच्छाएँ (सत्याः सन्तु) सत्य हों ॥ "यां मेधां०" यह तीसरा मन्त्र है इस मन्त्र का अर्थ स्पष्ट ही है, पर इस मन्त्रार्थ में "देवगणाः" का विद्वानों का समूह और "पितरः" का विद्वानों के अर्थ किस रीति से किये गये हैं सो सोलून नहीं । 'देवगणाः' का देवसमूह और 'पितरः' का पितृसमूह अर्थ समुचित है । स्वाहा शब्द का अर्थ 'गुहुत हो' ऐसा होता है पर सब कुछ छोड़कर स्वामी जी और ही कह रहे हैं और जो कह रहे हैं वह असंगत है । निरुक्तकार ने स्वाहा शब्द के अर्थ विषय में तुम्हारे माने हुए प्रमाणों में से कौनसा प्रमाण दिया है ? निरुक्तकार तो केवल निर्वचन करते हैं । प्रमाण और निर्वचन का बड़ा भेद है । स्वामी जी वा उनके अनुयायी बतावें कि स्वाहाशब्दार्थ में कौनसा प्रमाण निरुक्तकार ने दिया है 'स्वाहा-शब्दस्यायमर्थः' इत्यादि स्वामी जी का निरर्गल प्रलाप है । वस्तुतः निरुक्तग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि (१) जो कुछ देवता के लिये दिया जाता है कि यह तेरे लिये है वह शोभन कथन है । (२) स्वा- अपनी वासी ही कहती है कि हवन कर यही 'स्वाहा' शब्दार्थ है । (३) स्वं प्राहेति वा- अथवा

स्वयमेव स्वरूपं प्रकर्षेण आह इत्यर्थः । पूर्वस्नादयमेवात्र विशेषः— पूर्वपदेऽस्य कारकान्यत्वम्—स्वावागाहेति कर्त्तरि, स्वं प्राहेति कर्मणि, प्रपूर्वेऽन्तरेपदं प्रकर्षयतीतनायेति । अथवा—“स्वाहुतं हविर्भुंहीतीतिवा” इति । यदनेनैव हविर्भुंहीतीति, तदेव शोभनभापाद्य यथाभिधानमस्ती जुहोतीति, इविः प्रधानोऽत्र निर्देश इति विशेषः । इति दौर्गावृत्तिः । इत्ययमेवाथैः यास्काद्याभिमतश्चेति । उपसंहारे “स्वाहाशब्दपर्यायाः” इत्युक्तम् । धन्योऽसि स्वामिन् धन्योऽसि, किमेते स्वाहाशब्दपर्यायस्य कस्यचिदर्थो निरूपिताः उत स्वाहाशब्दस्यैव ? । स्वाहाशब्दार्थं प्रतिपादयितुमुपक्रान्तो भवान्, तत्पर्यायार्थप्रतिपादनमुपसंहरन् दण्डप्रहारेण सर्वमेवोपसंहृतवान् । केवलं तत्प्रभाव एवैवभवताम् । अथवा—“नारदं कुत्राणी वानरं चकारे”ति लोकोक्ति स्पष्टतयेव भवतामेवाकृतिरिति । वस्तुतः “इति स्वाहाशब्दार्थाः” इत्येव समुचितं भाति । उपक्रमोपसंहारविरोधश्च मिथो नापत्तति । अधिकं विद्वद्भिः स्वयमेव विचारणीयम् । इति । अथ “स्थिरावः सत्त्वायुधा” इत्यादिमन्त्रो निर्दिष्टः तत्र व्याख्यायाम्— “ईश्वरो जीवेश्य आशीर्ददातीति विज्ञेयम्” इति प्रथममेव वाक्यम् । अहो देवस्य चेष्टितम्, कीदृशोऽयं प्रथमयास एव रुत्तिकापाताः परमस्नाधिरपि किमिदानीं कर्तुं शक्यम् । केवलं “आशीर्ददातीति विज्ञेयम्”

वाणी अपने स्वरूप को प्रकर्ष से कथन करती है (४) अथवा हवि-पुरोडाशको अच्छे प्रकार देना यह अर्थ है । येही अर्थ यास्काचार्य को अभिमत है । उपसंहारमें आप लिखते हैं कि “स्वाहाशब्दपर्यायाः” धन्य हो महाराज ! ये स्वाहाशब्द पर्याय के अर्थ निरूपित हैं वा स्वाहा शब्द के ही । स्वाहा शब्दार्थ का प्रतिपादन करने आप चले थे पर स्वाहाशब्दपर्यायार्थ के प्रतिपादन का उपसंहार करते हुए अपने अपने दण्डप्रहार से सब किसी का उपसंहार कर दिया । यह केवल आप का तपः प्रभाव है अथवा नारद बनाने चले थे वानर बन गया । इस लोकोक्ति का स्पष्टीकरण है । वस्तुतः “स्वाहाशब्दार्थाः” इतना लिखना पर्याप्त था । ऐसा लिखने से उपक्रमोपसंहार का विरोध भी नहीं आता । अधिक विद्वान् लोग स्वयमेव विचारलें । आगे चलकर “स्थिरावः” इस मन्त्र का निर्देश किया है । इसकी व्याख्या में एक संस्कृत वाक्य लिखा है “ईश्वरो जीवेश्य आशीर्ददाति” । यह पहला ही वाक्य है, देखिये देवका कोप ! पहले आसमें ही भक्ती आगई । पर हम करे

अस्तु विज्ञास्यते, यथायथं च विज्ञास्यते, न केवलं विज्ञास्यते, विज्ञापयिष्य-
तेऽपि । श्रूयन्तम्- आशीर्वादातीत्यत्र कर्मणि द्वितीया पाणिनिर्वादिष्याकरणा-
भिमतता सुलोनाभिहिता भवता ? नचात्र कर्मणि प्रत्ययोऽेनाभिहितं कर्म प्रथ-
मयैव तुष्टिस्तभगानं द्वितीयां नाभिलषेत् । किनेवविधपायिहत्याश्रयएव वेद-
भाष्यहिचिडनः समुद्घोष्यते । वस्तुतः, आशियं ददातीत्येव प्रयोगः साधी-
यानाभाति । आः ! नहि अपिदसुतनस्नाभिरस्य प्रयोगस्य साधुत्वमिदानीम् ।
तथाहि सावधानं श्रयवन्तु श्रीमन्तः- ईश्वरो जीवेभ्यः किञ्चिद्दृष्टादिकं वस्तु
ददाति, किञ्चित्पदादिकं आशीरपिददाति । उभयोरपि पञ्चात्स्थिती दद्याद्-
चेतो दयानन्दो दानेकरेणैकेन कर्तारमीश्वरं सकार्णं प्रकृतं मन्त्रं शिखण्डिनं
विधाय देहि देहीति प्रतिज्ञायं समुद्घोषयति । अपरेण कर्त्री वराकीनाशिषम्
एवं द्विकर्त्तृकोयंघातुः कर्त्ताप्यनेन घातुनायुक्तं कर्त्ता एवेत्यर्थः । द्विकर्त्तृकास्तु
घातवो लोकिकरपि किञ्चिद्धीयानैः समुपलभ्यन्ते बहुश । परमयं द्विकर्त्तृ-
कोघातुः योगसमाधिजन्यधर्मविशेषापादिताशिनाद्यैश्वर्यप्रभावादेव दयानन्देन
भूयसा श्रेण्यं समुपालाभि । अतएव न केनाप्यत्र सन्दिहानेन भाव्यम् । इदा-
नीमवगतस्य प्रयोगस्य साधुत्वं श्रीमद्भिः ? अयमेव च विशेषो योगिनां लौकि-
केभ्यः । यथाद्विकर्त्तृका घातवस्तथाद्विकर्त्तृका अपीति युक्तिरप्यत्र । स्वयं च

यथा ? केवल "आशीर्वादाति विज्ञेयम्" समर्त्त ? । खैर ! समर्त्ता जायगा
श्रीः सिलसिलेवार समर्त्ता जायगा । समर्त्ता ही नहीं जायगा किन्तु समर्त्ताया
जात्रेगा । सुनिये- "आशीर्वादाति" इस प्रयोग में कर्म में द्वितीया पाणिनि
आदि के व्याकरणानुसार होनी चाहिये- सो क्यों नहीं की ? यहां कर्म में
प्रत्यय ली है नहीं जिससे प्रथमा होसके क्या ऐसे पायिहत्य के भरोसे पर
ही वेदभाष्य की डिमडिमी बजा रहे हों । श्रीमहाराज ! वस्तुतस्तु "आशियं
ददाति" ऐसा प्रयोग ही साधु है । इस से आगे चलकर "आः इत्यादि से
दयानन्दमतेन" तक धिक्कारकार ने संस्कृतमें उपहास किया है । उठे संस्कृ-
तज्ञही देखलें । यह बात नहीं है कि भूलसे ऐसा प्रयोग एक ही जगह लिखा
गया हों किन्तु आगे भी आपने ऐसा ही लिखा है देखिये- "परन्त्वयमा-
शीर्वादाः सत्यकर्मोत्पठानिभ्योहिददातिः यहां भी 'आशीर्वादाः' प्रथमान्त
कर डाला ! भला हम कैसे समर्त्तों कि स्वामी जी व्याकरण जानते थे उन के
अनुयायी कदाचित् "आशियं प्रयोग है" ऐसा समाधान कर सकते हैं पर यह

तादृशप्रयोगान्तरेणापि परमाद्यंतोऽस्य धातोर्द्विकर्तृ कर्तृत्वं दद्यान्न्दमतेन न क्व-
चिद्ज्ञानपूर्वकस्तादृशोऽस्तीत्यस्य इति साधित एवायं प्रयोगः । तथाहि "परन्त्व-
यसाशीर्वादः सत्यकर्मानुष्ठानिभ्यो हि ददासीत्यति । अत्राप्याशीर्वादः प्रथ-
मान्तत्वेनैवोपन्यस्तः । आश्वयम्-दद्यान्द्दोऽपि व्याकरणोच्चुप्रविशाय प्रय-
त्तते । तदनुयायिनस्तु सामाजिका एवंविधप्रयोगजातस्यार्पत्वादेव साधुत्वमभि-
मन्यन्ते, ह्यननुसृष्टत्वात्पठोऽस्माभिरत्रैवाऽस्तामिति । अत्रे च स्वयमेव
विवेचनीयं विद्वद्भिः । ह्युत्तरे च पथि नातिरूपकरं भवति गमनसस्मद्धिधानां
विद्वज्जनचरणाशुश्रूषासित्येतामत्र पक्षवितेन । अथ भाष्यस्युक्तस्यमन्त्रस्य
सवथाऽसंगतमेव । नह्यत्राशीर्वादः कुतोऽपि प्रक्रान्तः देवताकाञ्चिदन्यैव प्रति-
पाद्यते, मन्त्राद्यन्तवन्धथा निरूप्यते, कोऽयं प्रकारः ? वस्तुतोऽयंस्वयमेव
भाति । तथाहि- मरुद्देवताकामिदं सूक्तम्, हे मरुतः (व आयुधा) युष्माक-
नायुधानि (पराणुदे) शत्रूणांमपनोदाय स्थिराः सन्तु स्थिराणिभवन्तु उत
अपिच प्रतिष्कम् शत्रूणां प्रतिधन्धाय धीलुसन्तु हृद्गानिभवन्तु, युष्माकं त-
विषी बलं पनीयसी अतिशयेन स्तोतव्यं भवतु, नायिनः अस्मासु ह्यद्वाचि-
रिषी नरुस्य मनुष्यस्य शत्रोर्नाबलं ना भवतु इति ॥ अथ "इषेपिन्वस्वे"ति
मन्त्रमिदं विषयव्रता दद्यान्न्देन स्वामिना स्वयमेव 'द्यावापृथिवी देवते'

समाधान समाधान नहीं है यह तो पक्ष जुड़ाना है ऐसा समाधान अगतिक
गति जैसा ही है । आगे जैसी विद्वानों की राय हो । इस साधारण बात को
बढ़ाने की आवश्यकता नहीं । उक्त मन्त्रका भाष्य भी सवथा असंगत है ।
यहां आशीर्वाद का प्रकरण ही क्या है ? मजा तो यह है कि मन्त्रकी देवता
भिन्न है और मन्त्र का अर्थ भिन्न । यह क्या सामला है । वास्तविक
मन्त्रार्थ यह है- जिस सूक्त का यह मन्त्र है वह सबका सब मरुत देवता
वाका है । इस लिये "हे मरुतः आपके आयुध शत्रुओं के दूर करने के लिये
स्थिर हों और शत्रुओं के बन्धन के लिये हृद हों और तुम्हारा बल बहुत
स्तुति के योग्य हो, हम लोगों में जो कपटाचारी है उसका बल न हो" यह
अमली मन्त्रार्थ है । फिर देखिये- "इषेपिन्वस्व" इस मन्त्रका व्याख्यान
करते हुए स्वामी जी ने " द्यावापृथिवी देवते " स्वयं लिखा है । इस से
स्पष्टमालूम होता है कि इस मन्त्र का विषय अन्तरिक्ष और पृथिवी है
परन्तु यहां पर अपनी आदत के अनुसार 'हे भगवन्' ऐसा संबोधन रख कर

इति निरूपितम् । तदनेन स्पष्टं विज्ञायते— अस्य मन्त्रस्य विषयोऽन्तरिक्षं पृथिवी चेति । परमन्त्रं "हे भगवन् ! " इति सम्बोधनं विधाय परमेश्वर एव प्रार्थ्यते वेद भाष्यवाचरे च 'हेस्त्रि ! वा पुरुष !, इत्येव सम्बोधनं दृश्यते । 'धर्मसुधर्म', इति पदद्वयं पुरुषयौव सह विशिष्टतम् । एवमनर्गलं ब्रुवायाः कथमयं प्रायश्चित्तीयोनस्यात् । (ऊर्जे) इति पदस्य (वेदविद्याविज्ञानग्रहणाये)त्येवार्थो विहितः । वेदविद्यामतिरिच्य किमिदं विज्ञानं नामे ? ति तदनुयायिनः सामाजिकजन एव जानन्ति । किमिदमदृष्टं तपूर्वं "परमवीरतः" इति । चक्रवर्तिराज्यंतु दया-नन्दकृती निरवरोधं प्रवेशं लभते । प्रकरणादिचिन्ता गरीयसी एव कृते भाति पदन्यासोऽप्युपेक्ष्यत एव तदानीम् । 'द्यावापृथिवीभ्याम्, इत्यस्य विवरणे लोकोत्तरा एव रीतिराश्रिता । निष्पद्यो जनमेव द्विवचनमत्र भगवत्कृती वर्त्तते तन्मतेन क्वचिदुदत्तरमेव सर्वं स्वमनोगतमुद्गिरति । वस्तुतो मन्त्रार्थं स्वयमेव पतीयते । तथाहि— धर्मदेवताकोऽयं मन्त्रः । हे पिन्वमान ! धर्म ! इषेष्टुष्ट्यै पिन्वस्व पुष्टो भव वृष्ट्यर्थम् । ऊर्जेऽनाय पिन्वस्व अन्नं वर्धय । ब्रह्मणा ब्राह्मणेभ्यः पिन्वस्व लत्राय तत्रिभ्यः पिन्वस्व, द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व । ब्राह्मणा ब्रह्मणेभ्यः पिन्वस्व पृथिवीः अर्पेत्यर्थः । हे धर्म ! हे सुधर्म ! सुष्ठुधारयतीति सुधर्मः हे साधुपरयाशील ! त्वं धर्मः असि सर्वजगतो धारणासि आहुतिपरिणामद्वारेण सर्वं धरसीत्यर्थः ।

परमेश्वर से प्रार्थना की जाती है— ऐसा लिख दिया । और वेद भाष्य करते समय हेस्त्रि ! वा पुरुष ! ऐसा संबोधन रख दिया । धर्म और सुधर्म दोनों पदों का पुरुष के साथ ही सम्बन्ध कर दिया । ऐसी अनर्गल भाते लिखने से प्रायश्चित्तार्थ क्यो नहीं ! ऊर्जे इस पदका 'वेद विद्या विज्ञान ग्रहणाय यह अर्थ किया है । वेद विद्या को छोड़ कर विज्ञान क्या वस्तु है ? इस का पता प्रार्थना सामाजिक पुरुष ही लगा सकेगे ? "परमवीरतः" यह क्या है ? यह अदृष्ट श्रुत पद कहां से निकल पड़ा ! चक्रवर्ति राज्य ती स्वामीजी के लेख में निरर्गल मंत्रिष्ट हो रहा है, इसके लिये बड़ी चिन्ता होजाती है और उस समय अन्य पदों का रखना आप भूलजाते हैं । "द्यावापृथिवीभ्याम्" इस पद के विवरण में लोकोत्तर रीति का आश्रयण किया है । ईश्वर की कृति में स्वामीजी के मत में द्विवचन का प्रयोग ती व्यर्थ ही है ? कहीं २ ती अक्षरों के विलकुल विपरीत लिख दिया है । वस्तुतः मन्त्र का अर्थ यह भती-तहोता है—

हेधर्म ! अग्नेनिः सिनीतिहिनस्तीतिमेनिः। नसेनिःअग्नेनिः। अद्विसन्प्रकृष्यन्
 सन्नअस्मेअस्सासु नृष्णानिधनानि धारय स्थापय । ब्रह्मक्षत्रविश्वधाराय वि-
 प्रादीनस्मद्भ्रान् कुर्वित्यर्थः । यजमानोक्तिरियमिति । प्राश्यंतेयाच्यते चेः अ-
 क्रियाह्वयस्यासांभयप्रागेवोक्तप्रायमिति । अथ "यज्जायतो दूरमुदैति दैव-
 भित्यादिर्मन्त्रोव्याख्यायते । यन्ननोदेयताकस्मिन् सन्त्रंसमुत्तिल्लेखाय वेद-
 भाष्यावसरे तत्तादृशमेव । अतोऽन्नपरमेश्वरप्रार्थनाविषये तन्निरूपणं निष्प्रयो-
 जनमेव । (दूर'गमम्) इति पदव्याख्यायां 'अर्थात्, इत्युपन्यासोद्वयर्थः पश्चिद-
 रूपाणां सन्तुदश्च । शिवसं कल्पमित्यस्य शुभेच्छमिति पर्याप्तोर्थः। तत्र 'क-
 ल्यालोष्ट्रधर्मशुभगुणप्रियम् " इतिशब्दाहम्बरनात्रम् । 'वाजप्रचम, इत्यादिमन्-
 त्राणां सर्वस्वसमर्पकत्वेनात्र विनियोगं विधाय यजुर्वेदभाष्ये परमेश्वरेण
 धर्मानुष्ठानादिनावासनुष्यस्यप्रयोजनीयं किंकिमिति एतन्मन्त्रप्रतिपाद्यविषयप्र-
 तिजानानाकथनोपहास्यास्पदं विदुषाम् । अतिचित्रचेदम्-यद्य' मन्त्रोयजुर्वेद-
 भाष्यावसरेऽग्निदेवताकासमुपन्यस्ता, तदादूरापास्तएवास्य सर्वस्वसमर्पकत्वादि-
 विषयः । वास्तविकस्त्वयमर्थो भातितत्रैयमण्टादशस्यप्रथमा, गतेऽध्यायेषि-
 त्यारोहणादिमन्त्रा उक्ताः । इदानीमण्टादशाध्याये वसोर्धारादिमन्त्रावच्य-

"हेधर्म ! तू वृष्टि के लिये वह और अन्न को बढ़ा । ब्राह्मण, क्षत्रिय,
 धुलोक, पृथिवी लोक इन को तृप्तकर । हेसुधर्म !-अच्छे प्रकार धारण करने
 वाले ! तू आहुतिपरिणामद्वारा सबको धारण करता है । हेधर्म ! तू क्रो-
 धन करता हुआ इन लोगों में धनों का स्थापन कर और ब्राह्मणादिकों को
 इनारे वशीभूत कर । "यह यजमान का कथन है । प्राश्यंते और याच्यते
 इन एकार्थक दो क्रिया पदों का रखना असंगत है-यह पूर्व भी बताया है
 इसके आगे "यज्जायतो" यह मन्त्र है । इस का भाष्य करते हुए-मनों-
 देवताक इस मन्त्र को जाना है वह ठीक है परन्तु यहाँ भूमिका में ईश्वर
 प्रार्थना विषय में लगाना निष्प्रयोजन है । (दूर'गमम्) इस पद की व्याख्या में
 'अर्थात्, इस पद का उपन्यास व्यर्थ है- ऐसे व्यर्थ के पद पश्चिदतकहली
 को खटकते हैं । 'शिवसंकल्प' पद का 'शुभेच्छ' अर्थ काफी था परन्तु 'क-
 ल्यालोष्ट्र' त्यादि शब्दाहम्बर बना दिया है । 'वाजप्रचमे इत्यादि मन्त्रों
 का विनियोग यहाँ भूमिका में सर्वस्वसमर्पण में किया और यजुर्वेद भाष्य
 में धर्मानुष्ठानादि से मनुष्य की क्या र वस्तु अपेक्षणीय है- इस विषय में लगाना

न्ते । वाजश्चमे, चकाराः समुच्चयार्थाः, यज्ञो नानेन भयाकृतेन वाजादयः पदार्थाः कल्पन्ताम् क्लृप्ताः सम्पन्नाः भवन्तु । स यज्ञो वाजादीनां दातास्मभ्यं भवत्वित्यर्थः । 'मोक्षमारभ्ये'ति पदविन्यासो वैदिकरीतिभेदानुसरति । अन्यथा 'अन्नपानादिकमारभ्ये'त्येवोचितं स्यात् । अथ "आयुर्वेदो नेत्यादिमन्त्रः । एतन्मन्त्रव्याख्यावसरे 'यज्ञो वै विष्णुरिति शतपथवाक्यसङ्गीकृत्य यज्ञस्य वास्तविकं विष्णुरूपत्वं प्रत्ययादि, न केवलं तद्रूपत्वमपि तु तन्नामैवेदमपरमिति । एतच्च न युक्तम् । तत्र यज्ञे समारोपितमेव विष्णुरूपत्वम्, प्रकरणादिना ज्ञायते । तथापि 'यज्ञेनेश्वरप्राप्त्यर्थम्' इत्यर्थस्तु सर्वथाऽसंगतएव । तथोक्तोऽश्वरोऽश्वरप्राप्त्यर्थमित्यर्थः स्यात् । अस्य याथाार्थं विद्वांस एव विचारयन्तु । एवम्- 'ईश्वरेण कल्पताम्' 'ईश्वराय समर्पितं भवतु' इत्यर्थः सर्वथाऽप्युद्धर एव । 'प्रजापतेः प्रजाभूमः' अस्यार्थोऽपि अभूत्पूर्वां रीतिमनुवर्तते । तथाहि- 'वयं परमेश्वरं त्रिहायान्यं मनुष्यं' रागानं नैव कदाचिन्नमन्यामहे' इति । यद्येवमेव, तदा राक्षप्रजाधर्म एव कुतो वेदभाष्ये समुदलेखि भवता । किं रागानं प्रतिद्वेष्टि भवान् । तिरस्करोति वा तमिति । अत्रैव मन्त्रे

कहिये- ऐसी दशा में स्वामी जी की हंसी विद्वान् लोग करने या नहीं ? यजुर्वेद भाष्य करते समय इस मन्त्र को अग्निदेवताक बताया उस समय सर्वस्व समर्पण दूर भगगया था !

वास्तविक मन्त्रार्थ यह है—

यजुर्वेद की अठारहवें अध्याय में वसोधारादि मन्त्र कहे हैं । 'वाजश्चमे' इत्यादि में चकार समुच्चयार्थक है । नरे किये इस यज्ञ से अन्नादि पदार्थ सम्पन्न हों अर्थात् वह यज्ञ हमारे लिये अन्नादि का दाता हो" ॥

'मोक्षमारभ्य' यह कोई वैदिक रीति है ? चाहिये तो यह था कि "अन्नपानादिकमारभ्य" लिखते ।

फिर 'आयुर्वेदो न' यह मन्त्र लिखा है, और इस मन्त्रकी व्याख्याके समय "यज्ञो वै विष्णुः" इस शतपथ वचन को मानकर यज्ञको वास्तविक विष्णु ठहराया है । यज्ञस्वरूप ही विष्णु नहीं किन्तु विष्णुका यज्ञ नामही बताया है- यह सब इनका लेख अयुक्त है क्योंकि यज्ञ में विष्णुरूप का आरोपण किया है- यह बात प्रकरणादि से प्रतीत होती है । लिखते २ आप बेहद भूल जाते हैं? आगे लिखते हैं "यज्ञेनेश्वरप्राप्त्यर्थम्" यह उनके मतानुसार

‘बृहद्’ ‘रथन्तर’ इति द्वौशब्दौ सामविशेषवाचकौ दयानन्देनासंगत्याज्यथैव व्याख्याताः । मन्त्रस्य चरमभागे यज्ञमानः स्वयमात्मानं प्रशंसति - वयं देवा भूत्वा स्वः स्वर्गमागन्म, प्राप्नुम इति । तत्रायं ‘स्वर्देवाः’ इत्येकमेवपदमभि-
नन्यते । अनिराकरणीयमस्य वैदुष्यम् । किञ्च असृतमिति पदं ‘अगन्म’ इति क्रियापदेन अन्वितम्, अहोः सहदनयेनापतितम्, प्रकरणादिकं पदानां पार-
स्परिकमर्थकृतं सामर्थ्यं च सर्वथा परित्यज्य स्वकल्पितभेषोक्तं सर्वत्रापि । अथ यज्ञमान एव वदति, वयं स्वर्गं प्राप्य ‘असृता अभूम’ सृत्पुरहिता इत्यर्थः ।
तदिदं मुनिहनाज्यत्रैव योजितम् । (प्रजापतेः प्रजाअभूम) हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मणः प्रजाश्चेति, सर्वमेतत्फलकथनम् । इत्थनयन्तां दुरवस्थां नीतोऽयं मन्त्री मुचिडना मन्त्रा रंस्तुः—कल्पहोतृत्वात्प्रमन्त्रे कल्पतामिति लिङ्गात् । ‘अथ कल्प-
ञ्जुहोतीति श्रुतेः । यज्ञ न’ निमित्तेनायुर्जावनकालः कल्पतां साध्यतां प्राप्य-
ताम् प्राणचक्षुःश्रीत्रवाङ्मनांसिमम यज्ञेन क्लृप्तानिभवन्तु । आत्माऽत्रदेहः—
“आत्मेन्द्रियमनो युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः” इति स्मरणात् । ब्रह्मावेदो यज्ञेनकल्पताम् । उच्यतिः स्वयंप्रकाशः परमात्मयज्ञेन साध्यताम् । पुष्य-
कर्मानुष्ठानं हि परमात्मज्ञाने कारणात् । “ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन” इतिश्रुतेः । “कर्मेणैवहिसंसिद्धिमास्थितोजनकादयः” इति भगवदुक्तेश्च । स्वः स्वर्गः पृष्ठंस्तोत्रं स्वर्गस्थानं वा कल्पताम् । यज्ञोप-
नैव क्लृप्तीभवतु नाहं यज्ञकलृप्तीसमर्थः । ‘यज्ञेनयज्ञमयजन्तदेवाः’ इति

ही असंगत लेख है, क्यों कि इस का अर्थ यह होगा कि “ईश्वर से ईश्वर प्राप्ति के लिये” इस की असंगति विद्वान्क्या अविद्वान् भी जान सकते हैं । इसी प्रकार ‘ईश्वरेण कल्पेताम्’ का ईश्वर के लिये समर्पित हो- यह अर्थ भी शब्दकथ्य नहीं है । “प्रजापतेः प्रजाअभूम” इस-का अर्थ भी अभूत पूर्व ही किया है कि “हम परमेश्वर को छोड़ कर अन्य किसी मनुष्य राजा को नहीं मानते” यदि ऐसा है तो आपने राजप्रजां धर्म अपने वेद भाष्य में क्यों लिखा । क्या राजा से आप हू प करते हैं वा उस का तिरस्कार । इसी मन्त्र में बृहद्और ‘रथन्तर’ ये दो सामविशेष वाचक शब्द आये हैं इन का भी दयानन्द जी ने लजटा अर्थ लगाया है । मन्त्र के अन्तिम भाग में यज्ञ-
मान अपने आत्मा की प्रशंसा करता है कि:- “हम देवता ही कर स्वर्ग सुख को प्राप्त हों” स्वामी जी यहाँ ‘स्वर्देवाः’ इसको एकही पद मानते हैं । इस

श्रवणात् । किंच स्तोमयजुःसाम नृहद्रथन्तराशिचयज्ञेन वल्लुप्तानि भवन्तिव-
 तयनुषङ्गः । स्तोमस्त्रिष्टुपस्रुदशादिः, यजुरनियतपादो मन्त्रः, ऋक् नियतपादा
 सामगीतिप्रधानम्, बृहद्रथन्तरे तद्विशेषो । वसोधारयैवमभिनमभिषयत्मानं
 यजमानःप्रशंसति । वयं यजमाना देवा भूत्वा स्वः स्वर्गंनगन्मगतवन्तः । जमे-
 ल्लि शब्दलोपेनस्यनवे रूपम् । गत्वाचासृता अमरणाथमिष्टोऽभूमभूताः । भवति
 लुंङ्गिरूपम् । ततः प्रजापतेर्द्वैतव्यगर्भस्य प्रजा अभूमति कलवचनम् । अनेन
 वसोधारयाः सर्वकामप्राप्तिहेतुत्वमुक्तम् । वेत्न्वाहेति वसोधारोमार्थानन्त्रः
 वेदितिवपटकारः । “वपटकारोहैपरोत्तयद्देटकारो वपटकारेण वा वैस्वाहा ।
 कारेण वा देवस्योऽन्नं प्रदीयति” इति श्रुतेरिति ।

‘अथोपासनाविषयः संक्षेपतः’ । ‘संक्षेपतः’ इति सर्वत्रोपनिबद्धम् । तच्च युक्त-
 मेव व्यधायि । संक्षेपमात्र एवेयसुभयोरपि दिगन्तव्यापिनी दुरवस्था । वि-
 स्तारे पुनर्निद्वद्भिरेवानुमेयासति । “युञ्जते मनः” इत्यादिः । न परित्यक्तो-
 ऽत्रापि नैसर्गिको नस्करिणाऽनर्थव्रतः । अतएव (होत्राः) इत्यस्य— ‘योगिनो
 मनुष्याः’ (विप्रस्य) इत्यस्य ‘सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्यनम्ये (इत्) सर्वत्रव्याप्तो
 ज्ञानस्वरूपश्च, इत्येतेऽर्था विचारदारिद्र्यमेव दयानन्दस्य विशदयन्ति । स-

पच्छिदाई को कौन हटा सकता है ? ‘अमृतम्’ इस पदका ‘अगन्म’ इस क्रिया
 पद के साथ अन्वय धर डाला । पदों के परस्पर सांशर्ष्य को और प्रकरणादि
 को छोड़ कर सर्वत्र केवल कपोलकल्पना की है ? किंबहुना, इस
 मन्त्र की छोछालेदर ही करदी । मन्त्र का सक्षिप्त भावार्थ यह है किः—

“यज्ञरूप साधन से आयु— जीवन काल सिद्ध हो, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, वाणी,
 मन, ये सब यज्ञ से सिद्ध हों, देह, वेद, परमात्मादि यज्ञ से प्राप्त हों” इत्यादि
 विशेष मूलधिकार ग्रन्थ में स्पष्ट है ।

आगे लिखा है—“उपासनाविषयः संक्षेपतः” संक्षेपतः लिखने का इन्हें
 अभ्यास पड़ गया । संक्षेपमात्र में तो इतनी लम्बी दुरवस्था शब्द और अर्थ
 की होगई यदि कैलाव होता तो दुरवस्था का क्या ठिकाना था ।

‘युञ्जतेमनः’ इति—यहां भी अपना स्वभावसिद्ध-चलट फेर करना नहीं
 छोड़ा है । इसी लिये ‘होत्राः’ शब्द का योगी मनुष्य ‘विप्रस्य’ का सर्वज्ञपर-
 मेश्वर (इत्) का सर्वत्रव्याप्त-ज्ञानस्वरूप ये अर्थ विचारशून्यता को स्पष्ट
 कर रहे हैं । वस्तुतः यह ऋचा सवितृदेवताक है, इसमें किसी की उपासना

वितादेवतेयसृक्, नात्र कस्यचिदुपासनं विधीयते । तथाच प्रतिपादितं भगव-
ताभाष्यकारेण सायणाचार्येण—“युञ्जते मन इति पञ्चमं नवमं मूर्त्तं, अत्रेयम-
नुक्रमशिका— युञ्जते पञ्चश्यावाश्रवः सादित्रं तु आगतमिति । श्यावाश्रवोना-
मात्रेयसृक्पिः, जगती छन्दः, सविता देवता पृष्ठ्याभिप्लव्यहृदयोः मथमेदनि
वैश्वदेवशस्त्रे सावित्रनिविद्धानमिदं सूत्रितं च-युञ्जतेमनइहेहय इति चतस्र
इति” तत्रेयं प्रथमाश्रक-युञ्जत इति । विप्रामेधाविन अतिवयजमानाः मनः
स्वोयं सर्वेषु कर्मसुयुञ्जते योजयन्ति सवित्रनुग्रहाय संकल्पं कुर्वन्तीत्यर्थः ।
एव अपिच धिपः कर्मायपि युञ्जते प्राप्नुवन्ति कस्यानुज्ञयेति उच्यते विप्रस्य
मेधाविनः बृहती महतः विपश्चितः स्तुत्यस्यज्ञानवतो वा सवितुः अनुज्ञया
इति । सवितावैप्रसवानामीश इति श्रुतिः । स एव सविता होत्राः सप्तहोत्र-
काणामुचिताः क्रियाः व्युनावित् व्युनमिति प्रज्ञानान तत्तदनुष्ठानविषयप्र-
ज्ञावेत्ता एकइत् एकएव विदधेकरोति पृथक् पृथगवधारयति । किंच तस्यमवि-
तुर्देवस्य परिष्टुतिः स्तुतिः मही महती अतिप्रभूता स्तुत्यगोचरा इत्यर्थः ॥
अत्र भाष्ययोयुक्तत्वायुक्तविविचारो विद्वद्भिरेवविधेयः । किञ्च “धिपा
बुद्धिवृत्तिस्तस्यैव” इति प्रतिपाद्यता लोकवञ्चकचतुरेण प्रस्फुटीकृतमेव
प्रावीण्यमात्मनो व्याकृतितन्त्र इति मन्ये । तस्यैव मध्ये इत्यर्थेसति ‘धिपा’

का विधान नहीं है । इसी का प्रतिपादन भगवान् भाष्यकार सायणाचार्य ने
किया है । सायणाचार्य इस मन्त्र की अनुक्रमशिका लिख कर लिखते हैं कि
“विम-मेधावी अतिवक् यजमान, अपने मन को सब कामों में लगाते हैं,
अर्थात् सविता के अनुग्रह के लिये संकल्प करते हैं और अपने कर्मों को भी,
बड़े स्तुतियोग्य सविता देवता की कृपासे प्राप्त करते हैं और वही सविता
देव सप्तहोत्रकों को उचित क्रियाओं को बुद्धिपूर्वक अकेला ही पृथक् २
अवधारण करता है । और उस देवकी वही भारी स्तुति है” । यहाँ स्वामी
जी और सायणाचार्य इन दोनों भाष्यों में किसका भाष्य युक्त है ? इसका
विचार विद्वान् लोग स्वयं करें ॥

“धिपा बुद्धिवृत्तिस्तस्यैव” इस संस्कृत वाक्य को लिखकर तौ दयानन्द
ने अपनी व्याकरणता की प्रकाशा कर दी । एक ओर “ तस्यैव मध्ये ”
है, तौ ‘धिपा’ कैसे ? ‘धिपा’ ऐसा चण्ड्यन्त पद होना चाहिये । ऊपर के
वाक्य में सन्धि तो आर्ष ही माननी चाहिये । किसी चतुराई है ! साधारण

इति कथं सम्भवति 'विद्यः' इति घण्टयन्तमेवोचितम् । किंच 'बुद्धिवृत्तिस्तस्यैव' इति वाक्ये 'तस्यैव' इत्यत्र सन्धिस्तु आर्ष एव । अहो ! वैदग्ध्यम् ? अहो ! मूढतामृषिहना, लघुकीमुदीमधीयानोऽपिबालो नैवं प्रयोक्तुमर्हति । अयं तु निरंकुशएवसर्वथा । यत्सदसद्वा मनसि, तत्सर्वमविचार्यैव सहसा बुद्धति । अयमपि वेदभाष्ये साहसमातनोति । तदनुयायिनस्तु साम्प्रतं "अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितस्मन्यमानाः । जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" इत्येतान्मुपनिषदिश्रुतामज्ञानिना मवस्थामक्षरशुचरितार्थयन्ति । 'यादृशी शीतलादेवी तादृशो वाहनः खरः' इति सर्वं रमणीयम् । दयानन्दोक्तेरयुक्तत्वे सन्देहोऽपि न पदं समते इतिदिक् ॥

अथ 'युञ्जानः प्रथमं मनः' इत्यादिर्मन्त्रो व्याख्यायते । तत्र व्याख्यायां "(युञ्जानः) योगं कुर्वाणः सन् (तत्वाय) अज्ञादितत्त्वज्ञानाय प्रथमं मनो युञ्जानः सन् योगरिस्त तस्यधियं (सविता) कृपया परमेश्वरः स्वस्मिन्मुपयुङ्क्ते" इति प्रणिजगाद् । अस्याशपमध्येतार एव सावधानं विचारयन्तु । तत्त्वज्ञानायतमानस्ययोगिनो बुद्धिपरमात्मा स्वस्मिन्त्स्वात्मनि स्वविषयेष्वोपयुङ्क्ते इत्येवार्थः सम्भवति पूर्वोक्तस्य, तत्रयोगिबुद्धेः परमात्मनः कीदृशसपयोग इति

लघुकीमुदी पढा हुआ भी ऐसा प्रयोग नहीं कर सकता । पर स्वामी जी तो निरंकुश हैं जो कुछ बुरा भला मन में आया, वह सब विना विचारे लिख मारते हैं ये महात्मा भी वेदभाष्य करने का साहस कर बैठे हैं- आश्चर्य है ? उनके अनुयायी लोग तो " अविद्यायामन्तरेवर्तमानाः " इस श्रुति को अक्षरशः चरितार्थ कर रहे हैं । जैसी शीतला देवी वैसा ही उसका वाहन-खर (गधा) । बस, स्वामी जी के कथन की अयुक्तता में इतने से ही सन्देह नहीं रहेगा इति ॥

फिर "युञ्जानः प्रथमं मनः" इस मन्त्र का व्याख्यान प्रारम्भ किया है व्याख्या में 'युञ्जानः' से लेकर उपयुङ्क्ते' तक जो कुछ संस्कृत में लिखा है उसका आशय पढ़ने वाले लोग सावधान होकर विचारें । तत्त्वज्ञान के लिये यत्न करने वाले योगीकी बुद्धि को परमात्मा अपने आत्मामें वा अपने विषय में उपयुक्त करता है, यही पूर्वोक्त वाक्यका अर्थ है । योगिबुद्धि से परमात्मा का कौनसा उपयोग होता है सो हमें नहीं मालूम पड़ा । जब परमात्मा ही उस बुद्धि का उपयोग करते हैं तो वह कैसा उपयोग है? यह बताना चाहिये

जावगतनसनाभिः । यतोहि परमात्मा एव तांयुद्धिमुपपुङ्गवते, अतः प्रदर्शनीय एव तस्योपभोग इति । अन्वयप्रक्रियातु नक्तापि शोभनां प्रतीयतेऽस्य । अन्येन केनापि शब्देन सम्बद्धं कमपिशब्दं कुत्रापि निदधाति, नास्ति तत्र स्वल्पोऽपि विचारोऽकाशः । तथाच मन्त्रस्थं 'पृथिव्या' इतिपदं अन्यत्रैवसंगम्य व्याख्यातम् । "इदमेव पृथिव्यामध्ये योगिन उपासकस्य लक्षणमिति वेदितव्यम्" इति । अहो निदुष्टवैदुष्यचिरुयापयिषया सहदर्शिताऽहृष्टपूर्वालक्षणप्रक्रिया । यद्दर्शननात्रैव मुद्राप्रविष्यन्ति विद्वांसः । किञ्चहुना-असंगतमेव सर्वथापीदं भाष्यम् । वस्तुतस्तव्यमेवार्थः प्रतीयते तथाहि-अयं मन्त्रो यजुर्वेदस्यैकादशे प्रथमः । इत्येवास्धारभ्याष्टादशाध्यायपर्यन्तं अग्निचयनमन्त्राः । तेषां प्रजापतिर्ऋषिः । साधुः ऋषयो वा, सोऽग्निः पञ्चचित्तियुक्तः, तत्र प्रथमचित्तिमन्त्राणां प्रजापतिर्ऋषिः । द्वितीयचित्तेर्देवा ऋषयः । तृतीयचित्तेरिन्द्राग्निश्चिद्वकर्माण ऋषयः । चतुर्थचित्तेर्ऋषयएवर्षयः । पञ्चमचित्तिमन्त्राणां परमेष्ठी ऋषिः । अत्र 'युञ्जानः प्रथमं नित्याद्यष्टानां करिडकानां सविता एव देवता तथाचार्यं मन्त्रार्थः- सविता सैवस्य प्रेरकः प्रजापतिः अग्नेरर्षोऽसिः चीनानस्य वन्द्यः संबन्धि तेजः निचोद्य निश्चित्योपलभ्यवा, यद्वा सकलानां

पदों के अन्वय करने की प्रक्रिया तौ कहें पर भी इन की समुचित नहीं प्रतीत होती । किसी दूसरे शब्द से सम्बन्ध रखने वाले किसी शब्दको कहीं रख देते हैं । अन्वय करने में थोड़े विचार से भी काम नहीं लेते । मन्त्रस्थ "पृथिव्याः" इस पद को अन्यत्र ही लगाकर व्याख्यान कर दिया है देखिये "इदमेव पृथिव्यामध्ये योगिन उपासकस्य लक्षणमिति वेदितव्यम्" निर्दोष-विद्वत्ता प्रकट करने की इच्छा से अहृष्टपूर्वालक्षण प्रक्रिया बतार्ह है जिस के देखने मात्र से विद्वान्लोग मोहित होजायेंगे । बहुत लिखने से क्या है ? सर्वथा यह साध्य असंगत है । वस्तुतः यह वक्ष्यमाण अर्थ प्रतीत होता है । यह मन्त्र यजुर्वेद के ११वें अध्याय में प्रथम ही है । यहाँ से प्रारम्भ करके १८वें अध्याय तक अग्निचयन के मन्त्र हैं इत्यादि भाष्य में स्पष्ट किया है । मन्त्रार्थ यह है :-

"सधका प्रेरक प्रजापति, अग्निमन्त्रेण तेजको लेकर अथवा सब कर्मों के साधनभूत को निश्चय करके पृथिवी के समीप से लेता हुआ- अर्थात् हँटोंको चिनकरके अग्निको संचित किया । सवितु शब्दसे प्रजापतिका ग्रहण

कर्मणां माधनभूतं निश्चित्य पृथिव्याःभूमैःसकाशादध्याभरत्, अध्याहृतवान् । इष्टुकाःकृत्वाग्निं चिनवानित्यर्थः । सवितृशब्देन श्रुतौप्रजापतिकर्तुः 'प्रजापतिर्वैयुज्जानः, इतिश्रुतेः । किंभूतःस सवित् । इत्याह प्रथममग्न्यारम्भेननोयुज्जानःसमादधानः युङ्क्तोऽपौयुज्जानः । किंकृत्वाधियोबुद्धिरिष्टकादिविषयाशि ज्ञानानि तत्त्वाय तनित्वा विस्तार्य मनसापर्यालोचयबुद्ध्यावधार्येत्यर्थःइति । अथ 'युक्तवायस्यितेत्यादि । अत्रभाष्ये भवितेतिपदमन्तर्यामीश्वरपरं निरूपितम् । यजुर्वेदभाष्येषुनः योगीजनइत्येवार्थोव्यथायि । एवमनिश्चितमन्तेरस्यकृतावस्माभिः किंभूतं शययम् । वस्तुतस्त्वेपांसन्त्राणां सर्वेषामपिसविता देवता, अग्निचयनेष्विनियोगः । सर्वमेतन्निरूपितं पुरस्तादेव । अस्यनिर्दुष्टोऽर्थोऽस्तु -सविता तान् प्रसिद्धान्देवान् पशुयति अभ्ययुज्जानाति प्रसौतिप्रेरयतीत्यर्थः । किंकृत्वायुक्तवाय युक्त्वा कर्त्वीयक, अग्निकर्मणिसंयोज्य । किंभूतान् देवान् धिया बुद्ध्याकर्मणा वा अन्तेनदिवं दीव्यति प्रकाशतइतिदिवंघोतनं "इगुपथ" इतिकः प्रत्ययः, स्वःस्वर्गं यतःगच्छतः । पुनःकीदृशान्बुद्धत् महत्त्वपातिरादि'यज्ञक्षणनात्मत्वेनकसिष्यतः संशुक्लनः । कीदृशःसविता प्रेरयिता अन्तेनकर्मणः स्वर्गगच्छतां देवानग्निकर्मणि सविता प्रेरयिता सविताप्रजापतिः तान्देवान् इन्द्रियविशेषान् युक्त्वाविषयेभ्यो नियम्यप्रसुधाति प्रकर्मणाग्निकर्मणि

है क्यों कि "प्रजापतिर्वैयुज्जानः" ऐसा श्रुतिमें लिखा है । सविता का विशेषण 'युज्जानः', यह पद है । अर्थात् पूर्वमग्न्यारम्भ में मन को सावधान करने वाला है-इं-इं आदि की बुद्धि को फैला कर अर्थात् बुद्धि से निश्चय करके 'युक्तवाय सविते' त्यादि । इस मन्त्र के भाष्य में भूमिका में सविता पद का अर्थ अन्तर्यामि ईश्वर किया है और यजुर्वेद भाष्य में योगी जन किया है । स्वामी दयानन्द वहे ही अनिश्चित बुद्धि हैं । इन की कृति में क्या किया जासकता है ? वस्तुतः इन सब मन्त्रों का सविता देवता है और अग्निचयन कर्म में विनियोग है । यह बात पूर्व भी लिख चुके हैं । इस मन्त्र का दोष-रहित अर्थ यह है "सविता देवता, अग्नि कर्म में संयोग करके कर्म से प्रकाश-ज्ञान स्वर्ग को प्राप्त होने वाले और बड़ी उगोति को संस्कृत करने वाले उन प्रसिद्ध देवताओं को प्रेरणा करता है ... "इत्यादि" "युज्जानं ब्रह्म" इस मन्त्र का व्याख्यान, आगे किया है । इस मन्त्र में 'वाप्', इस पद से यजमान दम्पती लिये जाते हैं । परन्तु स्वामी जी पूर्वोपर का विचार न

प्रेरयतिकीदृशान् स्वर्गतःस्वर्गप्राप्त्यै उद्यमान् । तथावृहत्प्रीढं ज्योतिःचीयमान-
 नस्याग्नेस्तेजः धिया दिवःकरिष्यतः तत्तदिष्टकादिविषययापन्नया द्योतमानं
 कर्तुं मुद्यतान् इति ॥ अथयुजेर्वाब्रह्मेत्यादिमन्त्रो व्याख्यायते । अत्रवस्तुतो-
 वानित्तिपदेन दम्पतीयजनानावुच्येते । परमयं मुखडीसहस्रभागोऽपर्यालोच्यै-
 वोपक्रमोपसहारमुपदेशकोपदेश्यपरतानस्यपदस्याह । 'उपासनाप्रदोपासना-
 ग्रहीतारौप्रतिपरमेश्वरःप्रतिजानीते, इत्यादियन्येन परमेश्वरस्यतौ प्रतिप्रति ज्ञान-
 वृत्तव'उपासनांकुर्वाणौ वायुवांद्वाप्रतीश्वरोऽहंयुजेइत्यादि ग्रन्थेन स्पष्टीकृतम्
 अहो'आर्याणांमुन्युषीणां या व्याख्यारीतिःसनातनी । तांसमाश्रित्यमन्त्रार्था
 विधास्यन्ते तुनान्यथा" इत्यात्मनःप्रतिज्ञानं सर्वथापिविस्मृत्य परमेश्वरस्य
 उक्तविषया तौ प्रतिप्रतिज्ञानं प्रबोधयता भवता महत्पासिद्वयं प्रदर्शितम् ।
 इदन्त्वन्नप्रदृश्यम् भवतोभाष्यस्य प्रामाण्यं कथमङ्गीक्रियेतान्यैः । शतपथादी-
 नांप्रामाण्यमङ्गीकुर्वाणोऽपिभवान् वेदभाष्यभूतानां तत्रतत्रोपयुक्तस्थलेऽपि
 नतानुद्धरति । स्वरूपितमेवार्थं यदृच्छयासर्वत्र प्रतिपादयति । अहोमहात्मनो
 लोकपतारणे चानुयंम् । अत्राऽपिमन्त्रभाष्ये 'आशीर्ददाति, इत्यशुद्धं सर्वथापि-
 प्रयुक्तम् । कृतव्याख्यानञ्चैतत्पुरस्तात् । मन्त्रार्थस्त्वित्थं द्रष्टव्यः — हेपत्नीय-
 जमानौ ! वायुवयोर्भ्येनमोभिरन्नेः इदानींहुतैर्घृतैःसहितं पूज्यं पुरातनैर्मह-

करके उपदेशक और उपदेश्य 'वां, पद ६१ अर्थ करते हैं और लिखते हैं कि
 "उपोस्य और उपासको" के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है" इत्यादि ।
 क्या कहने हैं ! यही ऋषि मुनिपों की रीति है जिस रीति का आश्रयण
 करके आपने वेद भाष्य करने की पहलेशलाकों में प्रतिज्ञा की थी । उस प्रति-
 ज्ञा को आपने सर्वथा भुला दिया । यहां पूछना चाहिये कि आप के भाष्य
 का प्रामाण्य अन्य लोग कैसे करसकते हैं ? शतपथादि ब्राह्मणों को आप
 वेदों का व्याख्यान मानते तो हैं परन्तु आप उपयुक्त स्थल में भी कहाँ
 उनका उद्धरण क्यों नहीं करते । अपने कपोलकल्पित अर्थ से स्वों कास लेते हैं
 क्या यह वञ्चना नहीं है । इस मन्त्र के भाष्य में भी "आशीर्ददाति" इस
 अशुद्ध शब्द का प्रयोग किया है ।

मन्त्र का वास्तविक अर्थ जो प्राचीन भाष्यकारों ने किया है वह
 यह है:-

"हे पतिन ! और यजमान ! तुम दोनों के लिये अन्न और घृतों के

विभिरनुष्ठितं ब्रह्म परिवृढमग्निचयनारुख्यं कर्गाहं युजे गुनन्त्रिं संपादयामि ।
 यद्वा ब्रह्मशब्देन प्राणाः सप्तऋचयो ब्राह्मणाश्चोच्यन्ते । वानर्थे पूर्व्ये पुरोरानं
 ब्रह्म ब्राह्मणजातिं नमोभिरन्नैर्युजे योजयामि । अन्नैर्विप्रैस्तर्पयामीत्यर्थः ।
 किमर्थमिति चेत् सूरैः पशुदत्तस्य यजमानस्यश्लोकः कीर्त्तियेत्तु विविधं गच्छतु
 लोकद्वयं प्राप्नोतु । तत्र दृष्टान्तः— पद्यो इव पयोऽनपेताः पद्यो यज्ञभाग-
 प्रकृता आहुतिर्यथा लोकद्वयं व्याप्नोति एवं यजमानस्य श्लोक उभयलोकसं-
 चारी भवत्विति भावः । किंच असृतस्य सरणधर्मरहितस्य प्रजापतेः पुत्रा विश्वे
 सर्वे देवा यजमानस्य श्लोकं शृण्वन्तु । के । ये दिव्यानि दिविभवानि स्थानानि
 आतस्थुः अधिष्ठितवन्तः, ते सर्वेऽस्य कीर्त्तिं शृण्वन्त्वित्यर्थः । इति ।
 अथ 'सीरायुञ्जन्तिकवयः' 'युनक्त सीरावियुगा' इति द्वावपिसन्त्रौ विषयना-
 म्प्रेन सहैव निर्दिश्य उपाख्यायेते । अत्र द्वाभ्यामपि अध्वर्युः सीरमभिसन्त्रे-
 यते । सीरदेवत्ये च द्वे अपि गायत्रीत्रिष्टुभौ । परमयं पुण्डरी सर्वत्रोपासनामेव
 पश्यति । यद्यप्येतन्नयुक्तं, तथाप्यत्रास्माकं नो विवादः कश्चित् । यत्तु पूर्वा-
 चायैः सह विरोधः । तदुक्तीनामनादरः, सर्वत्र वेदादिशास्त्रेषु स्वैरं विहरणं,
 यद्दृश्यते यत्किञ्चिदेव वचनं, तदेतत्सर्वमपि दुःखाकरोत्पेधे विदुषां चेतांति ।
 विद्वांसप्येव विचारयन्तु—किमत्र मन्त्रयोऽप्यासनायाः प्रकरणम् । "(सीराः)"

सहित, पूर्वं ऋषियों से अनुष्ठित अग्निचयननामक कर्म का मैं संपादन करता हूँ । अथवा तुम दोनों के लिये ब्राह्मणजाति को अन्नो से युक्त करता हूँ अर्थात् अन्नो से ब्राह्मणों को तृप्त करता हूँ । जिस से कि यजमान की कीर्त्ति दोनों लोकों में प्राप्त हो जैसे आहुति दोनों लोकों में व्याप्त होती है वैसे ही यजमान का यज्ञ फैले । और अमृत प्रजापति के पुत्र दिव्यस्थानवासी देवता लोग यजमान की कीर्त्ति को सुनें" ॥

"सीरा युञ्जन्तिकवयः" और "युनक्त सीरा नियुगा" इन अगले दो मन्त्रों का विषय एक ही है इस लिये साथ ही व्याख्यान कर दिया है । इन दोनों मन्त्रों से सीर— हल का अभिसन्त्रण अध्वर्यु करता है और इन दोनों मन्त्रों में 'सीर' देवता है तथा क्रमसे गायत्री और त्रिष्टुप् छन्द है । परन्तु स्वामी दयानन्दको सर्वत्र उपासना ही सूकती है । यद्यपि यह अयुक्त है तथापि हमारा कोई विवाद नहीं परन्तु ये महात्मा पूर्वाचार्यों के भाष्य का निरादर करते हैं— वेदादि के भाष्य में मनमानी चलाते हैं— ये ही

इत्यस्यचपदस्य "योगाभ्यासोपासनार्थं नाडीयुञ्जन्ति अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति" इत्ययमर्थः सर्वथाप्यसंगतः । तावन्मात्रपदस्यैतावत्यर्थे क्वाप्यनिरूपणात् । 'योगाभ्यासोपासनार्थं'मिति पदजातस्यान्वितार्थताया निरूपयितुमशक्यत्वात् । नाडीयुञ्जन्तीत्यस्य अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्तीत्यर्थस्य सर्वशास्त्रविरुद्धत्वात् । तथाच "एवं (कृते योनी) अन्तःकरणे शुद्धे कृते परमानन्दयोनौकारण आत्मनि (वपतेहवीजम्) उपासनाविधानेन योगोपासनाया विज्ञानाख्यं बीज वपत्" इति सर्वनिर्दकथनं अनन्वितार्थत्वात् 'दश दाडिमानि, षड्रूपाः, कुण्डलजाजिनम्, पल्लपिण्ड इत्यादिपदजातवन्निरर्थकमेव । तत्तच्छब्दानां तत्तदर्थबोधकतायां कस्यापि प्रमाणस्यानुपस्थापनाच्च । किं बहुना वाचां प्रचारेणेति । मन्त्रयोरर्थस्त्वित्थं बोध्यः । "दक्षिणामग्निश्रोत्रिणपरिण तिष्ठन् युज्यमानमभिमन्त्रयते" सीरायुञ्जन्तीति" इति कात्यायनीकृतेः चित्तेर्दक्षिणश्रोत्रोः पश्चिमेतिष्ठन्नच्युः प्रतिप्रस्थात्रोत्तरां स पूर्वं षडभिर्वा तदधिकैर्वा वृषैर्युज्यमानमौदुम्बरं हलं द्वाभ्यामभिमन्त्रयते । मन्त्रार्थः— धीराः धीमन्तोऽग्निज्ञेऽविदः कवयः कृषिकर्माभिः । सीरो सीराणि हलानि जुञ्जन्ति वृषैर्योजयन्ति । युगा युगानि पृथक्कृत्वा वितन्वते विस्तारयन्ति । किं कर्तुम् । देवेषु मुम्नया, मुम्नमिति सुखनाम ततो द्वितीयैकवचनस्य 'सुर्पासुलुगिति यादेशः । मुम्नं सुखं कर्तुमिति शेषः ।

वार्ते समकदार आदभियां को खटकती है । वेदार्थज्ञ पुरुष विचारों—भला इन मन्त्रोंमें उपासनाका प्रकरण कहाँसे आगया 'सीरा' इस पदका "योगाभ्यास-उपासना के लिये नाडियों को लगाता है अर्थात् उनमें परमात्मा को जानने के लिये अभ्यास करता है" यह अर्थ सर्वथा असंगत है । सीरा पदका इतना अर्थ कहाँ से निकल पड़ा !.....आगे लिखा है— "अन्तःकरण शुद्ध करने पर परमानन्द आत्मा में उपासना से योगोपासना का विज्ञान बीज बोओ" यह सब कथन 'दशदाडिमानि' के तुल्य अनन्वितार्थक और प्रमाणशून्य है । प्राचीन भाष्यकारों ने प्रमाणपूर्वक मन्त्रद्वय का यह अर्थ लिखा है—

"कृषिकर्म के जानने वाले विद्वान् लीग हलों को बैलों से युक्त करते हैं और जूड़ों को अलग फैलाते हैं, इस लिये कि देवताओं को सुख हो" ॥

"हे कर्मकी — खेती करने वालों ! हलों को लगाओ और जूड़ों को रस्सी आदि से बांध कर ढीक करो फिर खुले हुए खेत में बीज बोओ, वेद

देवानां सुम्नं कर्तुं युञ्जन्तीत्यर्थः । चतुर्थ्यां यादेशोवा, देवानां सुम्नयायु-
 ञ्जन्तीत्यर्थः । द्वितीयमन्त्रार्थः—हे कर्षकाः ! सीराः सीराणि हलानि युनक्त
 युञ्क्तं योजयत । तप्तनप्तनघनाश्चेति यस्यतद्वादेशे इनसीरललोपाभावे युन-
 क्तेतिरूपम् । यु गा यु गानि वितनुष्वं श्रम्यायोक्त्रादिभिर्विस्तारयत । ततः
 कृते कर्षणेन संस्कृते इह अस्मिन् योनौ स्थाने वीजं व्रीह्यादिकं यूयं वपत ।
 कया । गिरा या ओषधीरित्यादिकया वेदमन्त्रवाचा चकाराच्चमत्तेन च ।
 किञ्च वाग्वै गीरन्नं श्रुष्टिरितिभ्रुतेः श्रुष्टिः अन्नजातिव्रीह्यादिका सभरा असत्
 भरशंभरः पुष्टिः भरसाफलपुष्ट्यासह वर्त्तमाना सभराः पुष्टा अस्तु । इतश्चलोप
 इतीकारलोपपञ्जागनेजसदितिरूपम् । पक्वं धान्यं नेदीय इत् अतिशयेनान्तिकं
 नेदीयः । इत् एवार्थे । नेदीय इत्अन्तिकतममेवात्यल्पकालमेव पक्वं धान्यं
 स्रपयः सृगिशब्दोऽत्र दात्रार्थः । सृययालवनसाधनेन दात्रेण लूननितिशेषः ।
 दात्रेण छिन्नं सत् नः अस्मान्प्रति श्लाघयात् आगच्छतु अल्पकालेन पक्वम-
 स्मद्गृहमागच्छत्वित्यर्थः ॥ इति । इतः परमेव अथर्ववेदस्यापि केचन मन्त्राः
 समुद्भूताः सन्ति, तत्रापीन्द्रादिपदानां श्रीश्वरपरत्वमेव प्रदर्शितम् । एवं भू-
 तानामेव वेदव्याख्यातृणां दयनीयां दशां समघलोनय सुष्ठूक्तानामिधानिकैः
 कैश्चित्पुरातनैः—'विभेत्यल्पश्रुताद्देवो कामयं प्रहरिष्यती'ति । परनिर्यं सना-
 तनी व्याख्यारीतिरित्यत्र नास्माभिरधुना किञ्चिदुहङ्कृत इति । 'ईश्वरो ज्ञा-
 पयतीति' प्रयोक्तव्ये 'ईश्वरोऽभिवदति' इति प्रयोगः शब्दशास्त्रतत्त्वज्ञस्य

मन्त्रवाणीसे और और चमससे । जिससे कि थोड़े कालमें ही पकाहुआ धान्य
 हमारे घर में आजाय' यह संक्षिप्तार्थ है ।

इसके बाद स्वामी जी ने कुछ अथर्ववेद के मन्त्रों का उद्धरण किया है
 और इन्द्रादि पदों को ईश्वरपरक लगाया है । ऐसे ही वेदव्याख्याताओं
 की दयनीय दशा को देखकर पुरातन विद्वानों ने कहा था कि—'अल्पज्ञों
 से वेद डरता है कि मुझे नारदेगा' । पर यह तो "व्याख्यारीति सनातनी"
 है । इसमें कोई कह ही क्या सकता है । 'ईश्वरोज्ञापयति' के स्थान में 'ई-
 श्वरोऽभिवदति' ऐसे प्रयोग करना अहावैधाकरण अष्टाध्यायी महाभाष्य के
 पण्डित दयानन्द को ही शोभा देता है । इन्हें यही ध्यान नहीं रहता है
 कि हमारा मत क्या है ईश्वर के शरीर तो आप मानते ही नहीं फिर 'वद'
 धात्वर्थ स्पष्ट कथन उस में कैसे होसकता है ! अद्भुत मोह है कहीं स्वामी

दयानन्दस्यैव शीमते । व्यक्तावागेव वदधात्वयं ; (वाच कण्ठतात्वाद्यभिधानादिनिरूपणाधीननिरूपणैव । तथाच कण्ठतात्वादिकृते भौतिकं शरीरस्यपिप्रियेते परमेश्वरस्येत्यनूनपूर्वेयं व्यासोही मुनिहनः । स्वतन्मपि विस्मृतं विज्ञयाप्रभावेणेति प्रतीनः । किञ्च अत्रैवोपासनाप्रकरणे व्यासभाष्यसहितानि यथामुंभवं पञ्चाशत्तमानि योगसूत्राणि सनुञ्जिलेख । न तत्रान्नाभिः किञ्चिद् वक्तव्यमधिवादास्पदत्वात् । परमेनावतो ग्रन्थस्यात्रभक्तिकार्यां सनुद्गुरणं निरर्थकमेवामाति । यतो न तानि सूत्राणि स्वानिना स्वयं व्याख्यातानि, नवा व्यासभाष्यमेव क्वचिद्विशदीकृतम् ॥ अतएव केवलं उपसत्तनाकृते प्राणायानादिप्रकारः पातञ्जलादिदर्शनेष्वेव सुधीभिरवलोकनीयो विस्तरमियात्त्वत्रनोपन्यस्त इत्युल्लेख एव पर्याप्तोऽभूत् । यत्रक्वचिदस्यैव व्याख्यानं सूत्रभाष्ययोरन्तराले वर्तते, तत्सर्वमसंगतप्रायं निष्प्रमाणकं स्वयमेव सिद्धिर्विचारास्पदतां नेयनिनिकृतमञ्जानपिशाचाविष्टस्य वाचान्निग्रहेण ; इति ।

अथोपनिषदान्पि कानिचिद् वाक्यान्यत्रैवोपासनाप्रकरणे प्रसाशत्वेन समुद्धृत्य सनुञ्जिलेख-अस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते, इति । अहाम् । देवगिरैव कुलो नामावाशयपिपागो भवता । त्वदनुयायिनस्तु तेऽखिरतं सर्वत्र वैदुष्यद्विगिहमं समुद्धोपयन्तः अद्वातिशयेन समर्पयन्त्यात्मानं

जी भंगपीकर तौ नहीं लिखते थे ! इसी उपासना प्रकरण में व्यासभाष्य सहित लगभग ५० योगदर्शन के सूत्र लिखे हैं । इनके विषय में हमें कुछ वक्तव्य नहीं है । परन्तु इतने सूत्रों का इस भूमिका में उद्धारण करना निरर्थक पोथा बढाना है क्योंकि स्वामी जी ने न तो उन सूत्रों का व्याख्यान किया और न व्यासभाष्य को ही साफ किया । इतना लिखना ही पर्याप्त था कि "उपासना के लिये प्राणायामादि का प्रकार पातञ्जलादि दर्शनों में ही सिद्धान्तों को देखलेना चाहिये विस्तरभय से यहाँ नही लिखाजाता" । जहाँ कहीं सूत्र और भाष्य के बीच में अपनी संस्कृतलिखी-वहीं असंगत और प्रसाशयून्य लिखमार । अज्ञानरूपी भूतने स्वामीजी को वैतरह पढा-हा है-यह बात सिद्धान्तों को स्पष्ट नालूम होजायगी । आगे कुछ उपनिषदों के वाक्यों का उद्धारण करके लिखा है "अस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते" अर्थात् इस सब का भाषा मेंही अभिप्राय प्रकाशित होगा । सदात्माजी ! संस्कृतमें ही क्यों नहीं अभिप्राय प्रकट किया ? आपके अनुया-

त्वद्देवगीशचरणेषु । मुग्धाश्च सर्वथापि तस्याम् । भाषायानभिप्रायं
 विवृयन्नता वञ्चिता-एव ते रहस्यलोलुपा इति । अन्येषां सरस्वतीसमुपास-
 कानां विदुषां कृते तु भवतां संस्कृतोल्लेखः केवलं बालचापलम्, इति । इतः
 परमुपासनायाः रगुणानिगुणभेदेन द्वैविध्यं प्रकीर्तितं, तत्तथैव । परं सगुण-
 निगुणोपासनाप्रतिपादनप्रकारस्तत्स्वरूपनिरूपणं च न विदुषां मनोहरम् ।
 तत्साधनायै चोपात्तं "स पर्यगादिति" "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः"
 इति च श्रुतिद्वयमपि नोपासनाविषयम् । ज्ञेयब्रह्मपरत्वात् । प्रकरणादिना
 तथैव प्रतीतत्वात् । एवं ब्रह्मस्वरूपबोधकत्वादेव "एशो देव इत्यादि
 सगुणोपासनं, निगुणश्चेति वचनान्निगुणोपासनम्" इत्युल्लेखोऽसंगत
 एव सर्वथापि । नात्र कश्चिदप्युपासनाविधिः श्रूयते इत्यर्थः । 'सर्वज्ञत्वादि-
 गुणै' रिति प्रयोक्तव्यं 'सर्वज्ञादिगुणै' रिति लघुभूतोऽपि प्रयोगो वैदुष्य-
 नदीराविलयत्येव दयानन्दस्येति । किंच "रसगन्धादिगुणैश्चो निर्गैतत्वा-
 न्निगुणैः" इतीदमपि न संगतमिव । "सर्वरसः सर्वगन्धः" इत्याद्युपनिषद्वा-
 क्यैस्तस्य सर्वात्मकत्वनिर्धारणात् । यदि 'रूपरसादयो गुणास्तस्मिन्नसन्ति
 इति यत्तथैव ? तदा किमन्यत्तेषामधिष्ठेतीनं कल्पयेत् । नञ्चत्वर्यं निरधि-
 ष्ठानमिति सर्वै रूपादिकुलसृष्टयं सञ्चैवारोपितमिति शास्त्रविदां सिद्धान्तः॥
 एवं "सर्वरसः सर्वगन्धः" इतिश्रुतिरपि । यदि 'गुणैश्चो निर्गैतत्वा-

यी लोगतो आपकी परिहताई की हिमहिमी सब जगह बजाते हुए अत्यन्त
 श्रद्धासे आपकी संस्कृत वाणीके चरणों में अपनी आत्मा की समर्पण करदेते
 हैं-उच पर बड़े मोहित होरहे हैं । भाषा में अभिप्राय प्रकाशन करके रह-
 स्पवेत्ता सामाजिकों को सचमुच आपने वञ्चित कर दिया । अन्य विद्वानों
 के लिये तो आपका संस्कृतोल्लेख केवल बालचापलही है । आगे आपने
 सगुणोपासना और निगुणोपासना को बतलाया है सो ठीक है परन्तु दोनों
 प्रकारकी उपासना का स्वरूप और उसके प्रतिपादन का प्रकार विद्वानों
 को अच्छा नहीं लगसकता है । "स पर्यगात्" और "एको देव" इन दोनों
 श्रुतियों को आपने उपासना विषय में लगाया है परन्तु प्रकरणादि से मालूम
 होता है कि इन दोनों श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्म स्वरूपके प्रतिपादन में है न
 कि उपासना में । "एको देवः" इत्यादि सगुणोपासना है- यह लेख स्वामी जी
 का संबंध असंगत है क्यों कि यहाँ कोई उपासना विधि नहीं है । "सर्वज्ञा-

वे' व निगुणात्वं ब्रह्मणो व्युत्पाद्यते, तदा विभुत्वमेव तस्योच्छ्रितं स्यात् । नहिद्वयापकस्य यत्किञ्चिद्देशान्तरनिर्गतत्वं सम्भवति इति । वस्तुतः सर्वोपनि-
पत्सु द्विरूपनिर्भ्रान्तावगम्यते नामरूपविकारभेदोपाधिविभिन्नम्, तद्विपरीतं च म-
र्थोपाधिविवर्धितम् । "यत्र द्विद्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति । यत्र त्वस्य
सर्वमात्मेवाभूत् तत्तेन कं पश्येत्" (ब्र० ४ । ५ । १५) । "यत्र नान्यत्पश्यति
नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति समूहाद्यत्रान्यं पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् वि-
जानाति तदर्पं यो वै भूमातदसृजतमथदर्पं तन्मस्यम्" (छा० ७ । २४ । १)
'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं" (ष्वे० ६ । १९) । 'नेतिनेति' (ब्र० २ । ३ । ६ ।)
'अभूलमनशु' (ब्र० ३ । ८ । ८ ।) । 'न्यूनमन्यत्स्थानं संपूर्णमन्यत्' इति चैवं
सहस्रगो चिद्याविद्याविषयभेदेन ब्रह्मणो द्विरूपतां दर्शयन्ति वाक्यानि । तत्रा-
विद्यावस्थायां ब्रह्मण उपान्योपासकादिलक्षणः सर्वोपव्यवहारः । तत्र कानिचिद्
ब्रह्मण उपान्यन्यव्युत्पाद्यार्थानि, कानिचित् क्रममुक्त्यर्थानि, कानिचि-कर्मसु-
द्वध्यर्थानि । तानि सर्वाव्युत्पासनानि सगुणानि, यतस्तत्र ब्रह्मणि तांस्तान् वि-
धेयान् गुणानारोप्य तच्छिन्तनाद् । अतएवतेषामुपासनानां गुणविशेषोपाधि-
भेदेनभेदोऽपि यत्रपुननिष्ठेऽप्यगुणचिन्तनं, सानिगुणोपासना शास्त्रविदामभि-
सता इति । अतएवैकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसंबन्धं निरस्तोपाधिसंबन्धं चो

दिग्गोः' यह प्रयोग अशुद्ध है किन्तु "सर्वज्ञत्वादिगुणोः" शुद्ध है । ऐसे २ लेख
ही तो स्वामी जी की विद्वत्ता नदी को गदली कर रहे हैं । "रसगन्धादिगुणो
से पृथक् होने से निगुण है यह लेख भी स्वामी जी का असंगत ही है । क्यों
कि "सर्वरसःसर्वगन्धः" इत्यादि उपनिषद् वाक्यों से ब्रह्म की सर्वोत्पन्नता
निश्चित है । यदि रूपरतादि गुण उस में नहीं है तो वताइये इन सब का
अधिष्ठान- आश्रय क्या है । असत्य- मिथ्या वस्तु निरधिष्ठान नहीं रहती
और सब रूपादि पदार्थ मिथ्या हैं और ब्रह्म में आरोपित हैं यह शास्त्रों
का सिद्धान्त है ? इस प्रकार "सर्वरस" यह श्रुति भी लग जाती है । यदि
गुणों से पृथक् होने के कारण ब्रह्म की निगुणता हो ती ब्रह्म का व्यापकत्व
ही नष्ट होजावे क्योंकि व्यापक पदार्थ को किसी देग से पृथक् नहीं मान
सकते । वस्तुतः सब उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूप माने हैं (१-) नामरूप
उपाधि से युक्त और (२-) सब उपाधिकों से रहित । इस द्विरूपता में प्रमाणा-
भूत श्रुतिवाक्यों को मूलग्रन्थ में देखिये । अविद्यावस्था में ब्रह्म में उपास्यादि

पास्यावेनञ्जेयत्वेनच सर्वत्रवेदान्तेषूपदिश्यतइति श्रीविद्यारण्यमुनिरपि पञ्च-
दशपाध्यानदीपप्रकरणे सुविशदयानासोपासनाविषयम् । एवं भगवतापतञ्ज-
लिनापिपल्लवितोऽयं विषयः स्वकीयेपातञ्जले । अतोधिकजिज्ञासुभिस्तत्रै-
वावलोकनीय इति । एवं जिज्ञासुरुपासको ब्राह्मणविषयपरित्यागेन ब्राह्मण-
कायनिष्पाद्यं श्रौतस्मार्त्तसंस्कारं कृत्वा ब्रह्मण्यथायविशुद्धसत्त्वो योगरूढो-
भूत्वाशनादिमाधनसम्पन्नः स्वाराज्ये भूमिं स्वे महिभ्यस्ततोऽवतिष्ठते ।
तथाचस्मृतिः—

“योगीयुञ्जतिसत्तत् सत्मानं रहसिस्थितः ।
एकाकीचिन्तित्मा निराशीरपरिग्रहः ॥
एषयुञ्जन्सदाऽऽत्मानं योगीविगेतकलमघः ।
सुखेनत्र स संस्पर्शं न न्तं सुखमश्नुते ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानिष्कारिणं ।
ईत्ततेयोगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः ॥
स न पश्यन्निह सर्वत्र समस्थितमीश्वरम् ।

सब व्यवहार होता है ब्रह्मकी कोई उपासनाएँ अभ्युदयके लिये हैं कोई क्रमसुक्ति
के लिये हैं, कोई कर्म समृद्धि के लिये । ब्रह्म में तत्तद् गुणों का आरोपण
कारके ब्रह्म चिन्तन सुगुणोपासन है । गुण विशेष रूप उपाधि के भेद से
उन उपासनाओं में भेद माना जाता है और निषेध के योग्य गुणों का ध्यान
निगुणोपासना यही वेदान्त शास्त्र का सिद्धान्त है । इसी लिये एक ही
ब्रह्म सोपाधिक और निरुपाधिक भेद से उपास्य और ज्ञेय समझा जाता है
अर्थात् वेदान्त शास्त्र में उपदिष्ट है । श्री विद्यारण्य मुनि ने भी पञ्चदशी
ग्रन्थ के ध्यान दीप प्रकरण में उपासना विषय को स्पष्ट किया है । और
भगवान् पतञ्जलि महर्षि ने अपने योगदर्शन में इस विषय को विस्तर से
लिखा है । अधिक जिज्ञासुओं को एक दोनों ग्रन्थ देखने चाहिये । जिज्ञासु
उपासक जब ब्राह्मण विषयों को छोड़ कर वाणी, मन, शरीर से श्रौतस्मार्त्त कर्मों
को करके कर्म फल की ब्रह्मार्पण करता हुआ शुद्धान्तःकरण हो जाता है, तब
योगरूढ और शनादिसम्पन्न होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है
अर्थात् मुक्त होजाता है । गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

“निरिच्छ, एकाकी शान्तचित्त, योगी अपने मनको एकान्त में बैठ

नहिनस्त्यात्मनात्मानं ततोयातिपरांगतिम् ॥ इति ॥
 तथाचभोक्त्राद्यशेषभेदप्रपञ्चविल्लापनेनैवनिर्विशेषब्रह्मात्मानं जानीयादि-
 त्यर्थः । उपवपरासःपुरुषार्थ इतिदिक् ।

इतिउपासनाविषयः ।

अथ मुक्तिविषयः ।

अत्रोपक्रमएवं एव परमेश्वरोपासनेन विद्याधर्माचरणनिवारणाच्छुद्ध-
 विज्ञानधर्मानुष्ठानोन्नतिभ्यां जीवोमुक्तिं प्राप्नोति, इति प्रत्यपादि श्रीमता
 दयानन्देनस्वामिना । अतोविज्ञायते-मुक्तिःकाचित्तृती विशेषावस्था कौशिक-
 त्कोरणविशेषैर्जीवेनसमुपलभ्यते । अतःकारणविनाशेन तस्याअपिनाशःस-
 म्भवति । निखिलतत्कारणानामप्यनित्यत्वमेव स्वीकर्तुं शक्यम् । अन्यथाका-
 रणानित्यत्वेन तस्याअपिसदातनत्वैयुक्तसंसारिणोर्विशेषोपपत्तिःस्यात्;संसारो-
 ष्छेदप्रसंगश्च । विनाशश्चास्याःसम्भवतयाऽन्यत्रापि प्रतिपादितोदयानन्देन
 तत्सर्वेयथासम्भव यथास्थाननस्माभिर्निरूपयिष्यते । अत्रपुनःसर्वेशास्त्रधिपरीतं
 युक्तिविरुद्धं चार्थमोक्षस्यानित्यत्वंतामिप्रायंप्रतिपादयन्ब्रह्महेलनामेवविदधाति
 कर स्थिर करे ॥

इस प्रकार सदा मनको लगाता हुआ अपर रहित होकर मुख से ब्रह्म
 सम्बन्धी अत्यन्त मुख की प्राप्ता है ॥

आत्मा सब भूतों में है और सब भूत आत्मा में हैं— इस बात की सम-
 दर्शी योगी देखता है ॥ सर्वत्र स्थित ईश्वर की सनाजरूप से देखता हुआ
 जो आत्म विरुद्ध आचरण नहीं करता है वह भीखी मुक्ति को प्राप्ता है ॥

तात्पर्य यह है कि भोक्तृत्व कर्तृत्वादि सब कल्पित भेद का नाश करके
 निर्विशेष ब्रह्मकी जाने क्यों कि वही परमपुरुषार्थ है । इति संक्षेपः ॥ इति
 उपासना विषयः ॥

अथ मुक्ति विषयः ।

यहाँ प्रारम्भ में ही स्वाामीजी ने "परमेश्वरोपासना, अविद्या और
 अधर्म की निवृत्ति होने से शुद्ध ज्ञान और धर्मानुष्ठान से जीव मुक्ति को
 प्राप्ता है" यह लिखा है । इस से मालूम होता है कि जीव की मुक्ति—एक
 अवस्थाविशेष है । और वह किन्हीं कारणों से जीव को मिलती है । इसी
 लिये कारणों के नष्ट होने से मुक्ति भी अनित्य है । मुक्ति के कारणों की

वंगशाखाणां न केवलं शास्त्रविरोधीऽपितु निश्चोविरोधीऽपि । सर्वेऽपि दार्शनिका
 नित्यत्वमेव मोक्षसाधिका रूपमङ्गीचक्रिरे । तार्किकास्तावदेकैव श्रुतिदुःखध्वंसस्यैव
 मोक्षरूपतामाहुः । केचन पुनस्तिपां दुःखप्रागभावएवमोक्ष इति वदन्ति । कार-
 णविभागेभ्यो हि समुत्पद्यमानो ध्वंसो न पुनः केनापि प्रतियोगिनाभावेन
 कदाचिन्निरवश्यं इति । तदनिवृत्तौ न मुक्तस्य पुनः संसारापत्तिः । सादिर-
 नन्तोऽभावो ध्वंस इति तत्स्वरूपं वर्णयन्ति तद्विदः । एवमात्यन्तिकदुःख-
 ध्वंसस्याप्यनन्तत्वे न त्वदभिलषितसिद्धिरिति भावः । अपरेपरमेतदसहमानाः
 अशेषविशेषगुणध्वंसावधिकदुःखप्रागभावमेव, मुक्तिसाहुः । नचायमसाध्यत्वा-
 न्न-पुरुषार्थं इति वाच्यम्, कारणाधिपदनमुखेन प्रागभावस्यापि साध्यत्वात् ।
 ननु प्रागभावस्य साध्यत्वे तदनादित्वेन प्रागभावत्वस्यैव च तिरिति चेत्, न ।
 प्रतियोगिजनकभावत्वेनैव तथात्वात् । प्रतियोगिनो घटादेर्जनको योऽभावः
 स एव प्रागभाव इत्यर्थे नोक्तदोष इति भावः । नहि प्रागभावश्चरमसामग्री
 कार्यस्य, येन तस्मिन्सति कार्यनवश्यं भवेत् । अन्यथा तस्याप्यनादित्वप्रसंगो

भी अनित्य मानना चाहिये । अन्यथा कारणों के नित्य होने से मुक्ति भी
 नित्य माननी पड़ेगी यदि ऐसा हो तो मुक्त और संसारी में कोई भेद न
 रहेगा और यदि एक २ जीव धीरे २ मुक्त होता गया तो सब संसार का
 ही उच्छेद होजायगा । मुक्ति का अनित्यत्व स्थलान्तर में श्री स्वामी
 दयानन्द ने बताया है । वह सब यथावसर निरूपित होगा । सब शास्त्रों के
 विपरीत और युक्तिविरुद्ध मोक्ष की अनित्यता का प्रतिपादन करके स्वामी
 की ने सब शास्त्रों को तिरस्कार किया है । इस विषय में केवल शास्त्रविरोध
 ही नहीं किन्तु उनके कथन में परस्पर विरोध भी है । समस्त दार्शनिक
 मुक्ति की नित्यता को निःसन्देह मानते हैं । नैयायिक लोग इक्कीस दुखों
 के ध्वंस (अभाव) का नाम मोक्ष मानते हैं । और कोई तार्किक, दुःखों का
 प्रागभाव ही मोक्ष है- ऐसा कहते हैं । कारणों के विभाग से पैदा हुआ
 ध्वंसाभाव किसी प्रतियोगीरूप भाव से हटाया नहीं जासकता, यदि नहीं
 हटाया जासकता तो फिर मुक्त पुरुष संसारी नहीं हो सकता । सादि और
 अनन्त अभाव का नाम ही प्रध्वंसाभाव है । इस को अनन्त मानने से
 स्वामीजी की मुक्ति अनित्य नहीं होसकती । अन्य तार्किक लोग इस बात
 को न मान कर आत्मा के सब विशेष गुणोंके ध्वंसपर्यन्त दुःखों के प्रागभाव

दुर्वार एव स्यात् । अतएव तत्र जनकत्वं स्वरूपयोग्यताजात्रमेव ग्राह्यम् । तथाच यथा सहकारि विरहादिमन्तं कालं नाजीजननकार्यं तथाऽप्येव तद्विरहान्न जनिष्यति, हेतुच्छेदे पुरुषव्यापारादित्यस्यापि प्रागभावपरिपालन-एव तात्पर्यम् । अतएव गौतमीयद्वितीयसूत्रे 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषनिषया-ज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इत्यत्र कारणाभावात्कार्या-भावाभिधानं दुःखप्रागभावरूपमेव मुक्तिं द्रढयति । नहि दोषापाये प्रवृत्त्य-पवर्गः, प्रवृत्त्यापाये जन्मापायः, जन्मापाये दुःखापायः, इत्यत्रापायो ध्वंसः । किंत्वमुत्पत्तिरेव । सोऽथ प्रागभाव एव । आत्मनस्त्वज्ञानात् सवासननिषया-ज्ञानस्य संसारहेतीरत्यन्तोच्छेदे नपुनः कदापि दुःखादेरुत्पत्तिः । तत्त्वज्ञानं च योगविधिसाध्यमिति तदर्थं प्रवृत्त्युत्पत्तेश्च पुरुषायत्वमप्यस्य सिद्धम् । एवमे-षामपि नते नित्यएव मोक्षः । कपिलपतञ्जलिदादरायणप्रभृतयस्तु नित्यमु-क्तत्वमेवात्मनोऽङ्गीकुर्वते । असङ्गीह्ययं पुरुष इत्यादिश्रुतेः । तत्र न शङ्का-पङ्कलङ्कावकाशोऽपि मुक्तिरनित्यतायाः । श्रीसांसका अपि यादृशीं स्वर्गादि-विशेषरूपां मुक्तिमन्पन्ते, न भवान्तादृशीमपि । अतः स्पष्ट एव सर्वशास्त्र-

को ही मुक्ति मानते हैं । दुःख प्रागभाव को साध्य न होने से पुरुषार्थता नहीं है- यह शङ्का अयुक्त है क्योंकि अन्य कारणों के नाश द्वारा प्रागभाव भी साध्य होसकता है । (शङ्का) यदि प्रागभाव को साध्य माना जाय तौ प्रागभाषको अनादि होनेके कारण उसका प्रागभावत्वही नहीं रहेगा? (उत्तर) प्रागभाव में प्रागभावत्व, अनादिता के कारण इस नहीं मानते किन्तु प्रति-योगिजनकाभावत्वरूप से उस में प्रागभावत्व इष्ट है अर्थात् प्रतियोगी घटादि का उत्पादक जो अभाव वही प्रागभाव इष्ट है प्रागभाव कोई अ-न्तिम सामग्री नहीं है जिससे उसके होते हुए अवश्य कार्योत्पत्ति हो, यदि उसे अन्तिम सामग्री मानें तो अनादि मानना भी दुर्वार होगा । इसमें उस प्रागभाव में जनकतास्वरूप योग्यतारूपा ही ग्राह्य है । इस प्रकार माननेसे जैसे उसने अन्य सहकारी कारणों के न रहने से इस समय तक कार्य को उत्पन्न नहीं किया वैसे ही उन २ कारणों के अभाव में अब भी पैदा नहीं करेगा । "पुरुष का काम दुःखों के हटाने में है" इस अभियुक्तोक्ति का भी यही तात्पर्य है । इसी लिये गौतम महर्षि के द्वितीय सूत्र "दुःखजन्म" इ-त्यादि में कारणाभाव से कार्याभाव का कथन दुःख प्रागभावरूप मुक्ति को

विरोधः । स्वविरोधः पुनः- सत्यार्थप्रकाशस्य नवनसमुल्लासे सर्गप्रलययोः सङ्गच्छार्था पदत्रिशङ्कत्वयोयवान्कालः, स एव मुक्तेः कालः । तावतिकाले जीवस्तत्रानन्दं भुनक्ति, इति महत्यारभट्या प्रतिपाद्य, अत्रैव प्रकरणे “मुक्तेः प्राप्तेः स्वस्य मोक्षस्वरूपस्य सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परब्रह्मणः प्राप्त्या जीवः सदासुखी भवतीति बोध्यम्” इति प्रतिपाद्यन सार्धकालिकं सुखित्वं जीव-स्फोररीषकार । नैतादृशविरोधस्य साह्यान्मतिविभ्रमस्य वा कृदिद्युपायः सम्भवी । मुक्तिश्च दुःखनिवृत्तिपूर्वकसुखावाप्तिरूपा अनित्या च काचिदव-स्या जीवस्य यदि, तदा संसारिणोऽपि मुक्तत्वप्रसंगः । तस्यापि कदाचित् दुःखनिवृत्तिपूर्वकस्य सुखस्य सत्त्वात् । ननु निरुक्तकालावधिकस्य तादृशस्य तस्य मोक्षरूपतेति चेत्, न, तत्र प्रमाणाभावात् । इतरथाऽपि प्रसङ्गात् । एवं सर्वथापि प्रमाणशून्यत्वात् हेयमेव श्रेयोर्गर्थभिर्दयानन्दस्य प्रलपितमिति । यत् “जीवः परिच्छिन्नोऽनादिरनन्तश्च, ईश्वराद्भिन्नो, ज्ञानादिगुणैर्युक्तः, सुकृतदुष्कृतादिसम्पादने स्वतन्त्रः, तद्विपाकसुखदुःखाद्युपभोगेऽस्वतन्त्रः, ईश्वराधीनइति यावत्” इति प्रदिपादितम् । यच्च स्वरूपतो जीवात्मा न बहुो नापिमुक्तः, दूरदृष्टाधीनस्य शरीरादिधारणं, तद्योगाच्च सुखदुःखाद्युपभोगः,

ही पृष्ट करता है । सूत्रमें तत्तत् के अपाय-अभाव से दुःखका अपाय-ध्वंस रूप नहीं किन्तु अनुत्पत्तिरूप है और वह प्रागभाव ही तो है । आत्मा के सत्त्व-ज्ञान से वासना सहित निष्ठया ज्ञानरूप-संसार के कारण का नाश हो जाने से फिर दुःखादि की उत्पत्ति नहीं होती । तत्त्वज्ञान, योगविधि से सिद्ध होगा इसलिये परम्परया दुःखान्तपत्ति के लिये प्रवृत्ति भी बग सकती है । इस प्रकार महर्षि गौतम के मत में भी मुक्ति नित्य ही है । कपिल, पतञ्जलि, व्यास आदि महर्षि तौ “असङ्कोचं पुरुषः” इत्यादि श्रुति बल से आरम्भ की भुवत मानते ही हैं । उनके मत में मुक्ति के नित्य होने में कोई शङ्का ही नहीं । नीमांसकाभिमत मुक्ति भी आपकी (दयानन्द को) इष्ट नहीं । इससे सब शास्त्रों का विरोध तो आपकी मत में स्पष्ट ही है । अपने लेख में भी विरोध है, देखिये :—

सत्यार्थप्रकाश के नवें समुल्लास में लिखा है कि ३६ छत्तीसवार सर्गप्रलय का जितना काल है उतना ही मुक्तिका काल है उतने कालमें जीव आनन्द ही का भोग करता है- इस बातको बड़े विस्तर से प्रतिपादन करके फिर

धर्मादिना तद्भावेऽशुभोत्तरवाप्तिः । तत्रापि यदा शुभं श्रूयति, तदा श्रोत्रं जायते । यदा दिदृक्षति, तदा चक्षुस्तपेद्यते, एवं स्वविषयग्रहणाभिलाषकाले तत्तदिन्द्रियं समुत्पद्यते । सर्वमेतत्संस्त्यागैर्मांशस्य नयनसंसुल्लोसे प्रकल्पितम् । तत्रच प्रयोगात्वेन शतपथवाक्यमपि किञ्चिदुद्धृतम्- “श्रूयन् श्रोत्रं भवति स्पेशयन् त्वग्भवति पश्यन् चक्षुर्भवति” इत्यादि । सर्वमेतत् पथायं विचार महतिः-जीवात्मनस्तावत् परिच्छिन्नत्वं कालकृतं न सम्भवति, तस्यानाद्यनन्तत्वाभावात्पसंयात् । अन्तित्यत्वे पुनः कृतहानोक्ताभ्यागनादिदोषा प्रसज्येत् । अतो दैशिकमेवंतत्त्वं बोध्यम् । तत्र मध्यमपरिभाषावत्वे घटादिवदनित्यमसङ्गस्तद्द्वय एव स्यात् । तथाचाणुपरिभाषा एव जीवात्मा इति सिद्धम् । तदप्ययुक्तम् । नास्त्यणुरात्माः उत्पत्त्यश्रवणात् । श्रूयन् श्रोत्रं तपतिः कस्यचित्परिच्छिन्नः वं सांधयेत् । नचात्र

यहां भूमिका में लिखते हैं कि “जीव, ईश्वर को पाकर सदा सुखी होता है” सावधिक सुख और सदा सुखमें भेद स्पष्ट ही है । इस विरोध या भ्रान्ति का कोई उपाय ही नहीं । स्वामी जी के मत में दुःख निवृत्ति पूर्वक सुख प्राप्ति ही मुक्ति है तो संसारी को भी मुक्त मानना चाहिये क्यों कि दुःख से छूट कर कभी २ वह भी सुखी हो जाता है, यदि कही कि उक्त काल पर्यन्त निरन्तर सुख के होने का नाम मुक्ति है तो इस में कोई प्रमाण नहीं । अर्थात् इतने काल पर्यन्त जीव मुक्ति में रहता है इस में किसी शाखादि का प्रमाण नहीं । इस लिये स्वामी जी का मुक्ति विषयक यह मत सुनुनुओं को सर्वथा छोड़ने योग्य है । आगे सं-यार्थ प्रकाश में न-म सुनुनुओं से लिखा है कि-“जीव, परिमित अनादि अनन्त और ईश्वर से भिन्न तथा ज्ञानादि गुणों से युक्त है, वह पाप पुण्य करने में स्वतन्त्र उनके फल सुखदुःख भोग करने में परतन्त्र अर्थात् ईश्वराधीन है । इन का मत है कि जीवात्मा स्वरूप से न बद्ध है न मुक्त है, शरीरादि का धारण करना धर्मा धर्म के अधीन है शरीरादि के होने से सुख और दुःख होते हैं । धर्म आदि के करने से शरीरादि के न रहने से मुक्ति मिलती है । मुक्ति अवस्था में जब सुनता चाहता है तब श्रोत्र इन्द्रिय हो जाता है और जब देखना चाहता है तब चक्षु उत्पन्न होता है, इसी प्रकार अपने अपने विषयों के ग्रहण की इच्छा काल में वह २ इन्द्रिय उत्पन्न हो जाता है इति ।

इस विषय में शतपथ ब्राह्मण के एक वाक्य को उद्धरण किया है “श्रूयन्

तत्सम्भवति । अतोनाशुत्वमात्मनः । प्रवेशस्तु परब्रह्मणः श्रूयते, 'तदात्मनानु
प्रविश्य नामरूपेण्यकारवाण' इति । तादात्म्यश्रवणाच्च परमेवब्रह्मजीव इति
प्रतिपादितं भवति । अतोयावद्ब्रह्म तावानेवजीवोभवितुमर्हति । ब्रह्मणश्च
विभुत्वमात्मनात्तम् । तस्मात्तन्मोघोपि विभुर्बोध्यः । 'सवा एष महानजश्रात्मा
योऽयंविज्ञानमयः प्रोक्षेणु' इत्येवं जातीपकाः श्रौताःस्मार्त्ताश्च जीवविषया
विभुत्ववादाः समर्थिता भवन्ति । किंचाशौर्जीवस्य सकलशरीरगतवेदनाया अनु-
पपन्नत्वाच्चेतन्यं तस्य यदिहसस्तशरीरं व्याप्नुयात्, तदा नाशुर्जीवः स्यात्
चेतन्यमेव ह्यस्य स्वरूपमग्नेरिवाग्नेयप्रकाशी । नात्र गुणगुणिविभागः कल्प-
यितुं शक्यः । कल्पनार्थात्, गुणगुणिनोर्गोत्वाश्वत्वयोस्त्वभेदाभ्युपगमात् भि-
न्ने जीवात्मनश्चेतन्ये त्वदभिमतश्चेतनो जीवःस्वरूपतोऽचेतनएव प्रकथ्येत

श्रीत्र ॥" इत्यादि । अब यहाँ पर विचार करना चाहिये :- जीवात्मा का
काल के कारण परिच्छिन्नत्व-परिमित होना नहीं बन सकता । क्यों कि
ऐसा मानने से उस का अनादि अनन्त भाव नष्ट हो जायगा । जीव जो
अनित्य मानने से "कृत हानि-और अकृतारभ्यागम अर्थात् किये हुये का नाश
और बिना किये की प्राप्ति- ये दो दोष लगेंगे" इस लिये देश कृत परिच्छि-
न्नता ही मान सकते हैं, जो यदि मध्यम परिभाग वाला जीवात्मा को माना
जाय तो घटाधिके तुल्य अनित्यता की प्रकृति होगी इस लिये अणुपरि-
साख जीवात्मा को मानना पड़ेगा-सो भी अयुक्त है । उत्पन्न नहीं होता
इससे आत्मा अणु नहीं है, यदि आत्मा उत्पन्न होता अर्थात् इसकी उत्प-
त्ति छुनी जाती तो इसका परिच्छिन्न भाव बन सकता था । हाँ परमात्मा
का प्रवेश तो श्रुति में श्रुत है-"तदात्मनानुप्रविश्य", इस श्रुति में तदात्मता
के श्रवण से जीव ब्रह्म ही है-यह सिद्ध-होता है । इसमें जितना वा कैसा
ब्रह्म है उतना वा वैसा ही जीव होना चाहिये । ब्रह्म को सब विभु मानते
ही हैं इससे जीव भी विभु मानना चाहिये । "सवा एष" इत्यादि श्रुतियां
जीव को विभु बता रही हैं । दूसरा दोष यह है कि यदि जीव अणु नाना-
जाय तो सब शरीर गत दुःख का अनुभव नहीं बन सकता । उसका चैतन्य
ज्ञान ही सब शरीर को व्याप्त करता है-यदि ऐसा माना जायतो जीवात्मा-
अणु नहीं हो सकता, क्यों कि चैतन्य ही तो आत्मा का स्वरूप है-जैसे
अग्नि के उष्णता और प्रकाश । इस स्थल में गुण और गुणी का भेद नहीं

एतेन 'ज्ञानादिगुणैर्युक्तो जीवात्मा' इति यदुक्तं, तदपि निरस्तं बोध्यम् । एवं शरीरपरिमाणस्यानित्यत्वादिदोषप्रसक्तैरनिष्टत्वात् प्रत्योरुपायतत्वाच्च विभुरेवजीव इति सिद्धम् । तत्र तत्राणुत्वादिद्वयपदेशस्तु दुर्ज्ञानत्वाभिप्रायं बुद्ध्यधुपाध्यभिप्रायं वा द्रष्टव्यम् । तथैवात्मनानादिति सर्वमवदानम् । ब्रह्म-स्वरूपतायां च जीवात्मनः स्वरूपतोनायंजहो न मुक्त इति यदुक्तं तदप्यपा-स्तम्, तस्य नित्यमुक्तत्वात् ॥ मोक्षे श्रीत्रादीन्द्रियजनित्तु दयानन्दस्य मातु-तत्त्वमेव मोक्ष इति विस्पष्टयति । नहि देहाभावे श्रीत्रादीन्द्रियजननं सम्भ-वति । अतस्तदभ्युपगमे देहाभ्युपगमोऽप्यवश्यं वाच्यस्तत्रेति कोभेदः स्यात्सं-सारमोक्षयोः । देहादिसत्त्वे च दुःखादेरप्यवश्यंभाव इति साधीयश्चैवं कल्पितं भवति मोक्षस्य स्वरूपं सु सिद्धमनेनेति । निरुक्तब्राह्मणवाक्यं कथमेतस्यार्थस्य साधकमिति विद्वांसि एव विचारयन्तु । 'श्रवणम्' इत्यादिपदेषु नहि कश्चि-दिच्छार्थकः प्रत्ययः श्रूयते । किंचेच्छासत्त्वे मुक्तिरेव न सम्भवति । मोक्षत-

कल्पित होसकता, यदि उनके भेदकी कल्पना करें तो जीव स्वयम् जड़मानना पड़ेगा अर्थात् मोक्ष अश्वत्त्व के तुल्य भेद जानने से जीव में जड़त्व प्रसक्त होगा । इससे "ज्ञानादि गुणों से युक्त जीवात्मा है" यह कथन खण्डित हो जाता है । यदि शरीर तुल्य परिमाण वाला जीव माना जाय तो अनित्य-तादि दोष लगने से अनिष्ट हैं और खण्डित हैं इस लिये जीव को विभु मानना ही युक्ति सिद्ध है । जहाँ तहाँ श्रुतियों में अणुत्वादि व्यवहार होता है वह जीव सूक्ष्मता वा दुर्ज्ञानता वा बुद्धि आदि उपाधि के अभि-प्राय से है । ऐसा ही शास्त्रों में वर्णित है । जब जीव ब्रह्मस्वरूप ही ठहरा तो यह कहना कि "जीवात्मा स्वरूप से न बद्ध है न मुक्त है" असंगत है है क्योंकि वह तो नित्य मुक्त है । 'मोक्ष होने पर भी श्रीत्रादि इन्द्रियों उत्पन्न हो जाती हैं' यह दयानन्दोक्ति है । मालूम होता है— स्वामी जी का मोक्ष, उनका नामा का घर है अन्यथा यह विचित्र बातें कैसे मालूम होती ? भले आदमी । जब देह ही नहीं रहा तो श्रीत्रादि इन्द्रियों की उत्प-त्ति कैसे होसकती है ? यदि श्रीत्रादि इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं तो देह भी उत्पन्न होता होगा । यदि देह भी मोक्षमें रहे तो संसारी और मुक्त में भेद ही क्या रहा । देहसत्ता में दुःखादि अवश्य होंगे, फिर तो मोक्ष का निरूपण आपने खूब किया जरा 'विद्वांसु लोग विचारें' कि " श्रवणम् श्रीत्रं भवति "

त्वक्षाः सर्वेऽपि शास्त्रविदो मुक्ताविच्छाऽभावमदृश्यमानमन्ति । अर्थात् सर्व-
थापि निरंकुश एव सर्वत्र धावति । कीदृशीयं मोक्ष आर्यसामाजिकानां यत्र
ब्रह्मानन्दप्राप्तावपि इच्छादयो वर्तन्त एव । वस्तुतो धालबुद्धिविजृम्भण-
नाशमेतत् । मोक्षश्च पुनर्नित्य एव सर्वैर्दीक्षादिभिरभ्युपगम्यत इति । किंच
“एषश्चैव साधु कर्मकारयति यन्नेभ्यो लोकेभ्य उन्नतनीपते, एषश्चैवासाधु
कर्मकारयति तं यमघोनिनीपते” “अज्ञानानुरनीशोऽयनात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव च” इत्यादिश्रुतिस्मृतिविपरीं जीवा-
त्मनः स्वात्मन्यं प्रतिजानानां दुःखादेः सन्मार्गप्रवृत्तये परमेश्वरस्य प्रार्थि-
तावेन च स्वोक्तविरीतं, आत्मनः स्वात्मन्यमनिमन्यमान एव निरर्गलमर्थ-
जातं निरूपयानासेति हृदं मन्यानहे इति । अथ च तादृशसुखस्यमुक्तये जीवा-
त्मनि सामर्थ्याभावात्, अनित्यकर्मणामनित्यफलकत्वात्, संसाराच्छेदप्रसंगात्
सन्मार्गवर्तकत्वाभावात्, भाषडानुसरिस्नेहवत्युत्पत्त्यस्य कर्मणोभुक्त-

इत्यादि शतपथ वाक्य, उदहार्यं साधक कैसे है ? श्रुतवन् इत्यादि पदोंमें कोई
भी इच्छार्थक प्रत्यय नहीं है । यदि इच्छा ही रहे तो न कित् ज्ञाक हुई ।
मोक्षतत्त्व को जानने वाले सब शास्त्रवेत्ता मोक्षमें इच्छाका अभाव मानते हैं
परन्तु स्वामी दयानन्द ती सर्वथा निरंकुश है और सर्वदर्शनशास्त्र बहिष्कृत
है, चाहे सो लिख सारता है । यह आर्यसामाजिकों का कैसा मोक्ष है जिस
में ब्रह्मानन्द प्राप्त होजाने पर भी इच्छादि गुण बने रहते हैं ? यह ती
सचमुच ब्रह्मकों का विलास है । समस्त मोक्षवादी एक स्वर से मोक्ष को
नित्य मानते हैं । और देखिये श्रुति लिखती है :-

“इन लोकों से जिस जीवको उन्नत करना चाहता है उसी जीव से यह
परमात्मा अच्छे कर्म करवाता है और जिसे नीचे ढकेलना चाहता है उस
से बुरे कर्म करवाता है” ।

स्मृति में लिखा है :-

“अज्ञानी जीव अपने मुख दुःखों के उपभोग में स्वयं असमर्थ है ईश्वर
से प्रेरित होकर ही स्वर्ग में जायगा या नरक में” ।

इत्यादि श्रुति स्मृतियों के विरुद्ध, जीवात्मके स्वतन्त्र होनेकी प्रसिद्धा
की है और फिर जहां वहां “आर्याभिविनय” आदि ग्रन्थोंमें अपने मन्तव्य
के विरुद्ध ईश्वर से प्रार्थना की है कि हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग में प्रवृत्त

फलस्य कस्यचिद्वशिष्टत्वाच्च पुनरावर्ततएव जीवो मोक्षादिति दयानन्दतदनुयायिनां महतीयं कल्पना । तत्रादावेव संसारिवत्सुखीपभोगं मुक्तीं गन्धसानो सुखी किमिति निविहमलापहतं हृदयं प्रक्षालयेत् । ब्रह्मरूपतया जीवात्मनः प्रतिपादितार्थां कुतः सामर्थ्याभाव इति नात्मीकृतम् । आनन्दोदितस्वरूप एवात्मा, नहि स नैमित्तिकं मुखनश्नुते । तथा च न मोक्षोऽनित्यस्यकर्मणः फलम् । इदन्त्वनुष्ठेयकर्म फलविलक्षणमेव मोक्षाख्यं नित्यमिति । यदि ज्ञानस्वरूपो मोक्षाख्यश्च स आत्मा कश्चित्कर्तव्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च कर्तव्येन साध्यप्रवेनोक्तोऽभ्युपगम्येत अनित्य एव तदा स्यात् । तथा सति तत्तदुक्तकर्म फलोत्प्रेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयोक्तो हति प्रसज्येत । नचैवं कश्चिदपि मोक्षवादिभिरभ्युपगतम् । अतः शास्त्रेणापि प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयता अविद्या कल्पितं च वेद्यवेदित्रादिभेदसंपन्नयता संसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्नमोक्षस्या-

कर । यदि जीवात्मा स्वतन्त्र ही है तो प्रार्थना से क्या प्रयोजन ? ।

स्वाप्ती दयानन्द और उनके अनुयायी मानते हैं :-

(१) सार्वदिक सुख को भोगने की सामर्थ्य जीवात्मा में नहीं- इस लिये मुक्ति अनित्य है ।

(२) अनित्य कर्मों का फल अनित्य ही होना चाहिये- इस लिये मुक्ति अनित्य है ।

(३) यदि नित्य जानी जाय तो कदाचित् संसारको उच्छेद होजायगा ।

(४) यदि मुक्ति से लौट कर जीव न आवे तो श्रेय मार्गका उपदेश वा स्वयिक कौत दे सकता है ।

(५) जैसे भाँडे में कुछ न कुछ स्नेहांश बच ही जाता है वही प्रकार कुछ कर्म बचे रहते हैं जिनके कारण पुनरावृत्ति होती है ।

इन भक्तियों से पूछना चाहिये कि यदि कुछ काल के लिये ही मुक्ति होती है तो संसारी और मुक्त में क्या भेद रहा ऐसी मुक्तिके लिये दूषित हृदय को क्यों धोया जाय जब जीव ब्रह्मस्वरूप ही है तो सामर्थ्याभाव कहना असंगत है । आत्मा आनन्दोदित स्वरूप है, वह नैमित्तिक सुख का उपभोग नहीं करता । मोक्ष अनित्य कर्मों का फल नहीं है । जो कर्म किये जाते हैं उनके फलसे विलक्षण ही मोक्षाख्य फल है । किसी कर्तव्य कर्म का

नित्यत्वदोषः । यस्य रूपाद्यो विकार्योऽवाभोजः स्यात् तस्यमानसंवाचिकका-
यिकंवाकार्यमपेक्षत इति युक्तम् । तयोश्चपक्षयोर्मौलस्य भ्रुवमनित्यत्वम् । न-
हि दध्यादि विकार्ये, उत्पार्थे वा घटादि क्वचिन्नित्यदृष्टलोकौ । नचाप्यत्वेना-
प्यत्र कार्यापेक्षा, स्वात्मस्वरूपपरत्वे सत्यनाप्यत्वात् । स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेपि
ब्रह्मणोनाप्यत्वम् । सर्वगतत्वेन नित्योत्पत्स्वरूपत्वात् ब्रह्मणः आकाशस्यैव ।
नापिसंस्कार्योभोजः, येनव्यापारमपेक्षते । संस्कारोहिनामसंस्कार्यस्यगुणाधाने-
न वास्याद्योपापनयनेनवा । नतावद्गुणार्थानेन सम्भवति, अनार्येयातिशयब्र-
ह्मस्वरूपत्वान्मौलस्य । नापि दोषापनयनेननित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मौलस्य ।
सस्मात्क्रियायागन्धलेशोऽपि भोजे नास्तीत्यर्थः । अतएवतस्यनित्यत्वमिति ।
सर्वैतत् समन्वयाधिकरण एव श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यैर्लोकानुग्रहकाङ्क्षया
समुदीरितम् । अधिकं जिज्ञासुभिस्तत्रैव प्रयस्यतामिति । संसारोच्छेदे च द-
यानन्दस्य कोक्षतिरिति नावगच्छामः । अस्माकन्त्वत्रेण्टापत्तिरेव । किञ्च मुक्तौ
पुनरोद्वेष्टय यदि नागम्येत मुक्तौ, तदा मुक्तिदुखस्येहृत्यैः सर्वेऽननुभूतत्वात्
तदुपदेष्टा कः स्यात् इत्यविलम्बितं सुविशदीकृतमात्मनश्चातुष्यम् । भोजो-

श्चिप आत्मा नहीं है जिस से भोज को साध्य या अनित्य मान लिया जाय ?
भोजवादी लोग किसी कर्म का फल भोज कर्म नहीं मानते । शास्त्र-वेदान्त
शास्त्रादि भी अविद्या परिकल्पित वेद्यवेदिभ्रादि भेद को दूर करता हुआ
और आत्मा के संसारित्व को हटाता हुआ भोज को नित्य ही मानता है ।
जिस के मत में दही आदि के तुल्य विकार्य वा घटादि के तुल्य उत्पाद्य भोज
हो उस के मत में भौतिक, वाचिक वा कायिक कर्म का फल भोज हो
सकता है और अनित्य माना जा सकता है । यदि भोज को प्रापणीय माना
जाय तो भी कर्मापेक्षा ही सकती है परन्तु भोज तो आत्मस्वरूप होने से
अप्राप्तव्य है यदि ब्रह्म को आत्मा से भिन्न माना जाय तो भी वह ब्रह्म अ-
नाप्य है क्यों कि वह आकाश के तुल्य सर्व गत होने से नित्य प्राप्त ही है ।
भोज, संस्कार्य - संस्कार करने योग्य पदार्थ भी नहीं है, जिस से व्यापार
की अपेक्षा ही । संस्कार्य वस्तु का संस्कार दो प्रकार से ही हो सकता है
(१) किसी गुण के अधान से अथवा (२) संस्कार्य वस्तु के दोषों के दूर
करने से । सो ये दोनों भोज में नहीं बन सकते क्यों कि भोज-ब्रह्म स्वरूप
ही है । ब्रह्म में न किसी गुण का अधान हो सकता है, न कोई दोष है जिसे

पदेदुरस्य स्वस्य नु क्तवख्यापने समीचीनोऽयं प्रकारः । प्रीकृतानोमास्थाप्यव-
नविकल्पमुत्पद्यते । सत्पथप्रवर्तकत्वं तु वस्तुतो जीवन्मुक्तेष्वेव पर्यवसि-
त्सम् । नित्यमुक्ततायां पुनर्नोभयोरपि कश्चनविशेषः । येन प्रेरिता
मुक्ताः पुनः शरीरपदनापद्येरन् तत्त्वान्युपदेष्टुमिति । यत्तु शिष्टकर्म-
वशादेवपुनरावर्तत इत्युक्तम् । तदप्ययुक्तम् । प्रमाणाभावात् । विपर्ययेष्वसह-
स्त्रयः प्रमाणान्युपलभ्यन्ते ।—“क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन् हृष्टे परादरे”
(मुण्ड० । २ । २ । ८) “आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्नविधेति कुतश्चन” (तैत्ति० २२)
“अभयं वै जनक प्राप्सोऽसि” (बृह० ४ । २ । ४) “तदात्मानमवावेदह ब्रह्मार्समीति”
“तत्रकीनोद्दःशोक एकत्वमनुपश्यतः” (यजुः ४० । ७) इत्येवमाद्याः सर्वा
अपिश्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरमेवमीदं प्रदर्शयन्त्येवमप्ये सर्वथापिकर्मान्तरं
वारयन्ति । अतएवमहर्षिणा कृष्णहृत्पायनेनापि ब्रह्मसूत्रे चतुर्थस्यप्रथमे “तद-
विगम उत्तरपूर्वांघपोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्” (१३) इति प्रतिपादितम् ।
अस्यायमर्थः— ब्रह्माधिगमे सति उत्तरपूर्वयोरेषयोरेषविनाशौ भवतः, उत्तर-
स्याश्लेषः, पूर्वस्य विनाशः । कस्मात् । तद्व्यपदेशात् । तथाहि ब्रह्मविद्या-
प्रक्रियार्थासंभारप्रमानसं बन्धस्वोपागमिनो दुरितस्यानभिपन्नबन्धं विदुषोऽव्य-

हृटाया जाय, इस लिये मोक्षमें कर्मका शब्द भी नहीं है अतएव मोक्ष नित्य
है । ये सब बातें समन्वयाधिकरणमें भगवान् शंकराचार्य ने लिखी हैं अधिक
जानने वालों को वहाँ ही देखना चाहिये ।

“और २ मुक्ति होने पर सब संसार का उच्छेद होजायगा” यह भी मुक्ति-
नित्यत्ववादी के प्रति दयानन्दसमुद्भवितदोष है । परन्तु यदि संसार
का उच्छेद होजाय तो दयानन्द की क्षति क्या है ? “सर्वांगि लोकोग्म्यद-
येन युज्येत का नो हानिः” । हमें इस विषय में इष्टापत्ति है । यदि मुक्ति
से लौट कर मुक्तजीव नहीं आवेंगे तो बहू जीवों की मुक्ति कुछ कौन बतो-
वेगा ? यह एक विलक्षण प्रश्न है और अपने आपको मुक्त होने की घोषणा
का खासा डंग है । इस डंग से साधारण लोगों की आस्था भी बहसकती है
पर यह सब बालव्याप्तोहन है । सत्पथ में मवृत्ति कराने वाले जीवन्मुक्त
हो सकते हैं, विदेहमुक्तों की लौटने की आवश्यकता नहीं । दोनों प्रकार
के मुक्त, वस्तुतः नित्य मुक्त ही हैं । “कुल ऐमे कर्म बधे रहते हैं जिन
से मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है, इस कथन में कोई श्रुत्यादि प्रमाण नहीं

पदिशतिश्रुतिः "यथापुष्करपलाश आपोनश्लिष्यन्त एवमेव विदिपापं कर्म-
श्लिष्यते" (ब्रा० ४ । १४ । ३) एवं पूर्वोपचितसंभुरितस्य विनाशस्यपि व्य-
पदिशति । 'तद्यथेधीकातूलमग्नी प्रीतं प्रदूयेत' वं हास्यसर्वपापमानः प्रदूयन्ते"।
(ब्रा० ५ । २४ । ३) इति । अत्रबन्धहेतोर्दुरितस्य स्वभावविकस्याश्लेषविना-
शीज्ञाननिमित्तौ शास्त्रव्यपदेशान्निरूपितौ तत्तथैव । परधर्मस्य पुनः शास्त्रीय-
त्वाच्छास्त्रीयेण ज्ञानेनाविरोध इति तस्याश्लेषविनाशी न सम्भवत्तस्तद्व्या-
चवावृत्तिरेव भुक्तात्मन इत्योश्लेष्य तन्निराकरथाय पूर्वव्यायातिदेशः क्रियते
"इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पातेतु" इति । इतरस्यापि पुत्रव्यस्य कर्मण एवमद्य-
वदसंश्लेषो विनाशश्च ज्ञानवतो भवतः । तस्यापि स्वफलहेतुत्वेन ज्ञानफलप्र-
तिबन्धकत्वमसङ्गात् । "चमेव ही वैष एतेतरसि" (ब्र० ४ । ४ । २२) इत्यादि-
श्रुतिषु च दृष्टकृतवत्पुत्रकृतस्यापि प्रथाशक्यपदेशात् । इति सर्वत्र तच्छास्त्रभाष्य-
विस्तरतो निरूपितम् । अधिकेषु भिस्तदेवालोडनीयम् । तस्मात्सिद्धं न
ज्ञानिनः कर्मावशिष्यते किञ्चिदिति । अतएव त्वदुक्तेरपास्तत्वाः कारण-
भावान्न पुनरावृत्तिमुक्तात्मनः । अतएव च "नचपुनरावृत्ते नचपुनरा-
वृत्तते" अनावृत्तिः शब्दादानावृत्तिः शब्दात् (ब्रह्म० ४ । ४ । २२) "तत्र
हे । और इसके विपरीत हजारों मनाख हैं, जिन में से कुछ मूल ग्रन्थ में
देखलेने चाहिये ।

इसी लिये सर्वादि व्यास ने अपने ब्रह्मसूत्रों में ४ थे अध्याय के पहले
पाद में "तदधिगम०" यह १३ वां सूत्र लिखा है । इस सूत्र का यह अर्थ
है कि:—

"ब्रह्म प्राप्ति होने पर पहले पिछले दोनों प्रकार के पाप वा कर्मों का
सम्बन्ध नहीं रहता । अगले का सम्बन्ध होता नहीं और पहले का नाश
हो जाता है क्यों कि "यथापुष्कर०" इत्यादि श्रुतियों में ऐसा ही वर्णित
है । इसी प्रकार शास्त्र में मूलोक्त प्रकार से धर्म का सम्बन्ध भी नहीं रहता
यह प्रतिपादित है । यह सब शास्त्र भाष्य में विस्तार के साथ लिखा हुआ
है । अधिक जानने वालों को शास्त्र भाष्य ही द्रष्टव्य है । इस से सिद्ध है
कि ज्ञानी को कोई भी कर्म अवशिष्ट नहीं रहते । पूर्वोक्त प्रकार से स्वामी
जीकी सब युक्तियाँ खण्डित हो चुकीं । इस से सिद्ध है कि नुकसातना की
पुनरावृत्ति में कोई कारण नहीं । मुक्ति के नित्य होने में मूलोक्ति

प्राप्तविवेकस्यानाधृतिश्रुतिः" (सांख्य० १ । २३) । "वीतरागजन्मा-
दशनात्"-(न्याय० ३ । १ ।)-। "अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति विभवय वच-
नीयमेतत् । प्रत्युदितख्यातिः क्षीयत्युप्याः कुण्डलो न जनिष्यते इतरस्तु जनि-
ष्यते" (योग० ४ । ३३) इत्यादयः शास्त्रवादा अपि समर्थिता भवन्ति । तथा
च मोक्षस्य नित्यत्वमेष सर्वशास्त्रसिद्धम् । तदेवमसारतरतर्कसंहृद्यत्वा-
न्नित्यमुक्तिप्रतिपादकश्रुतिविरुद्धत्वात् श्रुतिप्रवृत्तिश्च शिष्टैः कैरप्य-
परिश्रुतीतरत्वात् स्वोक्तविरोधिरवाच्यत्वात्तन्तनपे ह्याऽस्मिन्ननित्यमोक्षवादे
कार्या श्रीयोगिभिरिति दिक् ॥

इति संक्षेपतो-मुक्तिविषयः ।

अथ 'नीविमानादिविद्याविषयः' संक्षेपतो निरूपितः। तत्र च वेदेषु नौ-
विमानादीनां तथान्येषामपि विविधयन्त्राणां रचनादिप्रकारो यथायथं समुप-
लभ्यत इत्येव सविश्रम्भमुपन्यस्तम् । तत्र नास्माकमपि कश्चिद्विवादः सर्व-
विद्यास्थानभूतेषु सर्वज्ञकल्पेषु वेदेषु तदपि सम्भवत्येव । परं तत्र तत्र
श्रुतिव्याख्यान-रखलितमेव दयानन्देन । तत्सर्वं विद्वद्धिः स्वयमेव विवेच-

त्ररूपसूत्र, सांख्यसूत्र, न्यायसूत्र, और योगसूत्रों का व्यास भाष्य भी प्रमाण
है। इस से मोक्ष का नित्यत्व सर्वशास्त्रसंमत है। मुक्ति के अनित्यत्व
वाद में आस्तिकों को सर्वथा अक्षुब्ध करनी चाहिये। क्यों कि यह वाद
(१) निःसारतर्कयुक्त है (२) श्रुतिविरुद्ध है। (३) वेदज्ञशिष्टों से अप-
रिणहीत है (४) स्वामी दयानन्द की उक्तियों से परस्पर भी विरुद्ध है।

इति संक्षेपतो-मुक्तिविषयः ।

अथ नौविमानादिविद्याविषयः ।

इसके अनन्तर नौका विमानादि विद्याओं का संक्षेप से निरूपण किया
है। दो वेदों में विमानादि तथा अनेक प्रकारके यन्त्रों का रचनादिप्रकार
निलता है—यही बात विश्वास पूर्वक लिखी गई है। इस विषय में हमारा
कोई विवाद नहीं। सब विद्याओं के स्थान, सर्वज्ञ तुल्य वेदों में यह सब कुछ
होसकता है, परन्तु इस विषय में भी वहाँ २ श्रुति व्याख्यान करते समय
स्वामीजी गड़बड़ा गये हैं। विद्वान् लोगों को वह सब देखना चाहिये। खो-
जते २ स्वामीजी को तार विद्या भी निलगई है। तार विद्या निकालने का
साहस इस लिये हुआ कि 'तार' शब्द एक मन्त्र में आगया। पर यह तार

नीयम् । एवमन्वेषमाशौन मुषिहना व देवतारविद्याऽपिसमुपलब्धौ । ताह-
साहसंच वेदेतारशब्दमवलोक्यैवकृतवानिति प्रतीयते । परमयंतारशब्दः कि-
देशीय इति नविचारितम् । पदैकदेशस्यास्यार्थोऽपिकश्चिद् भवितुमर्हति नवे-
ति नचिन्तितम् । यस्मिन्मन्त्रे तत्पदं तमेव विद्वांसः समवलोकयन्तु, कथमय-
नर्थस्तस्य सम्भवतीति । मन्त्रस्त्वयम् :- 'युवंपदवेपुरुवारमश्विना रपुषाश्वेतं
तरुतारं हुवस्यथः । शयैरभिष्टुं पृतनामुदुष्टरं चक्रु र्दनिन्द्रनिव चर्षणीसहस्रं
५० अष्ट १ अ० ८ व० २१ न० १०

अत्रहि 'तृ प्लवनसं तरणयोः' इत्यस्मात् तृच् प्रत्यये 'प्रसितस्कभितेत्यादौ
निपातनात् तरुतृ शब्दरथ द्वितीयैकवचने ताहशरूपसिद्धिः । ततोऽश्वमेकनादा-
दैव तारविद्यायाः प्रादुर्भावः । सचोयुक्तः सर्वथापि पदैकदेशस्य क्वापि सार्थ-
व्यानभिधानादाभिधानिकैः । विद्वांस एवसत्थासत्ये निर्धारयन्तु इति । इतः
परं सप्तभिः प्रकार्यैः यथाक्रमं वैद्यकशास्त्रपुनर्जन्मविवाहनियोग राज-
प्रजाधर्मवर्णाश्रमधर्मपञ्चमहायज्ञानां च निरूपणं स्वाभिसत्तमकारि । तत्रा-
स्माकं नियोगं विविच्य न क्वापि विवादः । परं तत्र तत्र व्याकरणादिशास्त्र-
समुपेक्षणं, शब्दविरुद्धार्थप्रतिपादनं पुरातनसंविधिप्रतिपादितानामर्थानां च

शब्द किस देश का है इस बात का विचार नहीं किया । पदके एक देश भूत
तार' का अर्थ भी कुछ होने योग्य है या नहीं यह भी नहीं सोचा । जिस मन्त्र
में तार' पद है उसी की विद्वान् लोग देखें और विचारें कि यह अर्थ होसकता
है या नहीं । मन्त्र यह है 'युवं पदवे' इत्यादि । इस मन्त्रमें 'तृ प्लवनसं-
तरणयोः' इस घातुसे तृच् प्रत्यय करने पर निपातनसे द्वितीयकी एक वचन
में 'तरुतारम्' ऐसे रूप की सिद्धि होती है तरुतारम्' पदमेंमे एक अशतारशब्द
कोलेकर तार विद्या निकल पड़ी । पद का एक देश कहीं सार्थक नहीं होता
इस लिये ऐसी व्याख्या अयुक्त है व्याकरणादि के जानने वाले फूठ सत्य
का निर्णय करें ॥

इसके बाद स्वामी जी ने क्रमसे सात प्रकरणों से (१) वैद्यकशास्त्र
(२) पुनर्जन्म (३) विवाह (४) नियोग (५) राजप्रजाधर्म (६) वर्णा-
श्रमधर्म (७) पञ्चमहायज्ञ, इन विषयों का निरूपण करने मत्तानुसार किया
है । हमें नियोग को छोड़कर कहीं विवाद नहीं करना है । परन्तु उक्त
विषयों में भी उच्छुंखल बर्ताव करने में स्वामी जी न चूकें । पुराने ऋषियों

परित्याग इत्येते दीपाः स्वयमेव सूक्ष्मेक्षिकया निभालयद्भिश्चिद्भिर्भिरवश्यं
 विवेचनीयाः । नियोगस्तद्वेदिक एव प्रमाणाभावादिति नो मतम् । गनु
 यद्गुणप्रमाणान्युपस्थापितानि वेदादीनां, ऋगादिषु च बहुत्रायमर्थः प्रतिपा-
 दितो विस्तरेण । तथाच ऋग्वेदे- "उदीर्घ्वं नार्यभिशीवलोकं" इत्यादिः । (५०
 १० सू० १८ मन्त्र ८) । अस्यापमथः- (उदीर्घ्वना०) हेविषवे ! नारि ! (प०)
 (गतासु) गतप्राणं गृतं विवाहितं पतिं ह्या (अभिशीवलोकं) जीवन्तं
 देवरं द्वितीयवरं पतिं (एहि) प्राप्नुहि (उपशेष) तस्यैवोपशेषे संतानो-
 त्पादानाय वर्त्तस्व तत्सन्तानं (हस्तयाभस्य) विवाहेसंगृहीतइस्तस्यपत्युः स्यात्
 यदि नियुक्तपत्ययौ नियोगः कृतस्तर्हि (दिधियोः) तस्यैव सन्तानं भवेत्
 (तवेदं) इदमेव विधवायास्तव (जगित्स्व) संतानं भवति ! हे विषवे !
 विगतविवाहितस्त्री कस्य पत्युश्चैतन्नियोगकरणाथैत्वं (उदीर्घ्वं) विवाहित-
 पतिमरणानन्तरमिदं नियोगमिच्छ तथा (अभिसंभूष्य) सन्तानोत्पत्तिकृत्वा
 सुखसंयुक्ता भव" इति । एवं संसु वीदिकेषु प्रमाणेषु प्रमाणाभावात्कथनं
 साहसमात्रमिति चेत् ? अत्रोच्यते:- तापं मन्त्रार्थः कथमपि साधोयानुसंभवति ।

के किये अर्थ को छोड़कर नहीं लिखी पकाई है । व्याकरणादि के विरुद्ध मन
 माना अर्थ किया है इस बात को सूक्ष्मदर्शी विद्वान्स्वयं जान लेंगे ॥ अस्तु
 नियोग का प्रतिपादनतो सर्वथा अवेदिक ही है क्योंकि वस्तुतः इसमें कोई
 वेदमन्त्र प्रमाण नहीं । यद्यपि स्वामी जी ने बहुत से स्थानों पर इस विषय का विस्तार से
 दिये हैं, ऋग्वेदादि में से बहुत स्थानों पर इस विषय का विस्तार से
 प्रतिपादन सन्तानों ने किया है परन्तु यह उनका साहसमात्र है आपने ऋग्वेद
 का 'उदीर्घ्वं नारि०' यह मन्त्र प्रमाण में पेश किया है और इसका अर्थ
 किया है कि :-

"हे विषवे ! तू भरे हुए पति को छोड़ कर दूसरे पति को प्राप्त हो ।
 और संतानोत्पत्ति के लिये जतोंब कर । द्वितीय पतिसे उत्पन्न सन्तान पूर्व
 पति का ही अथवा नियुक्त पति का हो और यही तेरा विधवाका सन्तान
 हो हे विषवे ! तू पति के मरने के बाद नियोग की इच्छा कर । और
 सन्तान पैदा करके सुखी हो" ॥

यह मन्त्रार्थ नहीं, किन्तु धींगर धींगी है । यह मन्त्र का अर्थ कभी ही
 नहीं सकता । यह भी तो नहीं बताया कि इस मन्त्र का किस में विनियोग

नचैतत्प्रतिपादितमस्यकस्मिन्कर्मणि विनियोग इति। किञ्च "एतं" "गतासु" इति पदद्वयप्रतीकारत्वेन सन्निधाप्य 'गतप्रमाणमृतविवाहितपतित्यक्ता' इत्ययं-सर्वेषामपि निरर्गलोऽर्थः कुतः आनायिद्यानन्देनेति न ज्ञायते। इत्थं न केवलं मन्त्रैवापितु सर्वेषामपि पदानामियमेव दयनीयादशाद्यानन्दपक्षने। तत्तदर्थप्रतिपादानाद्यज्ञानिबलादिव नियुज्यन्ते शक्यते। वेऽपीत्यहोऽप्रतिमप्रभावो मुषिडनः अपि च 'दिधिषी' रित्यस्य 'तस्यैव सन्तानं भवेद्दि' त्यर्थनिरूपयन् पुं सोऽपि सन्तानस्य क्लैव्यमापादयतीति प्रत्यक्षमेव फलं नियोगस्य विदुषां नातिविस्मयकारसु उदीर्ष्वेति क्रियापदस्येच्छार्थकरणं ननः कल्पितत्वात्प्राच्यमेव। वस्तुतस्तव्ययमेवार्थो निरुक्तस्य मन्त्रस्य सम्भवति। तथाहि— इयं हि ऋक् पितृभ्यामिधायिनी-त्यतस्तद्वैवताका एव। पूर्वैस्त्वष्टदेवत्यैकया ऋचासुतस्य पुत्रपौत्रादीनाशीभि-रभ्यर्च्य एतत्प्रकरणमारभते तत्रैव प्रथमा— "इमानारीरविधवाः सुपत्नीराज्जनेन सर्पिषासंविशन्तु। अनश्रवोऽनमीवाः सुरतनाश्रारो हन्तु जनयो योनिमथे" इति। अस्यायमर्थः— अविधवाः जीवद्भृतृकाः सुपत्नीः शोभनपतिकाः इ-नानारी नार्यः अजनेन सर्वतोऽजनेन सर्पिषाघृतेन अरुनेत्राः सत्यः सं-विशन्तु स्वग्रहान् प्रविशन्तु। तथा अनश्रवः अश्रुवर्जिताः असद्वत्य इत्यर्थः अनमीवारागरहिता मानसदुःखवर्जिता इत्यर्थः सुरतना शोभनघनसहिताः

है? 'एतं' और 'गतासु' इन दो पदों की लेकर 'मरे विवाहित पति को छोड़ कर' इतना अर्थ कैसे निकल पड़ा, यह बात दयानन्दियों से ही पूछना चाहिये। यहाँ नहीं किन्तु सर्वत्र पदों की यह ही दयनीय दशा दयानन्द के नगरमें है। उस र अर्थ को प्रतिपादन करनेके लिये शक्ति न रहने पर भी वे र पद जबर दस्ती लगाये जाते हैं। यह स्वामीजी का ही अनुपम प्रभाव है। 'सन्तान' इस पुस्तिक शब्द को नपुंसक बनाना—स्वामीजी का उद-हासास्पद है। 'उदीर्ष्वे' इस क्रिया पद का "इच्छा" अर्थ करना ननःकल्पित होने से प्राच्य है। वस्तुतः इस मन्त्र का जो अर्थ हो सकता है वह यह है:-

यह ऋचा "पितृमेध" की बताने वाली है इस लिये इसका देवता पितृ-मेध ही है, इससे पहले त्वष्ट देवताक एक ऋचा से मरे हुए के पुत्र पौत्रा-दिकों की आशीर्वाद देकर यह प्रकरण प्रारम्भ होता है।

वहाँ पहली ऋचा "इमानारी०" यह है।

जनयः जनयत्यपत्यमिति जनयो भार्याःताम्रये सर्वेपरंप्रथमेतएव योनिशुहं-
 आरौहन्तु आगच्छन्तु" इति । अयम्भावः-प्रथमं प्रेतस्य पुत्रपौत्रादिश्य आ-
 श्रियो द्वितीये जीवद्भर्तृका अरुदरयोभार्या एव तस्योपान्तेवासिन्यप्रागच्छ-
 न्तु । ततः प्रेतसमीपे शयितां प्रेतपत्नीं देवरादिकः कश्चित् उदीर्ष्व नारीत्यग-
 याञ्छवा भर्तृसकाशादुत्थापयेत् । सूत्रितं च- तामुत्थापयेद्देवरः पतिस्थानीयो-
 ऽन्तेवासी वारुदासो वोदीर्ष्व नार्यं भिगीवलोकमिति । सूत्रनिर्दिष्टितत्रयसं-
 रभवे एभिरेवोत्थापनम् । तदसम्भवेतूपलक्षणमिदं तत्सम्यग्निघनो वृद्धस्य
 वृद्धायावा । तथाधामर्थः— हेनारिः! मृतस्यपत्नि । जीवलोकंजीवानां पुत्रपौ-
 त्रादीनां लोकं स्थानं गृहमभिलक्ष्य उदीर्ष्व अस्मात्स्थानादुत्तिष्ठ । ईरगती आ-
 दादिकः । गतास्तु अपक्रान्तप्राणं एतं पतिं उपशेषेतस्य समीपस्वपिपितस्मा-
 त् त्वं एहिभागच्छ । यस्मात् त्वं हस्तश्राभस्य पाणिग्राहं कुर्वतो दिधियोः
 गभं स्यनिघातु स्तवांस्यपद्युः संवन्धादागतं वृद्धं जन्तित्वं जायात्वकभिलक्ष्य
 संवभूय संभूतासि अनुसरणान्प्रचयनकार्याः तस्मादागच्छ । इति । अत्र
 मन्त्रे नियोगस्य लेशोऽपि नास्ति । एवं विधाऽपत्तिकालेषु देवरस्यभ्रातृजार्या-
 प्रतितथाकथनं गृहार्थं तामेव दद्यान्नन्दननीगतस्य विशदयति । अन्यथातदाक-
 एव कुलीनो वक्तुं शक्नुयात् । अहोवेदेष्वपि सर्वतोऽनवद्यविधापरिशुहीतेषु

इस ऋचा का अर्थ यह है कि:—जिनके पति जीवित हैं ऐसी घृत के
 अञ्जन की लगाने वाली स्त्रियाँ अपने २ घरों में चुर्चें । और वे स्त्रियाँ जो
 नरोर्वे, रोग रहित हों, धनसम्पन्न हों, सन्तान पैदा करने वाली हों, पहले
 घरों में आवेँ तात्पर्य यह है कि पूर्व मृतके पुत्रपौत्रादिकों को आशीर्वाद
 देकर उरुगुण सम्पन्न स्त्रियाँ उस मृत पुरुष के पास आवें । फिर प्रेतके
 समीप सोने वाली उस प्रेत की पत्नी को कोई देवरादि उठावे अर्थात्
 "उदीर्ष्व नारी" इस ऋचा से पति के पास से उठावे । ऐसा ही सूत्रकारों
 ने लिखा है—जो मूल में स्पष्ट है । सूत्र में लिखा है कि पतिस्थानीय-देवर
 या शिष्य या कोई वृद्ध सेवक इन तीनोंमें से कोई उसे उठावे अथवा कोई
 उसका सम्बन्धी वृद्ध या वृद्धा उठावे । मन्त्रार्थ यह है:-

हे नारि ! मृत पुरुष की पत्नि । अपने पुत्रपौत्रादि के घर की जा । तू
 इस करे हुए पति के पास सीती है और अपने पतिके अनुसरण करनेका नि-
 श्चय कर चुकी है इस लिये तू आ' अथ सोचिये-ऐसे आपत्ति के समय देवर

सर्वज्ञरूपेण पुरुषेष्वपि तादृशं कल्पितं शिष्टैरपरिग्रहीतं प्रतिपाद्यन्तो न
 त्रयन्ते ब्रह्मिणः । चित्रमेतद् व्यासो हविलसितम् । स्वैरभिहरति योगिनामपि
 हृदयविप्रते ! किञ्चिद्वा सरलोग्ग्यर्थो ब्रह्मतामनर्थतां च कथं नीतस्तद्बलादेव ।
 एव सर्वं त्रयानन्दनिर्दिष्टमन्त्रेषु विचारणीयं सुधीभिः । विस्तरमियात्वं-
 स्माभिरन्नोल्लिख्यते अधिकं किञ्चिदिति । अन्यच्च—तत्रप्रभाशत्वेन समुपस्था-
 पितानामितिहासानां तस्मिन्नर्थे प्रोभास्यसाशङ्कास्पदमेव न हि वेदप्रतिपादि-
 तार्थं विरुद्धमाचरन् कथंचिद्वेदज्ञोऽपि सकलशास्त्रनिष्णातोऽपि वैदिकत्वेन
 प्रमाणास्पदं नेतुं शक्यते । अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । अधिकेण्डुभिस्तु यथायथमव-
 लोकीयास्तेते श्रौताः स्मार्त्ताश्च वादा इत्यलं पल्लवितेन ।

इति सर्वोपेतः वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशादिः पञ्चमहायज्ञान्तो विषयः ।
 अथेदानीं ग्रन्थाप्रामाण्याप्रामाण्यविषयो यथायथं निरूप्यते । तत्रादावेव "प-
 क्षपातरहितं रागद्वेषशून्यैः सत्यधर्मप्रियारचणैः" रिति प्रतिपादितम् । अत्र
 सत्यधर्मप्रियारचणै रिति वाक्येन किमभिप्रेतं दयानन्दस्येति नाशङ्क्यम् ।
 अथतेन वित्त इति पाणिन्यभिधानविहितवणि तादृशरूपसिद्धावपि न तत्पूर्-
 व्वावयवस्य कश्चिदर्थः संगच्छते । ननु कदाचित् प्रियाचरणं रित्येवरूपं स्यात्,

का भीजाई से विसा कणन (जैसा कि स्वामी जी मानते हैं) स्वामीजी के
 मनकी कालिमा को साफ कर रहा है । भला, सब समय कोई कुलीन पुरुष
 विसा वैसे कह सकेगा ?

हाय ! वेद मन्त्रों में भी अनर्थ करते हुए अज्ञानियों को लाज नहीं
 आती । यह मोह का विलास है जो निःशङ्क योगियों के हृदय में भी विहार
 करता है । अधिक क्या लिखा जाय । सोहसे ही सीधे मन्त्रके अर्थ को टेढा
 बना दिया । स्वामी के अन्य मन्त्रार्थों में भी यही दशा है जिसे स्वयं विद्वा-
 न् लोग विचारे हंस यहाँ ग्रन्थ ग्रहाना नहीं चाहते । इस नियोगके विषय में
 जो २ इतिहासादि प्रमाण हैं उनका प्रामाण्य शङ्कित है—अर्थार्थ है । वेदा-
 र्थ विरोधी—चाहे जैसा बुद्धिमान् हो, वह वैदिक नहीं कहला सकता इत्यलम् ।

इति सर्वोपेतः वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशादिः पञ्चमहायज्ञान्तो विषयः ॥
 अब कौन ग्रन्थ प्रमाण हैं और कौन ग्रन्थ अप्रमाण हैं—इस विषय का
 निरूपण किया जाता है—

इस विषय में लिखते हुए स्वामी जी ने एक वाक्य रखा है "सत्य-

अज्ञानवशाच्च विपरीतएवपाठः संपन्नो भवेत्, तपास्तु, सम्भवति द्विदयानन्द-
नतिवत्पाठस्यापि विषयः । तथापि नार्थव्यंगतिः काचिद्वाक्यस्य प्रतीयते ।
कथंचित्तत्त्वधर्माय प्रियाचरणं येषामिति सूनास्तेऽपि दोषदत्तव्य एव ।
नहि धर्मस्य कस्यचित्तत्त्वत्वाभाववत्त्वश्रुतं क्वचित्केनचिद्द्विदूपा । अतस्तद्विशे-
षणं निष्प्रयोजनम् । विशेषणताभावे तस्यापि धर्मोन्तर्गतत्वात्पृथक्पाठो-
ऽशोभनः । एवं च “यद्देशतोक्ताग्रन्थास्ते स्वतः प्रमाणं कर्तुं योग्याः सन्ति” अत्र
रेखाङ्कितपदजातरचना रहसिनिभूतं विचारितापि न बुद्धिपथनारोहति ।
वस्तुतस्तु “ग्रन्थास्ते स्वतः प्रमाणम्” इत्येतावत्तत्रोक्तार्थस्य गतत्वम् । अ-
धिकस्य च त्रैपर्यम् । निरुक्तपदोपन्यासप्रकारश्चापि नवपाकृतितन्त्ररीति न वा-
र्थतीतिमपेक्षते । सर्वत्रचिपमेव व्यवस्था । अत्राहियपक्ष एव निष्प्रयोज्यं द-
यानन्दग्रन्थः । श्रेयोर्धर्मभिरितिकृतमनल्पजल्पनेन अथ ये स्वतः प्रमाणभूता
मन्त्रभागस्य हिनाख्यारश्चत्वारो वेदा, इति गदुक्तम् । अत्रापि मन्त्र भागस्य हितेयत्र
भागपदोपन्यासस्य किंप्रयोजनम् ? वस्तुतस्तु अस्ति कश्चिद्दयानन्दस्याप्यभि-
मतो मन्त्रातिरिक्तो वेदभागः, यद्बुद्धो धर्मियु रत्र भागपदोपपाठः । प्रपञ्चित-
प्रायज्ञे तद् वेदसंज्ञाविचारप्रकरणेऽस्माभिरिति । किंच वेदाद्येव गारुडाना
इत्यत्र तस्मान्नार्थवाचकयोरेव गारुडानपदयोरेव न्यतरस्योपन्यासो व्यर्थ एवा-

धर्मप्रियारचणैः” यह रचणैः, क्या बना है ? मालूम होता है यह प्रसक्त
भूतों की कृपा है । यह भी हीसकता है कि जैसे स्वामी जी की बुद्धि चलती
थी वैसे पाठ भी चलता होगा ही “सत्यधर्म प्रियाचरणैः” ऐसा पाठ भी
मान लिया जाय तो भी क्या अर्थ होगा ? क्या कोई धर्म असत्य भी होता
है जिससे धर्म का सत्य विशेषण सार्थक समझा जाय । वस्तुतः यह
विशेषण निष्प्रयोजन है अर्थात् यदि विशेषण मान लिया जाय तो सत्य
भी धर्मोन्तर्गत है इसलिये यह व्यर्थ ही पाठ है । एक और सजेदार वाक्य
देखिये:—“स्वतः प्रमाणं कर्तुं योग्याः सन्ति” क्या बुद्धियां वैयाकरणों की संस्कृत
है ? हमने खूब विचार किया कि इस का अर्थ समन्वित क्या समझें ? कुछ
नहीं समझ में आया । असलमें इतना ही लिखना चाहिये था:—“ग्रन्थास्ते स्वतः
प्रमाणम्” इसी से राय नवलक—हल होजाता अधिक लिखना व्यर्थ या
वाक्यों का खेल है इस प्रकार पदों की रचना न व्याकरण की और न
अर्थरीति की अपेक्षा करनी है इसलिये ऐसे ग्रन्थ का विद्वानों की परिदृश्यां

भाति । एकेनैवगतार्थत्वात् । तथाच 'वेदानुकूलतयैव प्रमाणासहन्ती, त्य-
गापि प्रमाणासहन्तीत्युक्तम्, प्रमाणासहन्तीति युक्तं भाति । सुश्रुत इति
श्रयोक्तव्ये शुश्रुत इति प्रयोगो मुद्राप्रमाद' वा बोधयति मुपि चिन्तो वेति । किञ्च
'सर्वपदार्थानां श्रवणमननेनानुमानिकं ज्ञानतया निश्चयो भवती, तस्य नियः
कथं पदसम्बन्धः इति न ज्ञायते । नचानुमानिकं ज्ञानं श्रवणं तद्व्यवसि-
त्तुम् । नापि सर्वपदार्थानां ज्ञानतया निश्चयो भवितुं शक्यः । तत्त्वेभ्यस्तत्त्वपङ्कात्
तत्किमिदमुपन्यस्तं दयानन्देनेति स एव चिन्तानोत, तदनुयायिवर्गाः सामा-
जिकगर्भोदा । एवं "एतानां पठनाद्यथार्थं विदितत्वान्मानसवाच्यज्ञान-
क्रियाकाण्डसाक्षात्कारणाच्च महाविद्वान् भवतीति निश्चितव्यम्" इत्यत्र आ-
रभ्य "ते सर्वे वेदादिशास्त्रविद्वद्वाप्युक्तिप्रमाणापरीक्षाहीनाः सन्त्यतः शि-
ष्टैरगाह्या भवन्तीति यावद् यदुक्तं तत्सर्वं" विजयापभावेणैवेति मन्या-
सहो । अन्यथा कश्च तर्कसंग्रहादिचिन्तामयवधिकगन्धानां परमप्रसिद्धानां
विद्वन्मान्यानां न्यायाभासत्वं न्यायवैशेषिकतत्रविरुद्धत्वं च प्रति-
पादयेत् । एवं सांख्यतत्त्वसौमुद्याश्च सांख्यशास्त्रविरुद्धत्वम् । वेदान्तसार-
पञ्चदशीप्रभृतिगन्धानां वेदान्तशास्त्रविरोधित्वञ्च । किञ्चहुना जैतेषां

करना ही प्रयुक्ति है । आगे लिखा है "मन्त्रभागसंहिताख्याः" इस पद
में 'भाग, पद रखने का क्या प्रयोजन है ? ऐसामालूम होता है कि दयानन्द
जी को भी मन्त्रातिरिक्त कोई वेद भाग संमत है, जिसको बताने की
इच्छा से भाग पद की पढा है इस बात को हमने विस्तार के साथ वेद
संज्ञा विचारप्रकरण में लिखा है । "वेदार्थ व्याख्यान" इस पद में समानार्थ
वाचक अर्थ, और व्याख्यान, दोनों शब्द प्रविष्ट नहीं करने चाहिये एक
शब्द से ही काम चलसकता है । 'प्रमाणासहन्ति, यहाँ पर 'प्रमाणासहन्ति'
लिखना चाहिये था 'सुश्रुत, शब्द के स्थान में शुश्रुत शब्द का प्रयोग करना
में सब का प्रमाद है कि दयानन्द का " सर्वपदार्थानां श्रवणमननेनानु-
मानिकं ज्ञानतया" इस वाक्य में परस्पर कैसे पद सम्बन्ध होगा । सो
समझ में नहीं आता । सुनने मात्र से ज्ञान मानिक ज्ञान कैसे होसकेगा
और न सबपदार्थों का ज्ञानत्वेन निश्चय हो सकता है । यदि ऐसा हो ती
वह भ्रान्ति है । स्वामी यह क्या चला लज्जालू ल कह रहे हैं इस बात का
पता स्वामी दयानन्द या उनके अनुयायी सामाजिक वर्गों ही लगासकता है

सन्दर्भायां तत्तद्वाक्यविरोधि च' दयानन्दमहर्षे'रपि प्रतिपादयितुं शक्यम्
 अस्तुतस्तु यान् गूयागधीत्य यथायथं व' यज्ञाय' लगते पुरुषस्तानेषु गूया-
 नदी निषेधयासासेति बहुकृतमेतत् । अत एव लोकप्रचारकस्यास्य मुनिद्वन्द्वो
 वैदुष्यं लौकांतिकमिति विद्वद्भिन्ननुभूयते । अथ "एवमेव ब्रह्मवैवर्तादियु
 निषयापुराणसंज्ञासु किंच नदीनेषु निषयाभूतावहण्यः कथा लिखितारंतासा
 स्थालीपुलोकाभ्यायेन स्वस्वपाः प्रदूषयन्ते । तत्रैवगया कथा लिखिता प्रजापति-
 ब्रह्मा च 'मुखो देहधारी स्वां सरस्वतीं बुद्धितरं भेषुनायज्ञगार्हेति । उभि-
 श्यैवास्ति कुतः । अस्याः कथाया अलङ्काराभिप्रायत्वात्, इति । ननु पुराण-
 प्रतिपादितां ता कथा यद्यलङ्काराभिप्राया एव सचेत्तदा दयानन्दस्य किमुत्त-
 रम् । कीवा तन्निषयात्वे हेतुः । तस्या अपि अलङ्काराभिप्रायत्वात्, किंच
 पुराणोपन्यस्ता या स्ताष्ट्रगणयाया भिषयात्वं' प्रतिज्ञाय 'प्रजापतिर्वैस्वा-
 मित्याद्यै तरेयद्राह्मणगतकथोपन्यासोऽयुक्तः । पुराणगता एव कथा तच्छ-
 वदे रेवोद्भूत्यालङ्काराभिप्रायत्वेन प्रदर्शनीया । तदेव भवसंस्कृतमुपक्रमोप-
 संहारादिकं संगतमित्थं स्यात् । इदानीं मेयाश्चि कथा दयानन्देनानर्थतां
 नीता सनालीचरते तथाहि-"तद्यथा-प्रजापतिर्वै स्वोद्बुद्धितान्भयधयायदि-
 वनित्यन्य आहु रूपसमित्थन्ये ताद्यश्या भूत्वा रोहितं भूता सभ्यैत् । तस्य

आगे "एतार्ता" के लिकर "भवन्ति" तक संस्कृत पद जाइये आं व की भंग
 भवानी की करतूत साफ दिखाई देगी । यदि सगवती भंग भवानी की
 कृपा न होती तो कौन ऐसा समझदार है जो तर्कसंग्रहादि-चिन्तानवयवधि-
 क, परम प्रसिद्ध विद्वत्मान्य ग्रन्थों को 'न्यायासाक्ष' कह कर उठाने का साहस
 करे । और न्याय वैशेषिकादि के विद्वद्बु ब्रतात्रे । अरे महाराज ! इन
 ग्रन्थों को तो वैदिक धर्मके विरोधी जैन आदि भी आदरकी दृष्टि से देखते
 ही नहीं पढ़ते भी हैं । ऐसे ही 'साल्पयनत्रं कीमुदी' को सांख्यशास्त्र के
 विरुद्ध और वेदान्तसार, समुदशी आदि वेदान्त ग्रन्थों को, वेदान्तशास्त्र के
 विरुद्ध बता दिया है । इस दृष्ट का कुछ ठिकाना है । परन्तु याद रहे एक
 दयानन्द नहीं यदि हमारा दयानन्द जिन कर भावें तो भी उन ग्रन्थों की
 मानाधिकता नष्ट नहीं हो सकती । दरअसल बात यह है कि जिन २
 ग्रन्थों को प्रद कर पुनश्च ध्युत्पन्न होश है उनमें सब ग्रन्थोंको आपने मने कि-
 या है यह लोक बिलक्षण विद्वत्ता स्वामी दयानन्द में ही पाई जाती है ।

यद्देवता प्रथममुद्दीम्यत तदसावादित्यो भवत् । ऐ० प० ३ कश्चिद० १३ ।
 ३३५ ॥) सविता सूर्यः सूर्यं लोकः प्रजापतिर्ब्रह्मोऽस्ति तस्य दुहित्वा कन्यावद-
 धीरुपा आसि । यन्माद्यदुत्प्रद्यते तत्तस्यापयवत् स तस्य पितृवदिति रूप-
 कालकारिकाः सच पिता तां रोहितां किञ्चिद्रूपगुणागतां स्वां दुहितरं
 किरणैः अक्षयच्छीघ्रमभ्यध्यायत् प्राप्नोति । एवं प्राप्तः पुकाशाख्यनादित्यं
 पुत्रमलीकनदुत्पादयति । अस्य पुत्रस्य जातृवदुषा पितृवत्सूर्यश्च । कुतः । त-
 स्यामुपसि दुहितरि किरणरूपेण धीर्येण सूर्योदिवश्येण पुत्रस्योत्पन्नत्वात् य-
 स्मिन् भूपदेशे मातः पञ्चषष्टिकायां रात्रौ स्थितायां किञ्चित्सूर्यप्रकाशेन रक्तता
 भवति । तस्योमा इति संज्ञा । तपोः पिता दुहित्रीः सन्नागमादुत्कटदीपितः पु-
 काशाख्य आदित्यः पुत्रो जातः । यथा मातापितृभ्यां संज्ञानोत्पत्तिर्भवति तथैवा-
 अपि बोध्यम् । इति । अत्र ब्रह्मसविता तावत्सूर्यो वा सूर्यलोको वा ? सूर्यस्य-
 लोकः सूर्यलोक इति ऋषीसनासेतु सूर्यलोकपदं स्थूल आदित्याख्यं लोकमेव
 बोधयति । सूर्यपदं च तदधिष्ठात्रीं लोकोत्तरं चेतनां काश्चित्द्वैवतामभि-
 दधाति । तथाच ऊत्तरस्यात्र गृहणं युक्तमिति ? सूर्यं एव लोकः सूर्यं लोक इति
 सनासेतु तथाभ्यामपि पदाभ्यां देवता एवोच्येत, एवं पदद्वयोपन्यासो व्यर्थ
 आने "एवमेव" से "प्रायत्वात्" तक संज्ञत पदजाइये । इसका अभिप्राय यह
 है कि पुराणों— ब्रह्मवैवर्तादिकों—की कथा मिथ्या हैं— और उनका तात्पर्य
 आस्तिकारिक वर्णन में है ।

यहां प्रष्टव्य यह है कि यदि पुराणों की कथा अलङ्काराभिप्रायक हैं-
 तो उन के मिथ्या होने में क्या हेतु है नवीनपुराणों की कथाओं को आप
 झूठ बताते हैं तो फिर ऐतरेय ब्राह्मण (जो आपके मत में वास्तविक पुराण
 है) की कथा का उपन्यास क्यों करते हैं पुराणों की कथाओंको ही उद्धृत कर
 के उन में अलङ्कार दिखलाइये तब ही उपक्रमोपसंहार ठीक हो सकेंगे ।
 इस कथा को भी जैसे दधानन्द ने बिगाड़ा है— विचारणीय है । "प्रजापतिर्वै"
 से लेकर "बोध्यम्" तक ऐतरेय ब्राह्मण और स्वामी जी का भाषवाभास
 पढ़ जाइये ।

स्वामी जी के अनुपायियों से पूछना चाहिये कि सविता शब्द का
 अर्थ सूर्य है वा सूर्यलोक ? यदि सूर्य लोक है— और पत्नी, सनास है तो
 स्थूल आदित्य लोक का ही भेद होना और सूर्य पद उस लोक की चेतना—

एव स्यात् । अन्यतरग्रहणकल्पनायामपि तदितरस्योत्सोखोत्वर्थ एव । विशेष-
 वचन' च । उभयग्रहणे स्फुट एव विरोध इति । किञ्च "तस्य-सवितुः दु-
 हिता कन्यावद् धौरुषा चास्ति इति यदुक्तं तदप्रि विचार नर्हति । अप्र हि
 दुहितृ पदस्य कन्यावदित्यर्थो न शोभनो भाति । शक्यार्थसम्भवे लक्ष्यार्थस्या-
 न्याय्यत्वात् । अप्र एव यस्माद्दुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत् सतस्य पितृवदित्यु-
 त्सोखोप्युक्त एव । यस्माद्दुत्पद्यते तत्र तन्निरूपितजन्यत्वमेव, यस्माच्चोत्प-
 द्यते तस्य जनकत्व मिति । 'इति रूपकालङ्कारोक्तिः' इति यद्यपि न संन्यासि-
 जनोचितं यद् रूपकालङ्कारै रलङ्कृतत्वम्, तथाप्यहो । पश्यत रे । पश्यत
 दयानन्दस्यालङ्कारिकत्वम् । पदयुक्तानसम्भाटयानं च वत्कल्पनां विधाय रूप-
 कालङ्कारसाह तथासत्यप्युपमैव सम्भवति न रूपकम् । अप्र हि विषयिण उप-
 सानभूतस्य रूपोपमेयस्य विषयस्य रञ्जनं तदेव रूपकमित्युच्यते । विषयिणो
 अभेदेन ताद्रूप्येणावा विषयस्य रञ्जनमित्यर्थः । एवञ्चाभेदाद्द्रव्यभेदेन द्विविधम-
 पिरूपकप्रत्येक पुनस्त्रिविधम् । प्रसिद्धविषयार्थिकत्ववर्णने नन्यूनत्ववर्णने-
 नानुभवीत्येव च एव' षड्विधरूपकम् । अप्र निदर्शनम् । "अयं हि धूर्जटि
 साक्षाद्भेदेन दग्धाः पुरः क्षणात् इति । अप्र हि येनदग्धा इति विशेषणो न वश
 त्मा अधिष्ठातृ देवता का बोध करावेगा और कर्मधारयसमास साने' तो भी
 कोई देवता विशेष ही प्रतीयमान होगी- तो दो पदों का उपन्यास व्यर्थ
 होगा- यदि उक्त दोनो में से किसी एक का ग्रहण किया जाय तो भी एक
 का उल्लेख व्यर्थ है । दोनों को ग्रहण किया जाय तो तुम्हारे मत में विराध
 भी होगा- क्योंकि अधिष्ठातृ देवता की कल्पना तुम मानते नहीं । 'तस्य
 सवितुः' इत्यादि ग्रन्थ भी विचारणीय है दुहितृपद का 'कन्यावत्' यह
 अर्थ ठीक नहीं है । क्यों कि जहां शक्यार्थ संभावना हो वहां लक्ष्यार्थ गु-
 ण करना अनुचित है । 'यस्माद्दुत्पद्यते' इत्यादि ग्रन्थ भी अयुक्त है ।
 ऐसे स्थल में जन्य जनक भाव कहना तो ठीक हो सकता है पर 'पितृवत्'
 और अपत्यवत्कहना अयुक्त है यहां स्वासीनी ने रूपकालङ्कारवत्ताया है,
 ऐसा मानने से तो 'उपमा लङ्कार होसकता है रूपकालङ्कार नहीं । विषयि
 उपमान के अभेद वा ताद्रूप्यसे जहां विषय-उपमेय का रञ्जन हो वहां रूप-
 कालङ्कार होता है । इस तरह दो प्रकार का रूपक प्रत्येक तीन प्रकार का
 होता है । (१) प्रसिद्ध विषयोंके आधिक्य वर्णन से (२) अथवा न्यूनतां वर्ण-

नीये राज्ञि मसिद्धशिवाभेदानुरञ्जनाच्छिवस्य पूर्वावस्थातो वर्णा नीयराज-
भावावस्थायां न्यूनत्वाधिक्ययोरनुक्तत्वात् अनुभयाभेदरूपकमलङ्कारः । यथावा-
चन्द्रशयोत्सनाविशदपुलिने सैकतेऽस्मिच्छरयथा—

वाद्घृतं चिरतरमभूत्सिद्धयूनीः कथोश्चित् ।

एका वक्ति प्रथमनिहतं कैटभं कंस सन्य-

स्तत्त्वं सत्त्वं कथय भगवन् को हतस्तत्र पूर्वम् ॥

अत्र हि सत्त्वमित्यनेन यः कंसकैटभयोर्हन्ता वासुदेवः तत्तादात्म्यं वर्णा-
नीयस्य कस्यचिद्वाचः प्रतिपाद्य तं प्रति कंसकैटभवधयोः परीर्वापर्यप्रश्नव्या-
जेन तत्तादात्म्यदाढ्यं करणात्पूर्वावस्थात् उत्कर्षापकर्षयोरविभावनाच्छानु-
भयाभेदरूपकमिहापि । उदाहरणान्तराणि तत्र तत्रालङ्कारसन्दर्भेषु सम्प्र-
लृप्तं निरूपितानि । तत्रैव विद्वद्धिरन्वेष्टव्यानि । विस्तरनियामत्रनोपन्य-
स्यन्ते । प्रकृते च तादृशलक्षणासम्भवात्तत्र रूपकालङ्कारः ! अतः सर्वमेतद्-
धानन्दस्याह्वानविलसितं धृष्टताविजम्भणसात्रं वेति । किञ्चैकत्रादि-
त्यस्य पुत्रत्वमङ्गीकृत्य अपरत्र च दिवसस्येति स्फुटोऽपि विरोधोऽज्ञानति-
मिरावृत्तवान्न दृष्टिपथमगाद्धानन्दस्य । आदित्यस्य पुत्रताद्योक्ता पुन-
नसे (३) वा दोषो—न्यूनधिक्य के न कहने से । एवं कः प्रकार का रूपक
माना जाता है । रूपक का उदाहरण यह है ।

“अयं हि धूम्रकटिः साक्षात्” इत्यादि ।

यह राजा साक्षात् शिव है क्यों कि इसने क्षत्र भर में पुर-नगरों (और
त्रिपुरासुर दैत्य) को जला दिया । यहाँ “येन दग्धाः” इस विशेषण से राजा
में शिव का अभेद कथन किया है और न्यूनधिक्यभाव छोड़ दिया है इस
लिथे-अनुभयाभेद रूपकालङ्कार है । अथवा—दूसरा उदाहरण यह है—

“चन्द्रशयोत्सनाविशद” इत्यादि ।

इस श्लोक में “सत्त्वम्” इस कथन से जो कंस और कैटभ दैत्य का
भारने वाला कृष्ण है— उसके तादात्म्य को वर्णनीय किसी राजा के साथ
प्रतिपादन किया है और श्लोकोक्त वयःरूपान के ढंग से यहाँ “अनुभया-
भेद रूपकालङ्कार” बताया है । अन्यान्य उदाहरण, अलङ्कार ग्रन्थों में बहुत
विस्तार के साथ लिखे हुए हैं—जिनमें देखना ही उन्हें अलङ्कार ग्रन्थों में दे-
खने चाहिये । यहाँ विस्तर करना अनावश्यक है । यहाँ केवल इतना दि-

स्तस्यैव सूर्यापरपर्यायस्यपितृवः प्रणिजगाद, अहो । सृष्टिक्रमविपरी-
 तार्थप्रतिपादनसाधयेयं योगिनाम् । यच्चोक्तं "यस्मिन् भूप्रदेशे मातः पशु-
 घटिकायां राशौ स्थितायां किञ्चित्सूर्यप्रकाशेन रक्तता भवति, तस्योपा इति
 संज्ञा" इति । तन्न युक्तम् । निरुक्तरक्तताया भूप्रदेशोऽसत्वात् । भूप्रदेशाति-
 रिक्तगनस्थाने हि ना सम्भवति । तादृश एव च सर्वलोकानुभवः । योगन-
 न्यातिशयविशेषवन्तो योगिनस्तु आधुनिकाः कलिकात्साकलव्यामतो गग-
 नकसलिनीकल्पानप्यथान् कल्पयन्त्येवेति कदाचित्त्वचिद् भूप्रदेशे सानु-
 भूतैव स्यान्मुगिहनेति मन्ये । किञ्च यदि "तयोः पितादुहितोः समागमा-
 दुत्कटदीपितः प्रकाशाश्च आदित्यः पुत्रो जातः" इति मन्यसे । तदाभुमेयार्थं
 विधान्तरेण निबन्धना पुराणकृता कृतवापराद्धम् । यच्च "प्रजापतिव स्वोदु-
 हितरमित्यादिब्राह्मणसुपन्यस्तं, तदपि न शोभनं समुदलेखि भवता । य-
 तोहि प्रजापतिर्वै स्वामित्यादिः रोहितं भूतानभ्यैदित्यन्तः पादस्तु
 त्रयोदशाध्यायान्तर्गतनवमखण्डस्यादावेव ब्राह्मणं पठितः । तस्येत्या-
 रभ्यादित्योभवदित्यन्तः एतःपाठस्त्रयोदशाध्यायान्तर्गतदशमखण्डस्य ।
 एवं मध्यगतस्यावशिष्टस्य सर्वस्यापिकथानकस्य प्रकरणावधूतपाठस्य वा

खलाना अमीष्ट है कि रूपकालङ्कारका लक्षण आपने वर्णित स्थल में नहीं
 है इस लिये रूपकालङ्कार वतलाना अज्ञान का वा धूटता का विलास है ।
 एक जगह आपने आदित्य का पुत्रत्व स्वीकार कियाऔर दूसरी जगह दिवस
 का यह परस्पर भेद, अज्ञान से ही स्वामी दयानन्द को नहीं सूझता । आ-
 दित्य की पुत्रता को कह कर, सूर्यके दूसरे नाम आदित्य को ही फिर पिता
 बता दिया । यह सृष्टि क्रम विलक्षण अर्थ के प्रतिपादन की शक्ति, स्वामी
 दयानन्द जैसे योगियों में ही हो सकती है । आगे "यस्मिन् भूप्रदेशे" सेलेकर
 "संज्ञा" तक संस्कृत पहिचे । संस्कृतज्ञों को अयुक्तता सरफ झलक जायगी
 क्यों कि वैसी रक्तता भूप्रदेश-पृथिवी में नहीं होती-वह तो आकाश में ही
 होती है । ऐसा ही सब लोग समझते हैं । पर आप ठहरे-रुखि काल के योगी,
 शायद आपको वैसा-ही अनुभव हुआ हो !

अच्छा, यह तो बताइये जब आप ब्राह्मणादि ग्रन्थों की बातों को रू-
 पकादिविधया लगाने का प्रयत्न करते हैं तो पुराणों ने आपका क्या बिगा-
 हा है ! जब कि ब्राह्मणादिकों केसीही बातें पुराणादिकों में पाई जाती हैं !

परित्यक्तवान् भवदभिमनस्य स्वकल्पितस्यार्थस्योपक्रमपरान्तोपसंहारै-
र्विना चाथातप्यसंभवति । अन्यथा लोकवञ्जनचतुरर्थाय किंप्रयोजनान्तर-
नभिवीक्ष्यपरितत्याज निरुक्तपाठमिनिनविदुमः । अथ "एवमेवपर्जन्यपृथिव्योः
पितादुहितृवत्" अत्र कस्यापदेशः क्रियतइति न ज्ञायतेपूर्वापरग्रन्थपर्यालो-
चनेनापि । इत्थंच "घौर्मेपिता जनितानामित्रे" त्यादिमन्त्रनिर्दिश्य य-
दुक्तं निरुक्तकृता भगवतायास्केन "तत्रपिता दुहितुर्गर्भं दधाति, इति, तस्याभिभाष-
स्तुसवंधायि नाकोधिभृगिहनेति सत्यामहे । यतोऽयं "पर्जन्याद्दृश्यः पृथि-
व्याउत्पत्तेः अतः पृथिवी तस्य दुहितृवदस्ति" । अत्रातइतित्यर्थ एवाभाति,
पञ्चम्यैवतृदयस्य गतत्वात् । "सपर्जन्योवृष्टिद्वारा तस्यावीर्यवत् कतप्रज्ञो प-
क्षे न गर्भं दधाति, तस्नाद्दृग्भरदोषध्यादयोऽपत्यातिनायन्ते" इति । स्वर्षापर्य-
संगते निरुक्तविपरीतं चार्थमुदाजहार । अथ हि पृथिव्यायथाश्रुतं वस्तुभूतं
दानयात्वं प्रकल्प्य तत्रैवतदुत्पादकस्य पर्जन्यस्यवीर्यमसिक् च निर्दिश्य गर्भधा-
रणपूर्वकं साऽपत्याभिजनयति इत्यश्लीलतात्पर्यजनकस्य स्वयमेवव्याख्याय
परदोषदर्शी परेवासूक्तमपि दुरुक्तं नन्यमानोर्थस्यनर्थबुध्यमानोगुणानपि

प्रजापतिवै स्वां दुहितरम् इत्यादि वाक्ये का पाठ भी कहीं का कहीं रख
दिया है, इस प्रसाद को क्या कहा जाय ? इस गड़ बड़ी में उपक्रमोपसंहार
भी तो ठीक नहीं हो सकता । इस नहीं जानते-इस..... चतुर छूछा सधि
ने बीच के पाठ को क्यों छोड़ दिया ? फिर देखिये- "एवमेव पर्जन्यपृथि-
व्योः" इस वाक्य में किस का अपदेश है ? यह बात अगला पिछलाग्रन्थ दे-
खने से भी विदित नहीं होती । इसी प्रकार "घौर्मे पिता, इत्यादि मन्त्र
को बतला कर भगवान् निरुक्तकार यास्क ने जो कहा है "तत्र पिते, त्यादि
उनका अभिभाष-दृष्टी मुण्डी ने नहीं समझा-इस लिये "पर्जन्याद्दृश्यः"
इत्यादि से "जायन्ते" तत्र व्यर्थ प्रलाप किया है । "उक्त वाक्य में उत्पत्तेः"
के ज्ञानं "अतः, पद व्यर्थ है" क्योंकि अभिमतार्थसिद्धि पञ्चमी से ही हो-
सकती है । इन्होंने पृथिवी में कन्या की कल्पना की और पर्जन्य-मेघ को
वीर्य प्रसक्ता बता कर गर्भ धारण पूर्वक वह पृथिवी सन्तान पैदा करती है-
इत्यादि अश्लील बातें स्वयं लिखते हुए-दूसरो को ही दोष देखते हैं । दू-
सरो की अच्छी बातों को भी बुरी बतलाते हैं, सदर्थ को भी अनर्थ बत-
लाते हैं-एक लाज को छोड़ कर त्रिलोक विजयी होने का डंका बजाते हैं ।

दीषपक्षे निक्षेपनाशंस्तानेकानेव लज्जाम्परित्यज्य त्रिलोकविजयित्वात्म-
 नो व्यवस्थापथन्न जिह्वायेतिन विस्मापयति तादृशानीदृशी कृतिर्विदुष इति
 निरुक्तकृतांत्वयमभिप्रायः— पितृपदं हियोगवृत्त्या पातावा पात्रयितावेत्य-
 नया उदकं हि द्य लोकात्पतितं पार्थिवेनधातुना खंष्टकं, औषधीभावनागम्य
 शरीरभावेनावतिष्ठते, इत्येतदपेक्ष्य पर्जन्येदिविशक्तं, तथादुहितृपदेन पृथि-
 व्येवोक्ता, साहिद्य लोकात् दूरेनिहिता भवति, द्युलोकं दोग्धीतिवा दुहिता
 इति । अतस्तयोरत्र न लोकप्रसिद्धं पितृदुहितृसम्बन्धभावसवगच्छरामः ।
 पितृदुहितृपदयोर्निरुक्तवृत्त्याद्युपृथिवीपरत्वात् । द्यौरैवचात्र पर्जन्यपदे-
 नोक्तेत्यपि न विस्मत्तव्यम् । अत एव तत्र तत्र विहितैसर्वमूतान्तं द्यावा-
 पृथिवी मातापितरादित्युक्तिरपिप्राचांसंगतैव । अत्रच नास्त्यश्लीलता-
 लवोऽपीतिविद्वांसएवविभाषयन्तु किञ्च“अयमपि रूपकालङ्कारः”इतिपुनर-
 पितृदेव प्रतिपादयन्नयं रूपकालङ्कारव्यसनीपतीयते । भगवन् । भवद्विरू-
 पकत्वादेव नेदं रूपकं भवतःसम्भवति । एवंउत्तानयोःकध्वंतांनयो रुत्तानस्थि-
 तयोरलङ्कारः, । ‘अयमपि मन्त्रोऽस्यैवालंकारस्य विधायकोऽस्ति, इत्यादौषपि
 विद्वांसो के लिये यह कोई जाश्चर्य नहीं । निरुक्त कार का तो यह अभिप्राय
 है किः— “पितृपद, योगवृत्ति से रक्षक का नाम है, जल द्युलोक से गिर
 कर और पार्थिव धातु से मिलकर औषधभाव को प्राप्त हो कर शरीर रूप
 से स्थित होता है इस अपेक्षा से पितृपद, पर्जन्य अर्थात् द्युलोक में शक्त है
 और दुहितृ पद से पृथिवी लीजाती है क्यों कि वह द्युलोक से दूर रहती
 है अथवा द्य लोक को दोहन करती है इस लिये पृथिवी दुहिता कहलाती
 है । इस लिये लोक प्रसिद्ध पितृदहित सम्बन्ध यहाँ नहीं है क्यों कि निरुक्त-
 कारकी रीति से पर्जन्य और दुहितृ शब्द, द्युलोक और पृथिवी लोक के
 बोधक ही हैं । इसी लिये “द्य लोक और पृथिवी लोक सब भूतों के माता
 पिता हैं”इत्यादि प्राचीनोंका कथन भीसंगतहोजाता है । ऐसे स्थल-में कोई
 अश्लीलता नहीं है । “अयमपि रूपकालङ्कारः”अयमपि मन्त्रोऽस्यैवा-
 लङ्कारस्य विधायकोऽस्ति” मालूम होता है इन्हें रूपकालङ्कारका व्यवसन
 सा पढ़गया है । महात्मा जी । यह रूपक निरूपण आप को विरूप किये
 देता है । यदि यह मन्त्र अलङ्कार का विधायक हो ती उस मन्त्र का वह
 अलङ्कार ही देखता होना चाहिये ? सोती है नहीं इस लिये आप की उचित

द्रष्टव्यम् । किञ्चैतदलङ्कारमात्रविधायकत्वेककारदैवत्यमेव मन्त्रस्यस्यात्
तच्च न सम्भवनीत्यसंगतैपाकृतिरिति । कृतव्याख्यानञ्चैतत्पुरस्तादपि ।
अतएव नक्वापि निरुक्तत्राक्षणादप्युक्तकालङ्कारविधायिन्यो व्याख्यातोः कथा
ग्रन्थवैवर्त्तोदिपुपुराणेषुवा निरूपिताः श्रूयन्त इति परलवितेनात्मिति ॥ अथा-
त्र प्रकाशे "सूर्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्व इत्यपिनिगमो भवतिनोऽपि गौरुचयते"
इति निरुक्तसन्दर्भसमुत्पत्तः प्रक्रमविरुद्धत्वात् तत्रास्थानुपयोगित्वात् । किं-
चज्जालङ्कारोऽपि ऐदंयुगीनेनविशागृह्यश्रुतपूर्वो नूतनएव र्वेषाप्यभिहितः ।
सचेत्प्रदर्शितः — 'एवं सद्दिद्योपदेशार्थालङ्कारायां भूषणरूपार्था कथायां
सत्यां या नवीनग्रन्थेषुपूर्वोक्ता मिथ्याकथा लिखितास्ति साननन्तव्या" इत्य-
त्र सद्दिद्योपदेशएवालङ्कारत्वेन विवक्षितः । नचैवंविधोऽलङ्कारः क्वाप्यलङ्कार-
ग्रन्थेषुदृश्यते श्रूयतेवा । मुख्यमस्तीतिवक्तव्यं दशहस्ताहरीतकीतिन्यायमनु-
हरत्यत्र । किञ्च यथा कथेयं मुयिहना प्रतिपादिता- अहल्यारात्रि रूच्यते, गो-
तमश्चन्द्रः, तयो, स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोऽस्ति । इन्द्रः सूर्यश्चन्द्रस्य स्त्रिया जार
सच्यते, यतीयंरान्त्रंरयिता । सूर्योदयेहिरान्निर्भश्यति । इदमेव च तथा सह

असंगत ही है । इसी लिये निरुक्त या ब्राह्मण ग्रन्थों में वा पुराणों में से
ऐसी २ कथायें' रूपकालङ्कार को लेकर कथित हैं— ऐश नहीं लिखा । इस
बहुत ही चुका आगे की बात छुनिये ॥

इसी प्रकार में "सूर्यराशय" इत्यादि निरुक्त का लेख प्रक्रम विरुद्ध
ही है क्यों कि इस पाठ का यहाँ कोई उपयोग नहीं । इस स्थल में कलि-
युगी महर्षि ने एक बिलकुल नया ही अलंकार बताया है अर्थात् सद्दिद्यो-
पदेश की ही अलंकार बताया है और कथा को भी भूषण अलंकार
बताया है, ऐसी विचित्र बातें किसी अलंकार ग्रन्थ में देखने में नहीं आईं
'सुख है, इस लिये दश हाथ की हरीतकी (हर्ष) होती है यह कहना
नाहिये" इस लौकिक न्याय का यहाँ अनुसरण किया गया है । अहल्या
की कथा का उल्लेख करके उषेपुराणो कतहानेसेकूँटा ठहराते हैं परन्तुवही कथा
को ब्राह्मणोक्त होने से उपपादन करते हैं परन्तु इनसे कोई पूछें कि वही
आशय पुराणोक्त कथा का क्यों न समझ लिया जाय ? पुरा-
णोक्त कथा के ऊपर आप का आक्षेप निष्प्रयोजन है ।
वस्तुतस्तु इस कथा के रहस्य को आपने स्वयं भी नहीं समझा "अन्या पुरुष

सूर्यस्य जारकर्म उच्यते । इति । अयमेवाशयस्तादृशकथायाः पुराणप्रतिपा-
दिताया अपि वक्तव्ये । अतस्तत्कथामयोक्तारं प्रतिभवताभाक्षेपोनिष्प्रयोजन एव
तत्रनिहितं च रहस्यं श्रीमद्भिरैव नोपलक्षितम् । अतो नैपरिस्थायोरपरार्थो यदेन-
मन्थोन पश्यति । इत्यर्थं जारकर्म कृत्वापदीदति सूर्यस्तदा क्रमशः पृथगानः
सहस्रभगतां भजते । सहस्रभगः सहस्रकिरणाः सर्वा मना प्रकाशत इत्यर्थः ।
अतएव लोके सहस्ररश्मिर्वा उच्यते सूर्यः । रात्रिश्च पाषाणशिलैव निश्चेष्टा
सर्वथापि स्तब्धा भवति । न किञ्चिदपि तत्र विधीयते । दिवसएव कर्मणां संपन्न-
त्वात् । यदा तुरामपादरजः स्पर्शो भवति रात्र्या स्वस्त्रिया सह रश्मिरे क्रीडती-
तिरामश्चन्द्रः तत्किरणास्पर्शेन पुनरपि रात्रिर्मादमाना तिष्ठति । तदानीं
जग्धितुः सूर्यस्यासत्त्वात् । एवं च नक्षत्रिचदपि दोषो भवत्प्रतिपादितः सम्भव-
ति इति सर्वमवदातम् । अथ इन्द्र इत्यनुवीचीतीति मन्त्रद्वयारुधायां 'पराक्रमशी-
ति यदुक्तं तत्प्रयोक्तृत्वेव शब्दपरिज्ञाने क्लेश्य सापादयति । नैतदपि विशारि-
तं, यत्पराक्रमस्य कथमिष क्लेश्यं सम्भवति । किञ्च 'एवमेवेन्द्रः कश्चिद्देह-
धारी देवराज आसीत्तस्य त्वष्टुरपत्येन वृत्रासुरेण सहयुद्धमभूत् । वृत्रासुरेण-
न्द्रो निगलितोऽतो देवानां सहस्रयमभूत्' ते विष्णुशरणां गता विष्णुरुपायं

यदि ठूँठ को न देखे तो वह ठूँठ का अपराध नहीं किन्तु अन्धों का ही
है" अतः यह है कि जब जार कर्म करके सूर्य उदित होता है तब क्रम से
बढ़ता हुआ सहस्रभगता अर्थात् सहस्र किरणवाता को प्राप्त होता है—सर्वोत्तम-
ना प्रकाशित होता है । इसी लिये सूर्य-सहस्र रश्मि कह लाता है ।

पत्थर की शिला की तरह रात्रि निश्चेष्ट होती है—रात्रि में कोई काम
नहीं किया जाता क्यों कि दिन में ही प्रायः काम होजाते हैं । जब रात्रि-अ-
र्थात् छांद के पाद-किरणा का स्पर्श होता है तो फिर रात्रि प्रसन्न होती है ।
क्यों कि उस समय जार पिता-सूर्य नदी होता । इस तरह पर इह कथा में
आपका बताया कोई भी दोष नहीं माला । सब ग्रन्थ स्पष्ट है । फिर "इन्द्र-
स्यनु" इस मन्त्र की व्याख्या में "पराक्रम" शब्द को कि पुलिङ्ग है, उसे
आपने नपुंसक बना दिया है, गोया शब्द ज्ञान में अपनी नपुंसकता को
जाहिर कर दिया है । यह भी तो नहीं सीना कि पराक्रमकी नपुंसकता को से
होसकती है । अतः आगे "एवमेवेन्द्रः इत्यादि" मन्त्रव्यन्तक संस्कृत लिख-
कर पुराणीक कथाओं के सिद्धया होने का यत्न किया है और हेतु केवल

वर्णितवान् मयाप्रविष्टेन सद्गुरुणेनेनायं हती भविष्यतीति" । ईदृश्याः प्रसक्त-
गीतवत् प्रलपिताः कथाः पुराणाभासादिषु नवीनेषु ग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीनि
भद्रेर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम्" । इत्यनेन ग्रन्थेन निरुक्तकथाया मिथ्यात्वं प्रतिपादितम्
तत्र हेतुश्च 'एतासामप्यलंकारवचनात्, इत्येवोक्तः । परमलंकारवचनेतासां
नक्वाप्युक्तम् । कतमोऽलंकारः कीदृशश्चेत्यस्य सर्वथाप्यवचनम् । केवल-
मेतत्प्रकरणावसाने " एव" सत्यशब्दं च परमोत्तमायामलंकारयुक्तायां कथायां
सत्यां ब्रह्मवैवर्तादिनवीनग्रन्थेषु पुराणाभासेष्वेता अन्यथाकथासर्वतास्ताः
शिष्टैः कदाचिन्नैवाङ्गीकर्तव्या" इत्युक्तम् । अत्रापि अलंकारयुक्तत्व-
सात्प्रसङ्गमिहितं, नचकश्चित्प्रशंसितोऽलङ्कारः । अत एवासिद्धएवहेतुः । किंचो-
क्तमन्त्रप्रयोगायां "इन्द्रस्य सूर्यस्य परमेश्वरस्य" इत्युक्तं, अत्रेन्द्रस्येति
पदस्यार्थः सूर्यस्य परमेश्वरस्ये" त्यभिहित इति मतीयते; तथा दधन्नपरम-
ेश्वरपदं शक्तिविधया परमात्मनि शक्तं, तदावद्यथाग्रन्थस्य मन्त्रार्थ-
रूपस्यासंगतिरेव । तत्र सर्वत्रापि प्रकरणे दृश्यमानस्य सूर्यस्यैवाभिहित-
त्वात् । अथ यौगिकसर्वविधाय सूर्यं विशेषणमूच्येत तदा तस्यैवासंगतिः,
नहिपरमेश्वरस्य भौतिके सूर्ये रूपमवति, परमात्मन्येव चेतने सर्वथापिनि

यह दिया कि "अलङ्कार वाली कथा हीने से परन्तु इनकी अलङ्कारवत्ता
यहाँ कहीं नहीं बतलाई, और न यह बताया कि कौनसा और कैसा अलं-
कार है ? आगे चल कर भी कोई अलंकार नहीं बताया-इस लिये उक्तहे
हेतु नहीं, हेतु भास है । असिद्ध है । और देखिये उक्त मन्त्र की व्याख्या
में इन्द्र पद का अर्थ सूर्य और परमात्मा किया है, यदि परमात्मा अर्थ सा-
न लिया जाय तो सब अगला ग्रन्थ-मन्त्रार्थ ही असंगत हो जाता है क्यों
कि उस प्रकरण में दृश्यमा न सूर्य ही कहा गया है । यदि सूर्य का विशेषण
परमेश्वर को मानें तो भी असंगत है क्यों कि भौतिक सूर्य परमेश्वर-
समस्त नहीं होसकता । परमेश्वर शब्द का प्रयोगतौ केवल चेतनसर्वव्यापी
परमात्मा में होसकता है । यदि उस शब्द से सूर्योपिष्ठात् देवता चेतनारूप
परिशुद्ध होती तुम्हारे मतानुसार अपसिद्धान्त होगा क्यों कि तुमही तत्तद-
धिष्ठात् देवता मानते ही नहीं, इस लिये उक्त मन्त्रार्थ कपोलकल्पित है
'अपाददस्त' इस मन्त्र की व्याख्या में "मिन्नर्गकृतः" इस अशुद्ध शब्द
का प्रयोग किया है । अशुद्ध इस लिये है कि निष्ठान्त का पूर्वप्रयोग, यासि-

तस्य सत्त्वात् । यदि तदधिष्ठात्री देवता कांचिदुच्येत तदा तत्रैव मतवतिः । इत्यसंगत एवायमर्थः । किञ्च 'अपादइस्त' इति मन्त्रव्याख्यायां "व्यस्तो-भिन्नाङ्गकृतो वृत्र" इत्युपन्यस्त, तदप्ययुक्तमिवभाति । निष्ठान्तस्य पूर्वो प्रयोग एव साधीयसि कृतभिन्नाङ्ग इति शोभन' । किं बहुना अत्रार्थ एव बहून्मन्त्रान् दयानन्दः समुदाजहार । सर्वे च ते मन्त्रायथा स्थानं कृत व्याख्याना निरुक्ते निरुक्तकृता भगवतायास्केन । तत्र दोषः प्रतिपादितस्तेन-तेषां, स एवार्थः पुराणकृतोऽप्यभिमतएव यथाकथञ्चित् । आपाततः समु-पलभ्यमानं भेदं तु यास्क एव "त्वाष्ट्रोऽसुर इतिहासिकाः" इत्येवं प्रतिपा-दयन् स्पष्टयांभूत् । तथाचपुराणप्रतिपादितस्याप्येव भूतस्यार्थस्यासंगत-त्वं न सम्भवति । एवं पुराणादिसकलसत्यशास्त्रेषु प्रतिपादितास्तास्ताः पञ्चोत्तमाः कथाः समाजमहस्त्रैरप्यन्यथयितुं नशक्यन्त इति । अथ "एवमेव नवीनेषु ग्रन्थेषुता अनेकविधा देवासुरसंग्रामकथा अन्यथैव सन्तिता अपिबुद्धि-सद्भिर्न तुष्यैरितरैश्चनैव नन्तव्याः" इति यदुक्तं, तत्र द्वितीयपक्ष एव साधीयाम-स्ति । यतोहिबुद्धिमन्तस्त्राः कथानकथमपि नस्वीकरिष्यन्ति । इतरेषामस्वी-

निव्याकाणानुमार होनां चाहिये । यहां दयानन्द ने बहुत से मन्त्रों का उदाहरण दिया है और वे सब मन्त्र निरुक्तकार यास्कमुनि से व्याख्यात हैं निरुक्त में जो अर्थ यास्क ने किये हैं वे ही अथ पुराणकारों को अभि-मत हैं, कहीं 'रे जो भद प्रतीत होता है उसको निरुक्तकार ने 'ऐसा इति-हासकारों का मत है इत्यादि कह कर स्पष्ट कर दिया है, इससे सिद्ध हो-ता है कि पुराण प्रतिपादित अर्थ असंगत नहीं हैं । एक आर्यसमाज नहीं यदि इसारे आर्यसमाज भी मिलकर पुराणों की उत्तमोत्तम कथाओं को उद्धाना चाहें तो नहीं उद्धा सकतें । स्वामी जी लिखते हैं कि "पुराणों की कथा बुद्धिमानों को और मूर्खों को नहीं माननी चाहिये" हमारा कथन है कि वेगक मूर्खों को नहीं माननी चाहिये क्योंकि बुद्धिमान् तो उन्हें स्वी-कार करने ही । हां मूर्ख लोग स्वीकार न करें तो कोई डर नहीं क्यों कि मूर्खों का अस्वीकार इष्ट ही है । उन कथाओं के मिथ्या होने में हेतु यही दिया है कि उन में "अलंकारयोगात्" अलंकार का सम्बन्ध होने से । यह हेतु— न्यायप्रयोगानभिन्न का है अलंकार का योग होने से कथाओं में सत्य-ता- सचाई नहीं रहती । यह कैसा व्याप्यव्यापकभाव है ! (वेदों में

कारस्तिवपट्टापादक एवास्माकम् । हेतुरपि च तत्र 'तांशामप्यलङ्कारयोगात्' इति सर्वथापि न्यायप्रयोगानभिज्ञस्यैव सम्भवति । अलङ्कारयोगत्वेनतासां सत्यकथात्वज्ञानिरीतिः कुत्रत्योऽप्यव्याप्यव्यापकभावः । नचकश्चित्क्याप्यलङ्कारः प्रतिपाद्यते; केवलमलङ्कारपदमात्रं प्रयुज्यते । एवंपुराणप्रतिपादित-रातरूपानरूपं परोपपादितदोषोद्धरणप्रकारः प्राङ्निरूपितप्राय एवेति सर्व-गुण्डिनः प्रलापभोजनमितिदिक् । किञ्चात्रैवप्रकरणे 'न तस्यप्रतिमा अस्ति' इति मन्त्रस्यावतरणिकां "तथैवयत्तन्त्रपुराणादिप्रन्थेषुसूक्तिपूजानामस्मरणादिवि-धानं कृतमस्ति तदपि निश्चयास्तीतिवेद्यम् । कुतः वेदादिषुसत्ये पत्न्यंबुतस्य विधानाभावात् । तत्रतुमत्पुत्रगिषेधो वरीवर्तते । तद्यथा— इत्यादिमहाशुक्ला प्रतिमाशब्दस्य मन्त्रगतस्य नैवलस्यप्रतिमाऽर्थात् प्रतिनिधिः प्रतिकृतिः प्रतिमा-नंतोलनसाधनं परिमाणं मूर्तयोर्दिकल्पनं किञ्चिदप्यस्ति" इत्यर्थोऽभिहितः । स च सर्वथाप्यसंगतः । स्वग्रन्थविरोधात्, प्रमाणाभावाच्च । स्वग्रन्थविरोधस्तावत् अनुपदमेवात्रैवप्रकरणे वेदेषुप्रतिमाशब्दोऽस्तिनवेति केनचित्पुण्डोऽस्तीत्युत्तर-यांबभूव । पुनःकिनर्थो निपद्य इतिद्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह— 'नैवप्रतिमाप्येन

श्री अलङ्कार आते हैं आपने भी माने हैं तो क्या उनमें सचाई नहीं ! अन्य हो महाराज ।) कोई अलङ्कार आप बतलाते भी तो नहीं ! अलङ्कार शब्द-मात्र का प्रयोग कर रहे ही । हमें तो यह आपका प्रलाप मात्र ही प्रतीत हो-ता है । और देखिये इसी प्रकरण में "न तस्य प्रतिमा" इस मन्त्र की संस्कृत में अवतरणिका लिखकर लिखा है कि "उस ईश्वर की प्रतिमा अर्थात् प्रति-निधि, परिमाण वा मूर्त्यादि नहीं है" यह ग्रन्थ भी असंगत है क्यों कि पूर्वा-पर विरोध है और प्रमाण शून्य है । अर्थात् इसी प्रकरण में आगे चल कर लिखा है "वेदों में प्रतिमा शब्द है या नहीं ऐसा प्रश्न करने पर उत्तर दिया है कि "है" फिर पूछा कि फिर निषेध किस लिये है ?—उत्तर दिया कि "प्र-तिमा शब्द से मूर्तियां नहीं ली जातीं किन्तु परिमाण लिया जाता है" यहां प्रतिमा शब्द का परिमाण अर्थ कर रहे हैं फिर आपने ही ग्रन्थ में विरोध क्यों नहीं ।

और प्रमाण शून्यता तो इसी से सिद्ध है कि मूर्तिपूजा नियोधक कोई ग्रन्थवेद वाक्य नहीं मिलते । किन्तु इसके विरुद्ध 'संनृत्तास्य प्रतिमात्' इस मन्त्र की वगैरह्यकारते हुए स्वामी दयानन्द ने ही यह लिखा है कि "विद्वा-

मूर्त्तयो गृह्यन्ते; किं तद्धि ? परिभाषार्था गृह्यन्ते” इति । प्रतिमापदेन मूर्त्ति-
ग्रहणं न सम्भवति, परिभाषां तु द्योष्यते इत्येवावश्य स्पष्टीर्थः । अत्र प्रतिमाशब्दस्य
तमे वार्थे विद्वधतोऽस्य कथं न स्वग्रन्थविरोध इति । प्रमाणाभावस्तु मूर्त्तिपूजा-
निषेधकवाक्यानुपलम्भादेव सिद्ध इति । 'संवत्सरस्य प्रतिमा' नित्यादिसंदर्भस्तु
नोक्तार्थप्रतिषेधपरः । तदर्थप्रतिपादकस्वादेव । प्रतिपादनं त्वर्थस्य दयानन्दे-
नैवेत्पं कृतः— “विद्वत्सः संवत्सरस्य या प्रतिमा परिमाणमुपासते ययमपि
त्वात्तानेवोपासनेहे” इति । इदमत्राकृतकम्— सानाजिकाहि मूर्त्तिपूजनं
मूर्त्तौ रक्षितनस्वादेव नाङ्गीकुर्वन्ति । चेन्नोपासनमेव युक्तं मन्यन्ते । अतएव
नित्यचैतन्यस्य विधोः परमात्मन एवोपासनं युक्तमितिवदन्ति । बहुत्र च स्व-
ग्रन्थेष्वप्यमंशवार्थः प्रपञ्चितस्तीः । अत्र पुनर्दयानन्दः संवत्सरस्य प्रतिमां परिमाण-
नोपास्यं प्रखिजनाद् । तथा च स्पष्ट एवाचेतनस्योपासनमपि । न हि परिमा-
णस्य चैतन्यं केनाप्युपपादयितुं शक्यम् । संवत्सरो हि वषट्परिभितः कालविशेष-
यः तन्निष्ठो गुणविशेषश्च परिमाणम् । उभयोरप्यचैतन्यं लोकावेदसिद्धं नापन्नो-
तुं शक्यम् । यदि तदधिष्ठात्री काचिद्देवता चेतना एवोपास्यत्वेनाङ्गीक्रियेत
त्वया, तदा तवैव ईश्वरीकारविलोपः प्रसज्येत इति प्रागुक्तप्रामाण्यतः । एवमूर्त्ति-

ज् लोकाव संवत्सर की प्रतिमा-परिमाण की उपासना करते हैं-हम लोग भी
इसी की उपासना करते हैं” । यहाँ पर तात्पर्य यह है कि आर्य समाजी लो-
ग मूर्त्ति को लह होने के कारण मूर्त्ति पूजन को नहीं मानते, चेतन की उपा-
सना को ही ठीक समझते हैं । इसी लिये “नित्य चैतन्य व्यापक परमात्म-
की ही उपासना उचित है” ऐसा कहते हैं । बहुत जगह अपने ग्रन्थों में इ-
न्होंने इस बात को बड़ा कर लिखा है । परन्तु यहाँ देखना चाहिये कि स्वा-
मीदयानन्द संवत्सर की प्रतिमा-परिमाण को उपास्य बतारहे हैं । यह लह
की उपासना नहीं, ती कथा है ? परिमाण का चेतनत्व कोई भी सिद्ध नहीं
कर सकता । संवत्सर या वर्ष काल विशेष को कहते हैं-और उस में रहने वा-
ले एक गुण का नाम “परिमाण” है । काल और उसका गुण परिमाण, दो-
नों लह हैं यह बात लोक वेद प्रसिद्ध है-किसी से छुपाई नहीं जा सकती ।
काल की अधिष्ठात्री देवता कोई आप मानते नहीं, यदि मानते ती आप-
का सिद्धांत रफ़ चषकर हो जाय । यह बात पूर्व भी कह चुके हैं । उक्तरीति
से दयानन्द ने मूर्त्ति पूजन को स्पष्ट ही मान लिया है । मूर्त्तिपूजन में लह

पूजनं दयानन्दः स्पष्टमेव प्रतिपादयामास । इति तत्रोपलभ्यमानत्वादेव प्र-
 नाशास्य नतद्भावः । प्रनाशाभावनिषेधाच्च सिद्धं नः समीहितमिति । कृतं च-
 हुना सर्वमन्यत्पुत्रीभिः स्वयमेवोच्यमिति दिक् ।

प्रतिग्रन्थप्रानाशयामानाशयविषयः

—:0:—

अथाधिकारानधिकारविषयः ।

—:0:—

इतः परं वेदादिशास्त्राध्ययने कस्याधिकार इति चर्चोपती विवेचयिष्यते ।
 तत्र प्रकरणादावेव वेदादिशास्त्रपठने सर्वेषामधिकारोऽस्ति नवेत्याशङ्क्य, स-
 र्वेषामस्त्येवाधिकार इति प्रतिज्ञाय तत्सिद्धयर्थं 'वेदानामीश्वरोक्तत्वात् सर्व-
 मनुष्योपकारार्थत्वात् सत्यविद्याप्रकाशकरत्वाच्च' इति हेतुत्रयमुपदिदेश । अत्रचे-
 त्थमनुमानप्रयोगः सम्भवति- वेदाः सर्वकालकोध्ययनविषयाः ईश्वरोक्तत्वात्
 एव हेतुवन्तरेऽपियुज्यम् । अत्र वदाना- किनामलावदीश्वरोक्तत्वम् ? ईश्व-
 रोच्चरितत्वमेव तत्त्वं यदि, तदात्त्वत्पक्षे ईश्वरोच्चरितत्वस्यासंभव एव ।

तहां प्रनाश भी मिलते ही हैं-इससे हमारा दृष्ट सिद्ध होजाता है । विशेष
 विद्वान् लोग स्वयं विचारते ॥

इति ग्रन्थप्रानाशयामानाशयविषयः ॥

अथ-अधिकारानधिकारविषयः ।

इससे बाद वेदादिशास्त्रों के पढ़ने में किसका अधिकार है ? और किस
 का नहीं, यह बात संक्षेपसे विवेचित होगी । इस प्रकरण के आदिमें ही श्री
 स्वामी दयानन्द जी ने वेदादिशास्त्रों के पढ़ने में सबका अधिकार है या
 नहीं ऐसी आशंका करके प्रतिज्ञा की है कि "सब मनुष्यों का अधिकार है-
 इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिये तीन हेतु दिये हैं:- (१) वेद-ईश्वरोक्त हैं
 (२) सब मनुष्यों के उपकार के लिये हैं (३) और सत्यविद्या प्रकाशक हैं ।
 यहाँ पर इस तरह अनुमान का प्रयोग हो सकता है:- वेद, सबके अध्ययन के
 विषय हैं, ईश्वरोक्त होने से, या सब मनुष्यों के उपकारार्थ होनेसे, या सत्य
 विद्या प्रकाशक होने से । अच्छा, तौ अब विचारिये-ईश्वरोक्तत्व क्या वस्तु
 है । ईश्वर से उच्चरित होना-ईश्वरोक्तत्व माने तौ यह बात तुम्हारे मत में
 नहीं बन सकती क्यों कि उच्चारण या बोलना, कण्ठ तालु आदि स्थानों

उच्चारणं हि कथं तात्वादिस्थानेषु सत्स्त्रैव सम्भवति, न चेश्वरेऽशरीरित्वात्तत्सम्भवः । अन्यथा पश्यादिभिरपि मनुष्यस्यैव सुस्पष्टमुच्चारणं कर्तुं शक्येत् । नहि याद्वाशि कथं तात्वादिस्थानानि मनुष्याणां तथा पश्यादीनाम् । ईश्वरे तु सर्वथापि तदभावः । नहि सर्वशक्तिसम्पन्नोऽपि प्रकृतिविरुद्धमर्थं सम्पादयितुं शक्तः । अन्यथा कुटजवीजादपि वटाङ्गुरोत्पत्तिकर्तुं शक्नुयात् । तथा सति कार्यकारणभावस्य चिन्तयित्वात्सर्वत्रानाश्रयासम्पन्नः स्यात् । ननु ग्रामापुराणादिवोद्यविशेषेषु अविद्यमानेष्वपि कथं तात्वादिस्थानेषु यत्तात्पर्यमुच्चारणं भूयते तथेश्वरेऽपि स्यादिति चेत्, न । वाद्यविशेषे चैतन्यस्य सर्वैरनभ्युपगतत्वात् । नहि धातु कस्मिंश्चित् तत्रापि चैतन्यमभिमतम् । एवं सर्वजनप्रसिद्धस्याचेतनस्य वाद्यस्योच्चारणं चेतनकर्तृकं नाम्नात् प्रुत्राणः श्लाघनीयमञ्जो देवानां प्रियो भवेद्भवानिति तत्र तथा प्रतीतिरिपाधिकी आन्तिरेव । अन्यदीयशब्दस्य तत्र सत्त्वात् । तदतिरिक्तशब्दस्य च तत्रासम्भवात् । एवमुक्तानुमाने स्वरूपासिद्धिरेवदोषः । अथ ईश्वरकर्तृकत्वमेव ईश्वरोक्तत्वमिति स्यात् तथाप्याक्रान्त्येवं व्यभिचारपिशाचः । क्षिप्यादी

के होते हुए ही हो सकता है—तो ईश्वर को शरीर रहित होने से ही नहीं चकता । विलक्षण २ कथं तालु आदि के होते हुए ही उच्चारण का होना संभव है इसी लिये पशु आदि उच्चारण नहीं करते, पशुओं के मनुष्यों के जैसे कथं तालु आदि नहीं हैं और ईश्वर के तो किसी प्रकार के भी नहीं यद्यपि ईश्वर सर्वशक्तिसम्पन्न है परन्तु वह प्रकृति विरुद्ध अर्थ नहीं कि या करता यदि ऐसा करे तो कुटज के बीज से बट के अंकुर को भी पैदा करदे । यदि ऐसा करदे तो कार्य कारण भाव का नैयत्यनष्ट होकर सर्वत्र अविशेष होजाय । (प्रश्न) जैसे ग्रामोफोन बाले में कथं तालु आदि नहीं रहते किन्तु स्पष्ट उच्चारण होता है उसी प्रकार ईश्वर का उच्चारण मान लिया जाय तो क्या दोष है ? (उत्तर) उस बाले में चेतनता कोई नहीं मानता, न आप मानते हैं यदि कोई बट बाजे का उच्चारण बतावे तो वह सब भ्रम मूर्ख ही है । बाजे में वस्तुतः दूसरे के शब्द हैं और दूसरे स्थान पर सुने जाते हैं—इस लिये वह भ्रम ही है । यदि ईश्वर का बताया हुआ होना—“ईश्वरोक्तत्व” है तो इसमें भी व्यभिचार राजस लगा हुआ है । अर्थात् पृथिवी आदि ईश्वर निर्मित हैं परन्तु वहाँ अभ्ययनविषय-

ईश्वरकर्ता कृत्वस्यहेतोः सत्वेऽपि माध्यस्याध्ययनविषयत्वस्याभावात् । कि-
ञ्चोक्तविधया वगापितिश्रासंभावात् सर्वथाप्यसंगत एवायं हेतुः । नच त्रि-
त्यादावध्ययनविषयत्वस्याऽसंभवंपि सर्वकर्तृकं भोगविषयत्वत्वस्यैव ।
तथा यं दानामपीश्वरकर्तृकत्वेन अध्ययनस्य च भोगान्तर्गतस्य तत्र सम्भ-
वं न सर्वकर्तृकं तदत्र भवतु तथासति न कश्चिदपि इति वाच्यम् । भोग्य-
जातस्य यावत्तः सर्वत्रासम्भवेन सर्वकर्तृकत्वस्य तत्रासिद्धत्वम् । अयमभिप्रा-
यः—नामाकर्मवशाद् विचित्रभोगभाजोहि प्राणिन इति न कस्यापि विवा-
दास्पदम् । यत् किञ्चिद् भोग्यं चैत्रं प्रति मुखजनकं, न तन्मैत्रं तस्यपि मुख-
जनकमेवास्तिवति सम्भवति । तथा च कस्मिंश्चिदपि भोग्ये सर्वकर्तृकत्वं
सर्वथाप्यसंभवि । अन्यथा प्रतापोनृप इति दयासुखोऽपि भवतुः पशुर्देव-
दत्त एति यज्ञदत्तेऽपि भवतु । यज्ञदत्तघट्टा देवदत्तस्यापि पशुत्वं विन-
श्येत् । तदानीमेवभोग्यजातस्य सर्वकर्तृकत्वं स्यात् । नचेद् सम्भवति तस्मा-
दुक्तदोष स्तद्वत्त्व एवेति । एकमतिरिक्तं हेतुद्वयमपि बुद्धिमद्भिः स्वयमव-
योऽयम् । अत्रापि पूर्वज्ञेयं प्रतिपादिता स्ते ते दोषाः सम्भवन्त्येव । तथा

ता रूप भाष्य नहीं है । इस प्रकार व्याप्तिग्रह न होने से उक्त हेतु असंगत
ही है (प्रश्न) पृथिवी आदि पदार्थों में अध्ययन विषयता नहीं परन्तु सर्व
कर्तृक भोग विषयता ही होती है और अध्ययन भी भोगान्तर्गत है इस लिये
यह सर्वकर्तृक रहे तो क्या दोष है ? (उत्तर) सब भोगों के प्रति सर्वकर्तृ-
कता अशुद्ध है, इस लिये वह दोष वैसा ही बना रहता है । तात्पर्य यह
कि माना कर्मों के वश से विचित्र २ भोगों को प्राणिसमूह भोगते हैं— इस
में किसी को विवाद नहीं । जो भोग्य वस्तु चैत्रनामक पुरुष को, सुखदेती
है वही वस्तु मैत्रनामक पुरुष को भी सुख देवे—ऐसी स्थिति नहीं है
इस लिये किसी भी भोग्य वस्तु में सर्वकर्तृकता सर्वथा असंभव है । अ-
न्यथा प्रताप नामक कोई राजा है तो दयासुखनामक कोई दूसरा पुरुषराजा
क्यों न होजावे । देवदत्त लंगड़ा है तो यज्ञदत्त भी लंगड़ा क्यों नहीं जावे ।
अथवा यज्ञदत्त की तरह देवदत्त का लंगड़ापन नष्ट हो जाय । ऐसी स्थिति
में भोग्यसमूह सर्वकर्तृक कहा जासकता है परन्तु ऐसा होना असंभव है
इस लिये यह दोष वैसा ही बना रहता है । अगले दो हेतु भी
दूषित हैं क्यों कि इन दोनों में भी पूर्वोक्त दोष आते हैं । देखिये पृथिवी

हि ज्ञानादीनामपि स्वन्नयेन सर्वोपकारार्थत्वमस्त्येष, नच तत्र सर्वकर्तृक-
अध्ययनविषयत्वम् । एवं सत्यविद्याप्रकाशकत्वाच्छैत्यपि । ज्ञानमात्रं प्रति
विषयस्य प्रयोजकत्वात् । निर्विषयस्य ज्ञानस्यासम्भवात् । किञ्च सत्य-
विद्याप्रकाशकत्वाद् वैदानां सर्वकर्तृकाध्ययनविषयत्वमित्युक्ते असत्यविद्या-
प्रकाशकत्वस्य सर्वकर्तृकाध्ययनविषयत्वं न प्राप्नोति । हरपते चा-
सत्यविद्याप्रकाशकस्यापि सर्वकर्तृकाध्ययनविषयता । अत एव नाद्य स्थले
पि हेतो रभावाद्विद्वत्त्वम् । अत्रहि व्याप्यत्वासिद्धिरेव बोध्या । सो
पाधिको हेतु व्याप्यत्वासिद्धौ भवति उपाधिश्चात्र वेदेतरत्वमेव । नच
सम्प्रदायानुरोधोपात्तत्वं नीपाधिः, सत्य बाधानुन्नीत विषयकत्वात्
अत्रतुवेदे सर्वकर्तृकाध्ययनविषयत्वस्य त्रैवर्णिकस्यैवाधिकारं वदता, वदेन च
तथाच वेदेतरत्वं सर्वकर्तृकाध्ययनविषयत्वं चनास्तिकादिग्रन्थेषु इति सोप्य-
व्यापकता । तत्रैवच न सत्यविद्याप्रकाशकत्वमिति साधनः व्यापकत्वमपि ।
वेदानुक्तं शास्त्राणां विदाङ्गीपाङ्गत्वेन तदात्मतया वेदस्य सिद्धौ न साधनव्यापकता
शङ्क्या । तथाच वेदा न सर्वकर्तृकाध्ययनविषयाः वेदेतरत्वाभावात् इत्य-

आदि पदाद्य आपके मत में सब के उपकारार्थ ती हैं परन्तु उनमें सर्व-
कर्तृक अध्ययनविषयता नहीं है, सत्य विद्या प्रकाशकत्व हेतु भी दूसरा
ग्रन्थ है क्यों कि ज्ञान मात्र के प्रति विषय को प्रयोजकता है कोई ज्ञान
निर्विषय नहीं होता । एवं विद्या (ज्ञान) प्रकाशकता प्रविद्यादिकों में है प-
रन्तु इनमें सर्वकर्तृक अध्ययन विषयता नहीं है । दूसरी बात यह है
कि सत्य विद्या प्रकाशक होने से सर्वकर्तृक अध्ययन विषयता मानी जाय
तो जो असत्य विद्या प्रकाशक ग्रन्थ हैं वसर्वकर्तृक अध्ययन के विषयी-
भूत न होने चाहिये परन्तु इस से उल्टा देखा जाना है, अर्थात् असत्य
विद्या प्रकाशक ग्रन्थ भी सर्वकर्तृक अध्ययन विषयी भूत हैं, इसलिये
सोप्य स्थल में भी हेतु के न रहने से अविद्वाना दोष है अर्थात् यहाँ व्याप्य-
त्वसिद्ध है । सोपाधिकहेतुव्याप्यत्वसिद्ध कहलाता है उपाधि यहाँ वेदेतर-
त्वरूप है । यदि कोई कहे कि सम्प्रदायानुरोध से पक्षतरत्व उपाधि नहीं
हो सकती, तो उक्त देना चाहिये कि बाधानुन्नीत स्थल में ही पक्षतरत्व
को उपाधि नहीं मानते अन्यथा मानते ही हैं । यहाँ पर तो "त्रैवर्णिक अर्था-
त् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों को ही वेद पढ़ने का अधिकार है" ऐसे

निनानुमानेन सर्वकर्तृकाध्ययनविषयत्वत्वाभाववत्त्वमेव वेदानासिद्धये वा । किञ्च
 त्रैवर्णिकातिरिक्तस्य सामर्थ्याभावादपि वेदेषु नाधिकारः । अथित्वसामर्थ्या-
 दिकं हि अधिकारकारणं भवति । त्रैवर्णिकातिरिक्तस्य शूद्रादेश्चाथित्वसत्त्वे-
 ऽपि सामर्थ्याभावान्नाधिकारः सामर्थ्यमपि लौकिकसाधनधिकारकारणं
 न भवति । लोकेसत्यपि तस्याधिकारकारणत्वे, शास्त्रीयेऽर्थतु शास्त्रीयस्यैव
 सामर्थ्यं स्थापेत्तायुक्तम् । शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यं स्याध्ययननिराकरणेन निराकृत-
 त्वान्न शूद्रास्यैव दाध्ययनाधिकारः । उपनयनपूर्वकत्वाद् वै दाध्ययनस्य
 उपनयनस्य च त्रैवर्णिकविषयत्वात् इति तथाच शूद्रादेश्चिद्वेदाध्ययनाधि-
 कारप्रतिपादनं यथेच्छाचारितामेष दयानन्दस्य सूचयति कृतं बहुना । किञ्च
 यथेवावाचसितया दिनन्त्रमुद्धृत्याऽतिशूद्राणां मन्त्रयजमानानुपदेशितोऽधिकारी
 दयानन्देन यत्तदपि सर्वथाऽयुक्तम् । मन्त्रार्थेश्चासंगतः । यथैव प्रवाजिसंता-
 नुसारमीश्वर एव वक्ताऽभिप्रैत, तदा अपि सै कासाः सभृच्यताम् । इति मन्त्र-
 याश्वरस्यापि कामनाकाव स्यात् । यथा कामनया प्रयुक्तस्तत्पूर्य्यै शक्त्य-
 सन्नं किञ्चित्प्राथम्यान आस्तेपरमीश्वर इति । किञ्च चारणायैत्यत्र पदद्वय-

प्रमाणा शब्द से सर्वकर्तृक अध्ययन विषयता का वाच ही जाता है । वेदतर-

त्व और सर्वकर्तृक अध्ययन विषयत्व - ये दोनों धर्म मास्तिकादि ग्रन्थों में हैं
 इस लिये साध्यव्यापकता है और वहाँ - नास्तिकादिग्रन्थों में सत्यविद्या-
 प्रकाशकता नहीं है इस लिये साधन के साथ पक्षतरत्वरूप उपाधि की
 अव्यापकता भी है ।
 वेदानुसारी शास्त्र वेद के ही अङ्ग तथा उपाङ्ग (उपनिषदादि) होनेसे वेद
 स्वरूप हैं । अतः उन शास्त्रों को लेकर साधन व्यपकता की शंका करना
 ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से त्रैवर्णिक अनुमान होने लगनायगा,
 जो वा कि- वेद सर्वकर्तृक अध्ययन के विषय नहीं हैं, वेदतरत्वाभाव होने
 से । इस अनुमान से सर्वकर्तृक वेदाध्ययनविषयत्वभाव ही सिद्ध होगा ।
 वेदों के पहूने का अधिकार, त्रैवर्णिकादिको का छोड़ कर शूद्रादिकों को इस
 लिये भी नहीं कि उन में सामर्थ्य नहीं है । अथित्व और सामर्थ्यादि ही
 अधिकार के कारण हैं । त्रैवर्णिकातिरिक्त शूद्रादि को यद्यपि अथिता है पर-
 रन्तु सामर्थ्य नहीं है । लौकिक सामर्थ्य भी अधिकार का कारण नहीं ।
 यद्यपि लोक में लौकिक सामर्थ्य अधिकार का कारण माना है परन्तु

मनसश्च ध्यमानोऽतिशूद्रायेत्यर्थं' तस्य चकार । तच्चायुक्तम् । तत्र हि 'अरक्षभ्य इति पृथक् पदं' वक्तं ते नास्ति रणशब्दोयेन सऽती, वाक्यं यन्परहितः शत्रुरित्यर्थः । तस्मा इति । साकल्येन मन्त्रार्थस्तिवत्त्वं बोध्यः यथेनामिति—यथा यतश्चर्त्वाचं कल्याणीमनुद्वेगकरौ आवदानिदीयतां भुव्यतामिति सधेभ्यो ब्रवीमि । केभ्य इति प्राप्तमाह ब्रह्मेति । प्राक्प्राणाय राजन्याय सत्रियाय च शूद्राय च आर्याय वैश्याय च, तथा देवाय आत्मीयाय च अरण्याय अन्नवे च । अरणाः उपगतीदकः पर इत्यर्थः । येन वाक्यं बन्धोऽपि नास्ति, तेन दूरापास्त एव जलादिसम्बन्धः इत्यरणापदेनात्र शत्रु रेष्यच्छते । आवदानीति च सर्वप्रयोक्तव्यम् । यथेति पूर्वमुक्त्वा तथेति पदमपि नि-यसं बद्धत्वेन अध्याहार्यम् । यतोऽहं ब्राह्मणादिभ्यः कल्याणोऽप्रियां वाचं वदामि, तथा ततोऽहं विद्यपक्षदेवानां भूयासम् । दक्षिणायादातुश्च मियो भूयासम् । इहास्मिन्नेव काल इत्यर्थः किंचनेनमायं कामः समुध्यतां सफलो भवतु । धनपुत्रादिलाभकामो मे समुध्यता मित्यर्थः । तथा अदः इतियः काम इत्येते सचक्यते, सामामुपनमतु । अयं च मन्त्रः खिलकरणी पाठ्यते । आर्चयथैव वेदे । तत्र हि आपठञ्च विंशत्प्राय

शास्त्रीय विषय में शास्त्रीय सामर्थ्य का ग्रहण करना ही उचित है । शूद्रादिकों में शास्त्रीय सामर्थ्य निषेध, शूद्रादिकों के अध्ययन निषेध से ही सिद्ध है । इस लिये शूद्रादि को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं । वेदों का, अध्ययन, उपनयन—यज्ञोपवीत संस्कार पूर्वक होता है और यज्ञोपवीत केवल तीनों वर्गों का ही विहित है । इस लिये शूद्रादि को वेदाध्ययनाधिकार बतलाना दयानन्द की यथेच्छा चारिता का सूचक है । इत्यलम् ।

वेद के पढ़ने का मनुष्य मात्र को अधिकार है— इस विषय में एक वेद मन्त्र लिखा है, वह यह है "यथेर्त्वाच" मित्यादि । मन्त्रों के इस मन्त्रका सङ्ग्रह का के यह साजित किया है कि अतिशूद्र और अन्त्यजों तक को वेद पढ़ने का अधिकार है । परन्तु वह अयुक्त है और मन्त्र का अर्थ भी असंगत किया है । यदि इस मन्त्र में स्वामी जी के मत के अनुसार ईश्वर ही को वाक्ता मान लिया जाय तो मन्त्रके उत्तर भागमें यह आता है कि "अयमे-वामः समुद्भूयताम्" अर्थात् मेरी यह कामना पूर्ण हो । इस से ईश्वर में भी कामना—इच्छा माननी पड़ेगी, जिस कामना से प्रेरित हो कर उस की पूर्ति के लिये ईश्वर प्रार्थना करता है । मन्त्रगत "चारणाय" शब्दों दोष हैं

दर्शपूर्णमासाद्यश्रवमेधान्तं व्याख्याय शिखान्मुक्तानि, तेषां चिच्चिह्निनियो-
 गानुक्तः । तत्रैव चायं सन्त्र द्विति । सर्वमेतदुपैव प्रतिपादितं धन्नुविदना,
 वन्न शास्त्रपुरस्सरमितिकृत्वा हेयमेव सर्वथापिश्रेयस्कारैरिति विरम्यते । य-
 क्षार्त्ताद्यगुणकर्मानुसारिणीमव्यवस्थां व्यवस्थापुकारः प्रकरानुगणानां एव
 शूद्रो ब्राह्मणतांभेतीति सन्नुपैव व्यापहारः । तद्वलेन च कस्मिन्नेव जन्मनि ब्रा-
 ह्मणो ब्राह्मणतां शूद्रश्चाशूद्रतां प्राप्नोति इति स्पष्टं वनिरूपितम् । सदर्शं च-
 त्पसाह "शूद्रः पूर्णं विद्यासुश्रीलतादिब्राह्मणगुणयुक्तश्चेद् ब्राह्मणतांभेति
 ब्राह्मणभावं प्राप्नोति योऽस्ति ब्राह्मणस्याधिकारस्तं सर्वं प्राप्नोत्येव । एवमेव ।
 कुचर्थाऽधर्माचरणगिबुद्धिमखंत्वपराधीनतांपरसेवादिशूद्रगुणैर्मुक्ती ब्राह्म-
 णश्चेत् स शूद्रतांभेति । शूद्राधिकारं प्राप्नोत्येव । एवमेव ब्रह्मत्रियास्त्वांतं च त्रि-
 यादुःपन्नं वैश्यादुःपन्नं प्रति च योजनीयम् । अर्थाद्यस्यवर्णस्य गुणैर्मुक्ती-

(१) च और (२) अरणाय । पर पदद्वय को न समझ कर 'अतिशूद्राय, यह अर्थ
 कर छाता । सोचह भी असंगत है क्यों कि वस्तुतः यहाँ अरणाय, ऐसा पृथक्
 पद है । 'अरण, शब्द शत्रु वाचक है । सनस्त सन्त्र का अर्थ इस प्रकार है:-
 "जिस से कि मैं (यजनान) कल्याणी वाणी को अर्थात् दीजिये, भीगिये
 इत्यादि रूपा वाणी को सब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने लीग और
 शत्रु के लिये कहता हूँ इस लिये मैं इसी काल में देवताओं का प्रिय बननाक
 और मेरी यह कामना संभव हो । अर्थात् धन पुत्रादि का लाभ हो । यह
 सन खिल प्रकार में पठित है । इन सब बातों को छोड़कर दयानन्द ने
 जो कुछ शास्त्र विरुद्ध ऊट पटांग लिखा है वह सब कल्याण चक्रों को छोड़
 देना चाहिये । वर्णों की गुणकर्मानुसार कभी व्यवस्था ही नहीं सकती पर
 उक्त की व्यवस्था करने की इच्छा से प्रकरण को न जान कर ही एकश्लोक
 अनुस्मृति का लिखा है शूद्रो ब्राह्मणतां भेतीत्यादि । उस अनुश्लोक के
 बल से ही एकही जन्म में ब्राह्मण ब्राह्मणता को और शूद्रतांशूद्रताको प्राप्त
 हो जाता है इस बात की स्पष्टता है, और एकश्लोक का अर्थ इस
 प्रकार किया है:- शूद्र यदि ब्राह्मण के गुण पूर्ण विद्या सुश्रीलतादि से
 युक्त हो तो ब्राह्मण भाव को प्राप्त हो जाता है अर्थात् जो ब्राह्मण का अधि-
 कार है उसे पा लेता है । इसी प्रकार नृसंत, पराधीनतादि शूद्र गुणों
 से युक्त यदि ब्राह्मण हो तो वह ब्राह्मण, शूद्र भाव को प्राप्त हो जाता है

यो यथाः सतसदधिकारं प्राप्नोत्येवम्॥ इति॥ । सर्वं चैतन्नानादोपपराहृतम्
 प्रथमं पूषं दिशानुशीलतादिब्राह्मणगुणयुक्तशब्दे, इत्ययमर्थः कुतश्च-
 लक्ष्यो भवता । नहि तादृशपदमात्रमत्र प्रयुज्यते, यस्यायमर्थः सम्भवति । तथा
 "सथाविधाः शूद्रोऽस्ति ब्राह्मणस्य अधिकारस्तं सर्वं प्राप्नोति वेदंति एवमेव
 विधमं शास्त्रानभिज्ञस्यैव सम्भवति । यद्यनेन ननु स्मृतेरपि दशमोऽप्यायो यथाय-
 ज्यधीसाः स्यात् तदा कथमप्येतस्मिन् नोत्सङ्गेन । इत्थं कुश्यां धर्मां चरणा-
 ध्ययमर्थोऽपि नात्र समुपलभ्यते दयानन्दस्युपक्रमेण, सर्वमिति प्रतीतः ।
 किञ्चैवं तत्र दधिकारत्वमात्रप्राप्तावपि न तयानात्या क्ती भवतीति सत-
 साभिमतमेव दयानन्दस्य प्रस्फुरत्यनेन सन्दर्भेणैति ! प्रकरणविरुद्धप्रथायमर्थः
 अत्र संकरवर्णप्रसिपादनं च प्रकृतमस्ति । तत्राश्माद्यायमादिमाश्लोकः

"शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसाच्च त्प्रजायते ।

अश्रयान् श्रेयसी जातिगच्छतया सप्तमाद्युगात् ॥ इति ।

अर्थात् शूद्राधिकार को पालिता है, इसी तरह क्षत्रिय और वैश्य से जो
 उत्पन्न है उन के विषय में जानना चाहिये, तात्पर्य यह है कि जिस वर्ग
 के गुणों से जो वर्ग है वह उस २ अधिकार को प्राप्त हो जाता है
 यह स्वामी दयानन्द का अर्थ अनेक दोषों ने दूधित है । पहले तो यह
 पूछना चाहिये कि " यदि ब्राह्मण के गुणों से युक्त हो, यह अर्थ आपने
 कहाँ से निकाल लिया । वैसे पदों का बोधक कोई पद्य में वाक्य सौ है जो
 नहीं जिसका यह अर्थ हो जाता वैसे शूद्र ब्राह्मण के अधिकारों को प्राप्त
 हो जाता है- यह लिखना भी धर्म शास्त्र न जानने के कारण है । यदि
 स्वामी जी मनुस्मृति का दशवां अध्याय अच्छी तरह ध्यान देकर पढ़ते
 तो ऐसा अनर्गल लेख लिखने की हिम्मत शायद न करती । आगे किया
 हुआ अर्थ भी स्वामी जी की ही कपोलकल्पना है । इतना सब कुछ करने
 पर भी इस २ अधिकार के मिल जाने पर भी स्वामी जी के ही लेख से यह
 पालन होता है कि उस कालि से वह पुरुष युक्त नहीं हो जाता । स्वामी
 जी का यह अर्थ प्रकरण विरुद्ध भी है । यहाँ- मनुस्मृति में सर्व संकर प्रक-
 रण है । इस से प्रकृत श्लोक यह है :-

"शूद्रायास्तित्यादि"

इस श्लोक की टीका में सम्बन्धुकावलीकार-कुल्लुक भट्ट ने लिखा है:-

अत्रमन्वर्थं गुक्त। वलीकारः कुल्लूकभट्टः प्राह—“शूद्रायां ब्राह्मणाऽजातः पारशवा-
रूपो वर्णः प्रजायत इति। सामर्थ्यात् स्त्रीरूपस्यात्सायदिस्री ब्राह्मणे नोटासती
प्रसूयते सा दुहितरमेव जनयति। सायय्येन ब्राह्मणे नोटाकती दुहितरं सेवजन-
यति। माप्येवमेव सप्तमे युगेऽन्ननि स पारशवारूपो वर्णोऽवीजपाधान्याद्
ब्राह्मण्यं प्राप्नोति। आसप्तमाद्युगादित्यभिधानात्सप्तमं जन्यन्निब्राह्मणः
स पद्यतइत्यर्थः। अयमेवार्थो मानवपथस्यास्य सम्भवति। इतः परमेव च
‘शूद्रो ब्राह्मणतामेती ब्राह्मणश्चेति शूद्रताप्रक्षत्रियाज्जातमेवंतु विद्याहूँ श्यासथैव च
इति पद्यं पपाठ भगवान्मनुः। अस्य चायर्थो विहितः श्रीमता कुल्लूकभट्टेन,
“एवं पूर्वश्लोकोक्तरीत्या शूद्रो ब्राह्मणतां याति; ब्राह्मणश्च शूद्रतामेति।
ब्राह्मणोऽत्र शूद्रायां ब्राह्मणादुत्पन्नः पारशवो ज्ञेयः। स यदि पुमान् केवल-
शूद्रोद्वाहेन तस्यां पुनसमेवं जनयति, सोऽपि केवलशूद्रोद्वाहेनान्यं पुनस-
मेवं जनयति, सोऽप्येव, तदास ब्राह्मणः सप्तमं जन्म प्राप्तः केवलशूद्रतां

“शूद्रा मे ब्राह्मण से पैदा हुई (पारशव वर्ण) यदि स्त्री हो और वह
स्त्री ब्राह्मण से विवाहित होने पर फिर यदि लड़की पैदा करे और वह लड़-
की फिर किसी ब्राह्मण के साथ विवाहित होकर लड़की पैदा करे—ऐसे करते
२ सातवें जन्म में वह पारशवारूप वर्ण, वीज की प्रधानता के कारण ब्राह्म-
णता को प्राप्त होजाता है। अर्थात् सातवें जन्म में ब्राह्मण बन जाता है”।
उक्त श्लोक का यही अर्थ संगत है क्योंकि आगे भगवान् मनुने “शूद्रो ब्राह्म-
णतामेति” इस पद्य को पढ़ा है। और इस पद्य का अर्थ श्रीमान् कुल्लूक
भट्ट ने यह किया है कि—

“इस प्रकार पूर्वोक्तरीति से शूद्र ब्राह्मणता को प्राप्त हो जाता है, और
ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त होजाता है। ब्राह्मण शब्द से यहाँ शूद्रा में ब्राह्मण
से उत्पन्न—पारशव नामक लेना चाहिये। वह पारशव पुरुष यदि केवल शूद्रा
के साथ सम्बन्ध करने से पुरुष को उत्पन्न करे वह पुरुष फिर शूद्रा के सम्ब-
न्ध से पुरुष को पैदा करे—ऐसे करते २ सातवें जन्म में वह केवल शूद्रता को
प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न हुए
सन्तानों का उच्च नीच भाव जान लेना चाहिये। परन्तु ब्राह्मण की अपेक्षा
क्षत्रिय और वैश्य जाति को छोटा होने से और “सातवें या पाँचवें जन्म में
जातिका घटना बढ़ना होता है” ऐसा याज्ञवल्क्य के कथन से, पाँचवें जन्म

बीजनिष्कर्षात्कर्मणो ग्राह्योति । एवं तन्निपाद्वैश्याच्च शूद्रायां जातस्योत्कर्षा-
पकर्षी जानीयात् । किंतु जातैरपकर्षात् "जातयुक्तयो युगेज्यैः सत्समेपत्त-
मेऽपिवा" इति याज्ञवल्क्यदर्शनाच्च द्वाप्रियाज्जातस्य पञ्चमं जन्मन्युत्कर्षा-
पकर्षी जौद्धव्यौ । वैश्याज्जातस्य ततोऽप्युत्कर्षात् । याज्ञवल्क्येनापि याज्ञवल्केन
पक्षान्तरस्य संगृहीतत्वाद् वृद्धव्याख्यानानुरोधेन तृतीयजन्मन्युत्कर्षापक-
र्षी क्षेप्यौ । अनेनैव न्यायेन द्वास्तमेन वैश्यायां जातस्य पञ्चमे जन्मन्युत्कर्षा-
पकर्षी क्षत्रियायां जातस्य तृतीये, क्षत्रियेण वैश्यायां जातस्य तृतीय एव जौ-
द्धव्यौ । अस्य चार्थः साधीयानस्ति, प्रकरणाद्विरोधिश्चात् । शास्त्रान्तर-
संवादाच्च । तथाचिद्व्यो भूमिकाग्रन्थोऽसंगत एव । यच्छोपसंहृतम्— "यत्र यत्र
शूद्रो नाध्यापनीयो न श्रावणीय प्रचे युक्तं तत्रायमभिप्रायः । शूद्रस्य प्रज्ञा-
विरहत्वात् विद्यापठनधारणविचारसमर्थात् तस्याध्यापनं श्रावणं स्वर्ष-
नेवास्ति निष्कृतवाच्येति" तदप्यसंगतनिश्च भवति । प्रज्ञावतां शूद्राणां
श्रवणसमनादौ समर्थानामपि सत्त्वात् सम्यंते चात एव पूर्वकृतसंस्कारव-
शाद् विशिष्टज्ञानसम्पन्नाः शूद्रयोनिमभवा अपि विदुरधर्मव्याधिमभूतयः

में उच्च नीचभाव जानने चाहिये । और जो वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न हुआ
सन्तान है उसका तीसरे जन्म में उच्च नीच भाव होजाता है । इसी रीतिसे
ब्राह्मण से वैश्या में उत्पन्न सन्तान का पाँचवें जन्म में और ब्राह्मण से
क्षत्रिया में उत्पन्न हुए का तीसरे जन्म में उच्च नीचभाव जानलेना चाहिये ।
यह कुल्लूक भट्ट का अर्थ ही समीचीन है, क्योंकि इस अर्थ में प्रकरण का
विरोध नहीं और दूसरे शास्त्रों के साथ मेल मिलता है ।

इस लिये यहाँ का स्वामी दयानन्द जी को लिखा भूमिका ग्रन्थ असं-
गत ही है । स्वामी जी ने उपसंहार किया है कि:-

"जहाँ २ यह लिखा है कि शूद्र को न पढाना चाहिये और न सुनाना
चाहिए, उसका प्रयोजन यह है कि शूद्र बुद्धि हीन होता है, विचार करने
में असमर्थ होता है इस लिये उसे पढाना या सुनाना व्यर्थ है । यह लिख-
ना भी असंगत है क्योंकि बहुत से ऐसे शूद्र हैं जो बुद्धिमान हैं और श्रवण
विचारदि में समर्थ भी हैं । महाभारतादिकों में यह बात स्फुट है कि पू-
र्व जन्म के संस्कारों के कारण, विदुर और धर्म व्याध आदि शूद्र भी बड़े
ज्ञानी होगये हैं इतिहास पुराणादि के जानने में चारों वर्णों का अधिकार

इतिहासपुराणाद्यधिगमे च चातुर्वर्ण्यस्याधिकारोऽस्त्येव । 'श्राव्यं चक्षुरो वर्णान्' इत्यादिः शरणात् । तस्मान्मन्त्रातिरिक्तशास्त्रेष्वेव विदुरादीनामपि प्रवृत्तिः स्मर्यते । वेदपूर्वकस्तु नास्त्येवाधिकारः शूद्राणामितिसर्वमवदासम् । किञ्च शास्त्रीयेषु कर्मसु शास्त्रीपत्यैव सामर्थ्यस्योपयोगित्वात् तस्य च शूद्रेभावादपि 'शूद्रस्याप्यपनं श्रावणं च व्यर्षत्वात्किञ्चलवाच्चन्युक्तनित्ययुक्तमिति । यस्तु 'धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वपूर्ववर्णो नापद्यते जातिपरिवृत्तौ, अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णं नापद्यते जातिपरिवृत्तौ' इति-आपस्तम्बसूत्रं स्वमतं प्रोच्य सायनाय समुदाजहार, तदप्यप्यलम् ; जातिपरिवृत्ता विद्युक्तः । जातेजन्मनः परिवृत्तौ सत्याम्-इत्येव तस्य स्वरसिद्धोऽर्थः । 'जातेवर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्राप्नोति' इति तूदत्तरं व्याख्यानम् । अधिकन्तु ग्रन्थान्तरेऽनुसंधेयम् ।

इति संक्षेपतोऽधिकारानधिकारविषयः ।

अथ संक्षेपतो भ्रष्टकरणशङ्कासमाधानादि विषयः ।

—:—

अथ पठनपाठनविषये कयारीत्या शिक्षणीया वासाइत्येव प्रतिपादनाय

हे जैसा महाभारत में लिखा है कि 'ब्राह्मण को आगे करके चारों वर्णों को इतिहासादि सुनावे' । इसी लिये वेदातिरिक्त शास्त्रों में ही विदुरादिकों की प्रवृत्ति सुनी जाती है, वेद पूर्वक अधिकार शूद्रों के लिए कहीं भी उपदिष्ट नहीं । शास्त्रीय कार्यों में शास्त्रीय सामर्थ्य ही परिशुद्ध होता है और वैसा सामर्थ्य शूद्र में है नहीं इस लिए वह सर्वथा अनधिकारी है । 'धर्मचर्यया' इन आपस्तम्ब सूत्रों का भी अयुक्त अर्थ किया है, अन्ततः अथ यह है कि 'जन्म के परिवर्तन होने पर धर्मचर्या से छोटा वर्ण उच्च वर्ण होजाता है और अधर्माचरण से उच्च वर्ण दूसरे जन्म में छोटा वर्ण होजाता है' इस विषय में जिन्हे अधिक देखना होवे इस विषय के अन्य ग्रन्थों का अवलोकन करे ।

इति संक्षेपतोऽधिकारानधिकारविषयः ।

अथ संक्षेपतो भ्रष्टकरणशङ्कासमाधानादि विषयः ।

इस प्रकरण में ब्राह्मणों की शिक्षा किस रीति से देनी चाहिये— इस

प्रयतितम् । प्रसङ्गवशाच्च कौचिनमन्त्रास्तत्र सप्रदृष्टम् ।। तेषामर्थस्तु यथायथं निरुक्तादिग्रन्थेषु जिज्ञासुभिरवलोकनीयाः । अत्रत्वन्तर्धं प्रायमेवोक्तम् । तत्सर्व-
मन्त्रविस्तरभियानोपन्यस्यतेऽस्माभिः । पृथीभिः स्वयमेव सर्वं यथास्वनालो-
चनीयम् । इदानीमथ भाष्ये शङ्कासमाधानादिविषयः समालोच्यते । तत्रा-
दावेव सायलीयादिभाष्याणां पूर्वाचार्यद्विपरीतरथम् ; स्वस्यचभाष्यस्य सर्वा-
द्वोपेतत्वमुपदर्शितम् । तत्रास्यभाष्यं युक्तमयुक्तं वा यथास्थानं मन्त्रामियत्कि-
ञ्चिन्निरूपितम् । तेनैवतस्ययाथार्थ्यमयाथार्थ्यं वाविद्वद्विरुद्धनीयम् विषयानभि-
लाषिणस्तु तद्भाष्यमेवात्कलोकयन्तु । सायलीयादिभाष्याशिष्यजन्मिदधानो-
सहीधरभाष्यमेवैकधाञ्चिन्न मन्त्रार्थां ससुदानुहार प्रत्याख्यानाय । अत्रपता-
चतुक्तमज्ञानन्ये— यद्वन्महीधरः प्रत्यपादयत् सर्वं तत्कार्यायमकल्पसूत्र-
सम्मतम् । शतपथब्राह्मणस्य चप्रामास्यं दयानन्दोऽपि स करोतलपमङ्गीकरोति
सत्र तत्रच 'अथसत्योऽर्थः' इति प्रतीकं दत्त्वा शतपथब्राह्मणमेवसमुद्धति । त
स्वार्थस्तु सर्वथानर्थतामेवनीतोऽनेन । अधिकं तन्स्माभि रपि ग्रन्थमनु द शं द

प्रति पादन करने के लिये यत्र किया है और प्रसङ्गवश से कुछ मन्त्रों का तत्-
स्थल में उद्धरण किया है उद्धृत मन्त्रों के असली अर्थ जिज्ञासुओं को निरु-
क्तादि ग्रन्थों में देखने चाहिये । यहां भूमिका में स्वामी जी ने अर्थ के स्थान
में अनर्थ ही किये हैं । उन सब अनर्थों के निरूपण करने में ग्रन्थ जड़ जायगा
इस लिये हम नहीं लिखेंगे । समझदार विद्वानों को चाहिये स्वयं देखले ।

अब "भाष्य में शङ्कासमाधान आदि विषयः" की जांच कीजिये । पहले
तो स्वामी जी ने सायणाचार्यादि कुल प्राचीन वेद भाष्यों को पूर्वोचार्यों के
विरुद्ध बताया है और अपने वेदभाष्य को सर्वज्ञ पूरा बताया है । जो
स्वामीजीका भाष्य युक्त है अथवा अयुक्त है इसका निरूपण हमने यथावसर कुत्र
किया ही है । उन से ही उन के भाष्य की यथाथता वा अयथाथता विद्वान्
लोगों को जान लेनी चाहिये । जो अधिक देखना चाहें— वे वेद भाष्य
स्वयं पढ़ें । पहले सायणादि भाष्यों का कथन काके केवल कुछ मन्त्रों के म-
हीधर भाष्य की ही अपने संपादन का लक्ष्य बताया है इस विषय में इतना
ही लिखना पर्याप्त होगा कि जो कुछ महीधर ने लिखा है— वह कार्यायन
कल्प सूत्र के अनुसार लिखा है और शतपथ ब्राह्मण के अनुसार । जो
शतपथ ब्राह्मण का प्रामास्य तो स्वयं स्वामी दयानन्द भी मानते ही हैं

सं खिन्नमनस्कैः सारस्वतमप्यत्रापश्यद्भुः परित्यज्यते । शतपथब्राह्मणं उप्य-
स्मिन् योऽर्थस्तेषां नन्त्राणां नहीधरेणोक्तः स एवार्थः प्रतिपादितोऽध्वरोधप्रकरणा
एव । तथाच त्रयोदशकारवहान्तर्गतद्वितीयप्रपाठकस्य चतुर्दशं ब्राह्मणं तृतीय-
प्रपाठकस्य चतुर्थं ब्राह्मणं सम्यगवलोकयन्तु । शृष्टवन् विचारयन्तुषु बुधियो-
ऽपि । तदानीं प्रस्फुटपूर्वसोऽर्थः स्वादायं सामाजिकानामपि । एवंशास्त्रविरोधि-
त्वात् पूर्वाचार्यादिसद्बुद्ध्याख्यानानुसूचितत्वात् । यथेष्टचेष्टामूलत्वात्, सद्-
व्यवहारावमत्तंकरत्वात्, कल्याणानभिनिवेशित्वाच्च, हेयपक्षएव निश्चयस्योऽयं
श्रेयस्कामैर्दयानन्दनिर्मितो वेदादिभाष्यभूमिः १।१११न्यः परित्राक्ष्यप्रथ सनातनो
वैदिकधर्मः— इतिशिवम् ।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूणमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । इत्युपनिषत् ।

ओम् शान्तिः

शान्तिः

शान्तिः ।

इसी लिये उन्होंने "अथसत्योऽर्थः" ऐसा लिख कर कहा तारां ब्राह्मण का उ-
द्धरण किया है परन्तु शतपथ का जो अर्थ किया है वह नववा जनभिन्नता
का सूचक है, इस बात को लिखे देखना ही उन्हें भूलसंस्कृतभूमिका यन्त्र
उठा कर देखना चाहिये अधिक लिखना हम ने इस लिये उचित नहीं सम-
झा कि इस ग्रन्थ को देखते र चित्त खिन्न हो गया और इस में सारभाग
कुछ नहीं मिला ऊट पटांग मन साना बकवाद है । ब्राह्मण वाक्यों को भी
आपने कहीं र मन्त्र लिख डाला है और ब्राह्मण वाक्यों का अर्थ करते ही
नहीं बना, निरुक्त वाक्यों का भी प्रकरण विरुद्ध अर्थ किया— कहीं तक लि-
खे— एक छिद्र हो ती । यहां तो हजारों छिद्र पड़े हैं । जो महीधर ने
मन्त्र का अर्थ किया है वैसा ही शतपथादिकों में अथश्लेष प्रकरण में विद्या-
मान है । विद्वान् लोग वहाँ के प्रकरण का विचार लें । आर्यसामाजिकों में
भी जो संस्कृतके विद्वान् हैं उन्हें यहबात स्पष्ट मालूम हो सकती है । कि-
बहुना, शास्त्रविरोधि होने से, पूर्वाचार्यों के श्रेष्ठ व्याख्यानों का अनुसरण न
करने से, यथेष्ट मनतानी कल्पना करने से, सज्जनोचित व्यवहार का परि-
त्याग करने से, कल्याणोन्मुख न होनेसे स्वामीदयानन्द का बनाया हुआ

“ऋग्वेदादिभाष्यभूषिकाग्रन्थ” अथवा कल्याण चाहनेदालांको ओडदेनाचाहिये
श्रीर सत्य सनातन वैदिक धर्म ग्रहण करना चाहिये ॥ इतिशिवम् ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

वधेश्वरशुदि ए भादशर्चा शुक्रवासरे १९११ वि० ।

शुभमस्तु— कल्याणमस्तु ।



* सूचना *

संस्कारविधि समीक्षा

सब धर्मजिज्ञासु सज्जनोंको विदित होकि हमने स्वामि-
दयानन्द सरस्वती रचित "संस्कारविधि" ग्रन्थ की समा-
लोचना लिखवाना प्रारम्भ करवा दिया है। इस ग्रन्थ के लेखक
संस्कारों के बड़े मर्मज्ञ हैं। सनातनधर्मियों के लिये यह
ग्रन्थ भी अद्भुत होगा। इस ग्रन्थ (भूमिकाभास) के लिये
और "संस्कारविधिसमीक्षा" के लिये निम्नलिखित पते से
पत्रव्यवहार कीजिये।

राधाचरण शर्मा

सन्त्री-सनातनधर्म धौलपुर स्टेट

(राजपूताना)

मुस्तक मिलने का पता—

श्रीपं० धनश्याम जी संस्कृत प्रोफेसर बेलनगंज आगरासिटी

